— प्रासंगिक वक्तव्य —

अमरभारती के प्रांगण में संस्कृत-वाङ्मय का कल्पपादप स्वकीय सौरभातिशय से समस्त विश्वको जो जीवन सुधा प्रदान करता है, उसमें विकसित शु० पु० संस्कृत वाङ्मय एक विशिष्ट आमोदपूर्ण पुष्प-स्तवक है जो आज लगभग ५०० वर्षों से परम फल का उद्भावक माना जाने लगा है।

भारतीय संस्कृति के संरक्षक जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव और अवस्थिति (सं. १५३५-८७) उस विषम परिस्थिति में हुई थी—जब देश में परकीय राज्यक्रान्ति का बोलबाला था卐 भारतीय राष्ट्र का लोकजीवन सर्वतः पीड़ित, त्रासमय, अस्त-व्यस्त था, धर्मका शुद्ध स्वरूप तिरोहित-सा हो गया था, संस्कृति अनुदिन क्षीयमाण होकर मुमूर्षु होरही थी। वैदिकधर्म ने पाखण्ड का रूप धारण करलिया था और देश के शान्तिसुख-दायक पवित्र तीर्थस्थल, देवालय, धर्मपीठ सर्वतः नष्ट भ्रष्ट होगए थे। जनता का शासक राजन्यवर्ग पारस्परिक कलह, वैमनस्य, फूट एवं स्वार्थलोलुपता से क्षीणशक्ति होकर परचक्र के द्वारा विनष्ट किया जारहा था तो सन्मार्ग-प्रदर्शक सुधी-समाज उदरंभरी होकर अहंकारविमूढ केवल वादविवाद पंक में आकण्ठ डूब चुका था। भारतीय धर्म, संस्कृति, भाषा, वेश, आचार, विचार, समाज और जनता किस प्रलय में निशीर्ण हो जायगी ! कहा नहीं जासकता था। शास्त्रों का उच्छेद हो रहा था, ग्रन्थों के संग्रहालय भस्मसात् किये जारहे थे। कहने का तात्पर्य यह कि—भारत 'भारत' रहेगा या नहीं ! यह एक समस्या उठ खड़ी थी। विशेषकर विन्ध्यका उत्तरीय भाग तो जिस विनाश चक्र में फस गया था उससे उबारनेका सामर्थ्य केवल परमात्मा के हाथ की बात हो गई थी।

卐 सिकंदर लोदी, बाबर और हुमाऊं का राज्यकाल।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने तात्कालिक भारतीय दुर्दशाका सर्वांगीण वाङ्मय रेखाचित्र स्वरचित एक स्तोत्र मे जिस प्रकार खींचा है, वह पठनीय और मननीय है *

अध्ययन अनुशीलन से सिद्धान्त–निर्णय, सैद्धान्तिक निर्णय से साहित्य–(ग्रन्थ) निर्माण, ग्रन्थनिर्माण से प्रचार, प्रचार से सामाजिक जागरण और सामाजिक जागरण से संस्कृति की सुरक्षा होती है, जिसका फल सम्पन्न राष्ट्र की अभिव्यक्ति है। भारत इस तथ्य का सदा से प्रयोग करता आया है। महापुरुष जो–स्वकीय युग के ही नहीं परम्परा के भी उन्नायक होते हैं और जो–इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये अवतरित होते हैं–स्वकीय दिव्य चरित्र, आदर्श आचरण, उद्बोधक उपदेश एवं विलक्षण प्रभाव से समाज में एक नवीन प्रगति लाते और ईश्वरीय आदेश को पूर्ति करते हैं महाप्रभु श्रीवल्लभ ने भी इसी पद्धति का अनुगमन किया था। उन्होंने अपने जीवन–समय में राष्ट्र की बाह्य एवं आन्तरिक वास्तविक स्थिति के परिज्ञानार्थ समग्र भारतवर्ष की तीन बार (लगभग २५ वर्ष तक) परिक्रमाएं कीं, स्वकीय जीवन का आधे–से अधिक भाग उन्होंने इसी समाज–परिदर्शन और जनजीवन के जागरण में लगाया था। यह निश्चित है कि– वे देश–संस्कृति–धर्म और समाज की तात्कालिक स्थिति–अध्ययन के अनन्तर ही स्वकीय साहित्यिक (वाङ्मय) रचना में प्रवृत्त हुए थे और यही कारण है कि– वे शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों की दार्शनिक और

---

* उस के कुछ वाक्य इस प्रकार हैं –

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि
पाखण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥
म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥
गंगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेषु च
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अहंकारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

आदि। कृष्णाश्रय स्तोत्र।

व्यावहारिक प्रतिष्ठा तो कर सके, विशेष व्यापक साहित्य रचना का समय न पासके, यहां तक कि– दोतीन महत्वपूर्ण ग्रन्थों का व्याख्यान भी उनके द्वारा पूर्ण न किया जा सका। 卐

सं. १५८७ में अपना उत्तरदायित्व सुयोग्य आत्मजोंको संभलाकर वे ईश्वरीय आज्ञा का परिपालन कर, श्रनन्तचरणाम्भोजप्रसूता श्रीभागीरथी की धारा मे सदा-सर्वदा लोकपावन करते रहने के लिये ही अन्तर्लीन होगए। उनकी भव्य दिव्य शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय वाङ्मय–सुधा भारतीय संस्कृति के प्रवाह द्वारा जगत को श्रेय प्रेय का जीवन प्रदान करने में जागरूक और समर्थ हो गई।

भगवद्वदनानलावतार श्रीवल्लभ के अनन्तर उनके ज्येष्ठ आत्मज श्री गोपीनाथजी ने पुष्टिमार्ग का व्यावहारिक स्वरूप–संरक्षण किया और कुछ समय बाद (सं. १६०० के लगभग) उनके अनुज श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण ने इस कर्तव्य को अपना आदर्श बनाया।

राजनैतिक विषम उथलपुथल के समय में संस्थापित पुष्टिकल्पवृक्ष राजनैतिक शांतिमय अनुकूल वातावरण में श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण के निरीक्षण, संरक्षण, और आधिपत्य को पाकर पल्लवित कुसुमित हो गया। शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग, साहित्य संगीत कला और सर्वतः सुमुखी सांस्कृतिक कल्याणमयी प्रवृत्तियों से लहलहा उठा। उस समय इसे जो स्वरूपरक्षा प्रतिष्ठा और वैभव, वर्चस्व प्राप्त हुआ, वह इतिहास जीवन–चरित्र के आदर्शों में देखा जा सकता है।

तात्पर्य यह कि– श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण की विद्यमानता, आधिपत्य (सं. १५७२ – १६४२) में शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग की निरस्तसाम्यातिशय उन्नति हुई, वह विस्मरणीय नहीं है, इतिहास उसका साक्षी है।

श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण (श्रीगुसांईजी) ने शु० पुष्टिमार्ग की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये बड़ी दक्षता–कुशलता–से काम लिया था। लोकपोषक पावन सिद्धान्त दुग्ध श्रुतिधेनुओंसे अमरभारती के रूप में दुहकर उन्होंने जहां लबालब भक्ति दोहनी भरी, वहां उसे महानुभाव सूरदास आदि अष्टछापी कविभक्त और अनेक अनेक पद रचयिताओं की मधुर वाणी–सिता से भी सम्मिश्रित किया था और

卐 वेदसंहिता–व्याख्यान, उपनिषदर्थ–प्रतिष्ठापन। गीता–दर्शन आदि। सुबोधिनी, अणुभाष्य, पूर्वमीमांसाभाष्य आदि।

प्रभुश्री गोवर्द्धननाथ को समर्पित कर जनता को यथेच्छ पान के लिये सुलभ दिया था। उस समय से संस्कृत और व्रजभाषा तथा अन्य लोक-भाषाओं में साहित्यरचना का प्रवाह चला वह आजभी (५०० वर्ष तक) अक्षुण्ण है उसके आद्यन्त का दर्शन पालेना एक प्रकार से असंभव है। उसका प्र साहित्य-रस उपादेय अथच आस्वाद्य है।

इतिहास में यह अन्वेषणीय है कि– इस छोटी सी काल-अवधि में, कि एक ही धर्मानुयायी वर्ग द्वारा इतने विपुल साहित्य का सर्जन किया गया जो-समानान्तर में संस्कृत और व्रज (हिन्दी) दोनों भाषाओं के माध्यम - विद्वद्वर्ग और जनसमुदाय दोनों के लिये उपयोगी सिद्ध हो सके, उनको आनन्द विभोर कर सके।

प्रस्तुत विषय का जो इतिहास लिखा जारहा है卐 उसमें ग्रन्थ और ग्रन्थ कारों की एक लम्बी नामावली संकलित है। जिसमें भाषा-विभेद के कारण शु० पु० साहित्य दो विभागों में विभक्त कर दिया गया है (१) शु० पु० संस्कृत वाङ्मय (२) शु० पु० व्रजभाषा वाङ्मय।

द्वितीय विभाग–जो इस ग्रन्थ के प्रकाशनानन्तर मुद्रित होगा–के सम्बन्ध में कुछ न कहकर इस प्रासंगिक वक्तव्य का लक्ष्य शु० पु० संस्कृत वाङ्मय और उसका अभ्युदय है।

शु० पुष्टिमार्गीय सैद्धान्तिक ग्रन्थराशि और समहीत अन्य शास्त्रीय साहित्य का एक विपुल संग्रह उसके यत्रतत्र प्रतिष्ठित अधिष्ठानों में विद्यमान है जो- सुरक्षित-असुरक्षित मुद्रित-अमुद्रित विदित-अविदित विशीर्ण सभी परिस्थितियों में उपलब्ध हो रहा है।

प्रस्तुत लेखकने जिन २ स्थानों में उसका अवलोकन किया है, पाठकों की अभिज्ञा के लिये उसका संकेत कर देना अस्थाने न होगा :–

१ नाथद्वारा-गो. तिलकायित श्रीगोविन्दलालजी महाराजश्री का विद्यामन्दिर –विद्या–विभाग।

(सं १९८५ में निरीक्षित)

卐 इस लेखक द्वारा लिखित – १–' शु० पु० संस्कृत वाङ्मय ' (प्रकाशित प्रस्तुत प्र० खण्ड और प्रकाशन-सापेक्ष अग्रिम खण्ड।) २–' शु० पु० साहित्यकार-परिचय ', एवं ' शु० पु० साहित्य का इतिहास।

नाथद्वारा-गो. श्रीगिरिधरलालजी महाराज (द्वि. पीठ) का संग्रह।
(सं. १९८० में निरीक्षित)

कांकरोली-गो. श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (तृ. पीठ) का विद्या-विभाग सरस्वती-भंडार।

४ कोटा-गो. श्रीरणछोडलालजी महाराज (प्र. पीठ) का ग्रन्थालय
(सं. १९८४ में निरीक्षित)

५ कामवन-गो. श्रीगोविन्दलालजी महाराज (च. पीठ) का विद्या-विभाग।
(१९९० मे निरीक्षित)

६ काशी-गो. श्रीमुरलीधरलालजी महाराज का विद्याविभाग-संग्रहालय।
(सं १९८१ में निरीक्षित)

७ सूरत-गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (प. पीठ) का संग्रहालय
(सं. १९९५ में निरीक्षित)

८ अहमदाबाद-गो०श्रीव्रजरायजी महाराज का ग्रन्थालय। अधिकांश में कांकरोली विद्याविभाग को सुरक्षार्थ सं. २०१६ में समर्पित।
(सं० १९८२ तथा सं २०१५ में निरीक्षित) 卐

उक्त स्थानों में विशाल ग्रन्थ-संग्रह जिसमें सभी शास्त्रों का समावेश है विद्यमान है, और जो लगभग ४५० वर्ष की उत्कट साहित्य-सेवा का फल है। सौभाग्यतः यदि समग्र संग्रहालयों का केन्द्रीकरण किया जाय-जिस में कि न्यूनसे न्यून पचास हजार ग्रन्थों का संकलन हो सकता है, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी कि-एसा विशाल ग्रन्थ-संग्रहालय क्वचित हो होगा। राजनैतिक, सामाजिक नैतिक एवं आर्थिक क्रान्तियों के कारण क्षीणशक्ति होते रहनेपर भी अभिभावकों द्वारा इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता यह एक परिताप का विषय है। यदि इस कार्य को प्रामाणिक सार्वजनिक ढंग पर सुरक्षा और सदुपयोग के लिये सुव्यवस्थित किया जाय, तो यह अपनी उपमा आप होगा और इससे साहित्य संस्कृति एवं समाज की महती अभ्युन्नति होगी, इसमें सन्देह नहीं है। सं १९८० से लेकर स. २०१९ तक सतत परिश्रम के साथ अध्ययनद्वारा

卐 इस के अतिरिक्त-मुरलीधरपीठ गोंडल में भी शु० पु० ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है जो-प्रकाशित सूची से विज्ञात होता है।

मैने जिन अमूल्य निधियों का पता लगाया है, उनको आन्तरिक दशा का अवलोकन किया है उनका उपयोग भाग्य से ही किसी को अधिगत हो सकता है। इस साहित्यान्वेषण-काल में तीन चार स्थानों को छोडकर अवशिष्ट संग्रहालयों की जो दुर्दशा देखने में आई है, उसे न कहकर तद्विषक एक अभियुक्ति का स्मरण करादेना ही अधिक संगत होगा। वह है :-

" विद्वांसो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्। " अस्तु

संक्षेपतः-इस अमूल्य निधि का साहित्य जगत् को परिचय दियाजाय, इसकी सार्वत्रिक सुव्यवस्था और सुरक्षा का प्रयत्न किया जाय, अज्ञात अप्रकाशित ग्रन्थों के अध्ययन प्रकाशनअनुवाद की व्यवस्था की जाय और तदर्थ शु० पु० सम्प्रदाय के संचालकों, विद्वानों, श्रेष्ठियों एवं सर्वसाधारण वैष्णव धर्मानुयायियों का सामूहिक संगठित त्यागमय प्रयत्न हो तो-उससे साहित्य, कला, धर्म, संस्कृति, समाज आदि का वह प्रोज्वलरूप सामने आसकता है जो-आज ५०० वर्ष से शु० संप्रदाय में पनपरहा है।

आज से १० वर्ष पूर्व मेरे हृदय में जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य के द्वारा स्वरूप परिचायित इस साहित्य सुमन-समुदाय की वैजयन्ती गूथने का विचार हुआ और तदर्थ स्वकीय विगत ५० वर्षों के अध्ययन की विकसित अर्धविकसित सभी कलिकाएँ सचित की जाने लगीं। महाप्रभु की प्रेरणा से शुद्धाद्वैत पु० संप्रदाय के आन्तर और बाह्य स्वरूप-सौन्दर्य के परिचयार्थ निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना का संकल्प जागा-जो आज उन्मीलित एवं निमीलित दोनों स्थितियों में निम्नलिखित रूप मे विद्यमान है :—

(१) शु० पु० संस्कृत वाङ्मय-यावदुपलब्ध, विशाल ग्रन्थराशि का, सामूहिक परिचय, जिसमें विश्लेषणात्मक दृष्टि से क्रमिक विषयों का सर्वांगीय परिचय हो और जो-मौलिक आधार पर, बिखरे हुए साहित्य का अनुबन्धक हो। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी प्रकार का एक सुसज्जित प्रयास है।

इसमें सामुदायिक विश्लेषण इस प्रकार ग्रथित किया गया है जैसा कि-महाप्रभु श्रीवल्लभ ने स्वकीय साहित्य-राशि को विभाजित करते हुए कहा है :—

(क) वेदाः (वेद चतुष्टयी)
(ख) श्रीकृष्णवाक्यानि (भगवद्गीता)
(ग) व्यास सूत्राणि (उत्तर मीमांसा) चैवहि
(घ) समाधिभाषा व्यासस्य (श्रीभागवत) प्रमाणं तच्चतुष्टयम्
अविरुद्धं तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा। (शा० निबन्ध)

फलतः-शु० पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त-साहित्य प्रमाण-चतुष्टय के रूप मे उक्त प्रकार से और अनुबन्ध-चतुष्टय के रूप में निम्न प्रकार से वर्गीकृत होता है :-

(१) प्रमाण कोटि ग्रन्थ (प्रथम प्रकरण)
(२) प्रमेय कोटि ,, (द्वितीय प्रकरण)
(३) साधन कोटि ,, (तृतीय प्रकरण)
(४) फल कोटि ,, (चतुर्थ प्रकरण)

शुद्धाद्वैत पु० साहित्य का वर्गीकरण इसी दृष्टिबिन्दु में एक मौलिक उपक्रम है-तावता प्रस्तुत साहित्य, गंभीर अध्ययन और वैज्ञानिक विभाजक रेखा से पृथक् २ छाटा जा सकता है। जो पुष्टिमार्गीय साहित्य की सर्वांगीण पूर्णता है।

प्रथम प्रकरण में :- साहित्य के प्रमाण कोटि के ग्रन्थों और उनके साहित्यका स्वरूप-परिदर्शन है। ऐतिहाक्रम से रचनाओं में मूल संस्कृत तदनु व्याख्या टीका, टिप्पण एवं इतर भाषाओं के अनुवाद-साहित्य का संकलन है, जो उन उन का अंग माना जा सकता है, इसके अनन्तर उन शास्त्रों के साहित्य का वर्णन है जो प्रमाण-चतुष्टय का अविरोधी है और जो-प्रमेय साधन, फल किसी अनुबन्ध के अन्तर्गत नही आता।

द्वितीय प्रकरण में :- प्रमेय स्वरूप के प्रतिपादक ग्रन्थों और उनके उपजीवी साहित्य का संकलन किया गया है।

तृतीय प्रकरण में साधन विषयक ग्रन्थ-साहित्य का संकलन है। यद्यपि साधन एवं फल दो विभिन्न कोटियाँ हैं, पर मार्गीय सिद्धान्त-दृष्टि से निःसाधनता को महत्त्व देने के कारण साधन एवं फल में एक प्रकार से अभेद कहा गया है। तावता साधन अवस्था ही फल-पर्यवसायिनी है और फल-स्थिति ही साधनात्मिका है। प्रसंगोपात्त इसका विवेचन तत्प्रकरण में किया गया है।

इस ग्रन्थ के अनन्तर प्रस्तुत साहित्य-माला के निम्न भाग और भी उपस्थित किये जायगें जिनके अध्ययन, मनन से जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य की वेदान्त-दृष्टि, उसके सर्वभौम माहात्म्य, सर्वाङ्गीण परिचय और लोकोपकारिता के साथ उसका मौलिक ऐतिहासिक साक्षात्कार होगा।

(क) शु० पुष्टिमार्गीय साहित्य का इतिहास और साहित्यकार—जिसमें युगों के विभाजन के अनुसार साहित्यकारों का परिचय उनकी कृतियाँ, कृतियों का वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा साहित्य के इतिहास पर बाह्य आध्यात्मिक प्रकाश डाला गया है। 卐

(ख) शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय वेदान्त-दिग्दर्शन—आन्तर आध्यात्मिक परिचय।

(ग) शुद्धाद्वैत साम्प्रदायिक इतिहास—बाह्य भौतिक परिचय।

(घ) शुद्धाद्वैत पु० साम्प्रदायिक—सांस्कृतिक परिचय।

सम्प्रति तो भगवदिच्छानुसार प्रस्तुत ग्रन्थ का अवशिष्ट (२४१ से २५२ पत्रात्मक) अंश मुद्रित कराया जाकर सापेक्ष आवश्यक पूर्ति से इस प्रथम खण्ड को सम्पन्न कर प्रकाशित किया जारहा है—आशा है इतना ही अंश किसी एक आवश्यकता की तो पूर्ति करेगा ही और फलतः सुधी-समाज की सदाशा सम्वलित समुत्कण्ठा इसकी सम्पूर्ति तथा इतर सापेक्ष साहित्य के मुद्रण, प्रकाशन को प्रेरणा प्रदान करेगी।

कार्यबाहुल्य, एवं अन्य कई झंझटों के होते हुए भी पं० ओतीदासजी चेतनदासजी अध्यक्ष चेतन प्रकाशन मंदिर (प्रेस) बडोदा ने इस ग्रन्थ की प्रकाशन-पूर्ति में सह योग दिया है, तदर्थ वे स्मरणीय है। इतिशुभम्।

बडौदा
श्रीबैठक मन्दिर
स. २०२०

विधेय—
प्रो० कण्ठमणि शास्त्री
संचालक : विद्याविभाग, कांकरोली.

卐 यह ग्रन्थ सम्पादित होकर प्रकाशन की अपेक्षा रखता है।

विषय सूची

— प्रथम खण्ड [प्रमाण प्रकरण] —

द्वितीय प्रकरण [६८-८५]

तृतीय प्रकरण

चतुर्थ प्रकरण

— शुभम् —

शु० पु० संस्कृत वाङ्मय

प्रथम प्रकरण

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की प्रतिष्ठा—

वैदिक साहित्य से अनुप्राणित भारतीय धर्म, सदाचार संस्कृति के मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादक अमर-भारती के वाङ्मय विश्व में तात्विक चिन्तनात्मक रूप में 'शुद्धाद्वैत सिद्धान्त' और अनुष्ठानात्मक रूप में भक्तिमार्गान्तर्गत 'पुष्टिमार्ग' का सिद्धान्त अपना एक गौरव पूर्ण अधिष्ठान रखता है, जिसमें आसुरी वृत्तियों से बचकर दैवी सम्पत्ति के अनुगामी जीवों को स्व-स्वरूपज्ञान, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का अवबोध और अभ्युदय निःश्रेयस के साथ परमानन्दमय स्थिति-प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है।

दोष निरासक अथच गुणाधायक प्रस्तुत विशद सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य के ग्रन्थ-प्रणयन के साथ ही यह भारत की पुण्य भूमि में अवतरित होता है, और अपनी वृद्धिगत निर्मल धारा द्वारा प्रतिदिन लक्षावधि जीवों को आप्यायित करता है। त्रिविध तापसंतप्त मानव-जीवन के हृदय सरोरुहों को विकसित कर उन्हें चैतन्यमय बनाना ही इस ज्ञान-सहस्ररश्मि का प्रतिफल है, जो भारतीय पारंपरिक तत्त्वानुचिन्तन-प्रणाली और वस्तु के स्वरूप-परिष्कार का नवीनतम अनुष्ठान है।

ऐतिहासिक जगत् में महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के माध्यमिक शिक्षणकाल में ही इस आलोक की जगत्पावनी किरण का परिचय मिलने लगता है, जब वे अपने श्रद्धेय गुरुचरणों के समक्ष शास्त्रीय तत्त्वज्ञान की गम्भीर चर्चा में अपने सतीर्थ्य बन्धुओं को इस अपरिज्ञात वैदिक रहस्य के निर्देशन द्वारा निरुत्तर कर देते और गुरुवर्य को स्वकीय अलौकिक प्रतिभा से आश्चर्यचकित। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त-प्रतिपादन का यह

एक मौलिक युग था, जब श्रीवल्लभ ही उसके एक मात्र प्रतिपादक और अनुगामी थे। पारंपरिक धारणाओं, बौद्धिक संस्कारों एवं शास्त्रगुम्फित तर्कबहुल सिद्धान्त-चक्र से जब विरला ही कोई विद्वान् निकल कर उन्मुक्त ज्ञान-गगन में श्वास लेने की स्थिति में नहीं था, ब्रह्मवाद के स्थान पर उसे मायावाद का साँप सूंघ गया था, विद्वत्समाज में विशुद्ध दृष्टि से किसी अपर लक्षित सिद्धान्त रत्न की सच्चा स्वीकार करने वाला नहीं था, तब फिर ज्ञान पिपासु कोमलमति विद्याध्ययनपरायण छात्रों की क्या तो दूर सुतरां दूर ही थी ? जो अपनी अप्रस्फुटित प्रतिभा के कारण शुक्वत्पाठशील और एकमात्र गुरु के लालाटिक थे। विषम परिस्थिति में भी इस विज्ञान का प्रकाश कहाँ तक रुक सकता था ? श्रीवल्लभ के प्रामाणिक सारगर्भित युक्तियुक्त कर्म-ज्ञान-भक्ति के समन्वयात्मक सिद्धान्त प्रतिपादन शैली ने चमत्कार बतलाया और शनैः-शनैः छात्रों और उनके द्वारा विद्वत्समाज में यह चर्चा का विषय बना। चारों ओर वैदिक सिद्धान्त के रूप में अद्वैत के ऊपर शुद्धाद्वैत का प्रकाश छाने लगा। सर्वशास्त्रों की समन्वय-पद्धति ने विद्वत्समाज में आदर पाया और श्रीवल्लभाचार्य इस सिद्धान्त के प्रथम संस्थापक माने जाने लगे।

सामयिक परिपाटी और जैसा कि काशी सदृश विद्या-केन्द्रों में अद्यावधि प्रचलित है, छात्रों और पंडितों की मंडली में समय-समय पर शास्त्रार्थों में इसकी चर्चा होने लगी और कुछ समय बाद यही एक शास्त्रार्थ का मुख्य विषय बन गया। जहाँ-तहाँ शास्त्रार्थ प्रसंगों में पक्ष विपक्ष की साजसज्जा प्रस्तुत होने लगी जिसमें श्रीवल्लभ को ही प्रमुख भाग लेना पड़ता था। बाल्यावस्था में ही प्राप्त होने वाली इस अप्रतिम ख्याति और शास्त्रार्थ विजय ने एक बार ऐसा भी अवसर ला खड़ा किया जब श्रीलक्ष्मण भट्टजी ने अपने पुत्र श्रीवल्लभ को ऐसे प्रसंगों में भाग लेने से मना किया। समय निकलता गया, नवीन वेदान्त विचार की परिपाटी प्रसृत होती गई, अवरोध होने पर भी वाग्पति की सुर-सरस्वती अवरुद्ध न हो सकी, श्रीवल्लभ 'बालसरस्वती' के रूप में प्रख्यात होगये।

कौटुम्बिक परिस्थिति में पितृचरण के दिवगत हो जाने पर ग्यारह वर्ष की वय में जब श्रीवल्लभ देशकाल की जानकारी के लिये भारत-परिक्रमा करने लगे इस विद्वान...

किया। जनजीवन की वास्तविक दशा को जांचते हुए उसकी राजनैतिक कठिनाइयों में जीवन मरण के प्रश्न मे भारतीय सांस्कृतिक-रक्षा के लिये उस समय जो भी प्रयत्न हुए, उन सब में भक्तिमार्ग का प्रकाश ही अमृत-सिंचन था, और जिसमें श्रीवल्लभाचार्य के अनुग्रह मार्ग ने दिव्य शक्ति का दर्शन कराकर आत्मविश्वास उत्पन्न करने में कोई कसर उठा नहीं रक्खी थी। तात्कालिक देशकाल की संहारक स्थिति का अनुभव आज के जीवन में असंभव है, उसकी झांकी तो उन थोड़े से वाक्यों से हो सकती है जो-आचार्यों ने प्रसंगोपात अपने ग्रन्थों में टांके हैं। भारतीय जीवन के परिज्ञान और संरक्षण के लिये श्रीवल्लभाचार्य ने आसेतु-हिमाचल भारत की तीन बार पैदल यात्रा कर जो आदर्श स्थापित किया वह अन्य किसी आचार्य के जीवन में देखने को नहीं मिलता। शुद्धाद्वैत साहित्य मे इसे 'पृथ्वी-परिक्रमा' के नाम से कहा जाता है जो-बहुत कुछ सार्थक है। यह निःसन्देह है कि-इस भूमंडल में भारत-आर्यावर्त-की गणना कुछ विलक्षण रूप मे ही है, जिस पर प्रकाश डालना यहाँ अस्थाने है।

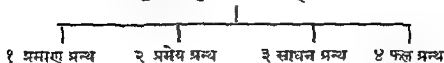
इसी भारत-तीर्थीकरण के प्रसंग में अन्तर्देशीय व्यापक रूप मे श्रीवल्लभाचार्य के विशुद्ध वाङ्मय या दर्शनसौभाग्य आर्यजगत् को तब होता है जब ये नृपति-सार्वभौम महाराज कृष्णदेव की आयोजित अखिलभारतीय विद्वत्सभा में वैष्णव-सिद्धान्त की विजय वैजयन्ती फहराते और यावन्मात्र विद्वानों से मान्य होकर कनकाभिषेक से अभिषिक्त 'अखिल-भूमंडलाचार्यवर्य जगद्गुरु' के आसन पर विराजमान किये जाते हैं। इस विशाल शास्त्रीय दग्विजय और अनुपम श्रीविभूषित सन्मान ने अग्रिम परंपरा के लिये शुद्धाद्वैत वाङ्मय का वह अविचल रूप स्थापित कर दिया जो—'न भूतो न भविष्यति' के उदाहरण में लोकजीवन-जीवातु का स्पष्ट दिग्दर्शक है, जो-भारतीय विचार-धारा का एक नया परिष्कार अथच आविष्कार है। इस महान् आयोजन के बाद और समा-नान्तर में आचार्यों द्वारा वह वाङ्मय विश्वविदित होने के साथ ही मूर्त रूप धारण करता गया, जो आज ग्रन्थ-रचना के रूप मे हमारे सामने विद्यमान है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से कहा जाय ? तो यह स्वीकार करने में कुछ विसंवाद नहीं है कि-यह शुद्ध अद्वैतवाद आज का नहीं बहुत पुराना

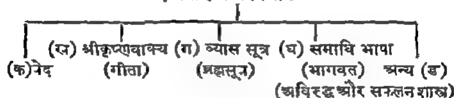
और उतना ही पुराना है जितना कि—वेद । आद्यगुरु श्रीशंकराचार्य ने केवलाद्वैत रूप में इस ब्रह्मवाद को स्वीकार करते हुए भी तत्सामयिक बौद्ध-वाद की लपेट से सुरक्षित रखने के लिये इसके आसपास एक ऐसा आलवाल खड़ा किया था जो-आवश्यक होने पर भी भ्रमोत्पादक था । लौकिक-पारलौकिक दोनों सत्ताओं को तिरस्कृत कर शून्यवाद की प्रतिष्ठा करने वाले प्रबल बौद्ध-सिद्धान्त के सामने जन-मानस में वैदिक सन्मान उत्पन्न कर देना बड़ा कठिन था। फलतः उन्होंने बौद्धवाद से मिलते-जुलते और उससे स्वतन्त्र-विपरीत भी कुछ ऐसे सिद्धान्त की स्थापना की जो-अपना काम कर गया और आर्यजगत् वेद-ज्ञान के प्रति पुनः श्रद्धावान् हो सका। श्रीशंकर ने सच्चिदानन्द परमात्मा की स्थिति में सत् की लौकिक सत्ता का अपलाप करते हुए चित् और आनन्द की एकरूपता द्वारा पारलौकिक सत्ता की प्रतिष्ठा की। भागवत वैदिक सिद्धान्त "सर्वं ब्रह्मैवेदं" को स्वीकार करने के पहिले उन्होंने "आत्मैवेदं" को अपनाया, और 'आत्म' शब्द के अर्थ में जीव और ब्रह्म दोनों की प्रत्यक्ष परोक्ष सत्ता का घूंट भारतीय जनता के गले नीचे उतारा। इस कड़वी-मीठी दवा ने सिद्धान्ततः स्वस्थ होकर विशुद्ध विचार की परिपाटी को जन्म दिया, भारतीय चिन्तना में वैदिक साहित्य पर पुनः विचार की आस्था पनपी। श्रीरामानुज,श्रीमध्व आदि आचार्यों ने अपने अपने दृष्टिकोण से वैदिक साहित्य का अनुचिन्तन किया और भारतीय विचार-धारा में नये-नये तत्वों का समावेश प्रारंभ हुआ। पन्द्रहवीं शती तक वेदान्त के विचार-स्रोत से छोटी-बड़ी कुल्या, सरितायें निकलकर देश को आर्द्र बनाती रहीं, पर इसका मौलिक अजस्र प्रवाह तबतक अवतरित नहीं हुआ जबतक श्रीवल्लभ के प्रचार ने उसके मार्ग को अवरोधहीन नहीं बना दिया। उनके भगीरथ-प्रयत्न ने वैदिक सिद्धान्त की अतुल पावन सलिल राशि से जगत् को आप्यायित कर दिया।

श्रीवल्लभाचार्य चरण द्वारा सिंचित यह सिद्धान्त-कल्पपादप आगे चलकर अनेक शाखा, प्रशाखों, पत्रों, कुसुमों और फलों से विस्तृत हुआ, जिसे हम वैज्ञानिक दृष्टि से निम्न विभागों में विभाजित कर सकते हैं—

शु० पु० वाङ्मय का वर्गीकरण—



इस प्रकार मुख्य विभागों के अनन्तर प्रमाणग्रन्थात्मक वाङ्मय निम्न रूप में विभक्त होता है जिसमें प्रस्थान चतुष्टयात्मक भाग विशेष और अविरुद्ध-संकलनात्मक भाग गौण है।



क—वेद चतुष्टय—संहिता तथा मन्त्र-भाग, उपनिषद्-विवरण-ग्रन्थ, संस्कृत टीका तथा भाषानुवाद।

ख—श्रीकृष्ण वाक्य—(गीता) विवरण ग्रन्थ, संस्कृत तथा भाषानुवाद

ग—व्यास सूत्र, (ब्रह्मसूत्र), उत्तर मीमांसा-विवरण ग्रन्थ, संस्कृत तथा भाषानुवाद।

घ—समाधिभाषा (भागवत)—विवरण ग्रन्थ, संस्कृत तथा भाषानुवाद।

ङ—अन्य—अविरुद्ध शास्त्र, सकलनात्मक विवरण संस्कृत तथा भाषा ग्रन्थ।

सम्प्रति इस प्रथम प्रकरण में प्रमाण ग्रन्थों का १—स्वरूप २—मान्यता और ३—उसका साहित्यिक परिचय, सम्मुख रखा जा रहा है। द्वितीय में प्रमेय ग्रन्थ, तृतीय में साधन ग्रन्थ और चतुर्थ में फल ग्रन्थों पर शब्द-विस्तार किया जायगा।

शु० पु० वाङ्मय में प्रमाण विषयक तत्वज्ञान पर क्या विचार-धारा है? अन्य सिद्धान्तों के साथ उसका कहाँ तक संवाद और विसंवाद है?

किस-किस ने कितने प्रमाणों को अंगीकार किया है ? आदि विषयों पर प्रस्तुत ग्रन्थ के सिद्धान्त-खंड में कहा जायगा। प्रसंगोपात यहां प्रस्थान-चतुष्टय पर उसका दृष्टिकोण सामने रख देना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।[1]

प्रमाण-चतुष्टय और उसका साहित्य—

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की आधार भूमि प्रमाण-चतुष्टय पर स्थिर है। यह वाङ्मय आधार युगायुगान्तर से अविनाश्य और अविकम्प्य रहा आया है। श्रीवल्लभाचार्य ने भारतीय संस्कृति के आद्य प्रवर्तक वेद वेदान्त तथा तदर्थ-प्रतिपादक अन्य गंभीर साहित्य को प्रमाण-कोटि में स्वीकार कर शास्त्रों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है, जो एक अनुपम प्रयत्न है। इस प्रकार का प्रयत्न इसके पहिले अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। यों तो वैदिक सिद्धान्त के समर्थक या प्रतिपादक सभी आचार्यों ने आप्तवाक्य रूप वेद, गीता और ब्रह्मसूत्र को प्रमाण मान कर अपने अर्थ का प्रतिपादन किया है, पर उनमें सिद्धान्त की स्थापना प्रथम और उसको प्रमाणित करने की भावना बाद में दृष्टिगोचर होती है। यह कहना पड़ेगा कि-श्रीवल्लभ के सिवा सभी आचार्यों ने निगम कल्पतरु के फल स्वरूप भागवत की सिद्धान्त-स्थापना में उपेक्षा-सी कर दी है, उसे वे स्वीकार करते हुए भी वेद के समकक्ष आसन पर आसीन नहीं कर सके, और न उन्होंने किसी उलझी हुई गुत्थी को सुलझाने में भागवत का उपयोग ही किया है। श्रीवल्लभाचार्य ने भागवत को भी वही महत्व प्रदान किया जो वेद, गीता और ब्रह्मसूत्रों को प्राप्त था। बादरायण महर्षि व्यास ने यदि वेदों का व्यास किया था ? उन्होंने महाभारत में यदि श्रीभगवान् की अमृत वाणी गीता का ग्रथन किया था ? और जैमिनि का पूर्वमीमांसा के संशोधन रूप यदि उत्तर मीमांसा का प्रणयन किया था ? तो क्या कारण है ? कि-उनके द्वारा ही समाधि में अनुभूत

---

१ गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम जी ने स्वकीय 'प्रस्थानरत्नाकर' ग्रन्थ में इसका सांगोपांग निरूपण किया है जो-गंभीररहस्य-वेदियों के लिये अध्ययन की वस्तु है। इसी प्रकार के और कुछ ग्रंथों के मतानुसार यहाँ इसका विवरण दिया जा रहा है।

भागवत को छोड़ दिया जाय? जब कि उसमें यत्र-तत्र सर्वत्र वैदिक रहस्य ही भरा हुआ है, पद-पद पर उत्तमश्लोक परब्रह्म का यशोगान किया गया है।

श्रीवल्लभाचार्य ने भारतीय प्रमाण-परिशीलन की इस त्रुटि को दूर किया और नवीन दृष्टिकोण से भागवत को प्रमाण-कोटि में ला बैठाया। आपने वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र इन तीन, शब्द-प्रमाण भूत ग्रन्थों के साथ भागवत को चौथा प्रमाण ग्रन्थ माना, और किसी भी सिद्धान्त को स्थिर करने के पूर्व उसे चारों प्रमाणों की एक वाक्यता से परखा। प्रमाण-चतुष्टय की पद्धति में उन्होंने उत्तरोत्तर को पूर्व-पूर्व-सन्देह-वारक माना। वेद में सहसा बुद्धिमान्द्य से होने वाले सन्देह के निरसनार्थ श्री गीता, गीता के सन्देह-अपाकरणार्थ ब्रह्मसूत्र, ब्रह्मसूत्र में उत्थित सन्देह की निवृत्ति या स्पष्टीकरण के लिये श्रीभागवत को प्रमाण माना और कहा कि:— जैसा भागवत निगम का सार है, उसी प्रकार वह निःशेष संशयों का निरासक है, और उसकी रचना ही एतदर्थ हुई है।

(१) वेद

स्वरूप परिचय—

साधारणतया 'वेद' शब्द का अर्थ ज्ञान है। यह 'वेद' शब्द विद् धातु से बना है[१] वेद को निगम भी कहते है, जिसका तात्पर्य:— "नितरां गमयति ब्रह्म बोधयति इति परमोपनिषन्निगमः"[२]—ऐसा होता है

छन्दों और चरणों से युक्त मन्त्र को 'ऋक्' कहते हैं, इसका दूसरा पर्याय 'ऋचा' भी है। गुप्तार्थ का अभिव्यंजक 'मन्त्र' कहलाता है। देव-स्तुति अथवा तत्सम्बन्धी किसी अनुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले अर्थ का स्मरण कराने वाले वाक्य को भी 'मन्त्र' कहते हैं। इस प्रकार वेद में ऋचा अथवा मन्त्रों द्वारा अनन्त गंभीर लौकिक अलौकिक सभी विषयों का वर्णन है, जिनमें अनन्त ज्ञानराशि भरी हुई है।

---

१. वेद के सम्बन्ध मे कहा है—रूपाणामवलोके चक्षुरिवान्यत्र कारणं दृष्टम्। तद्वददृष्टावगतौ वेद वदन्यो न वेदको-हेतुः। (शब्दार्थ चि०)

२. [भा० प्र० १,१ सुबो०]

वेद चार हैं जो—'वेद चतुष्टयी' इस नाम से अभिहित होते हैं। मन्त्रों के संग्रह का नाम 'संहिता' है। चारों वेदों की अनन्त शाखाएँ हैं, जिनकी गणना ११३१ है। भाष्य मे ११३० शाखाओं का उल्लेख है। यह सब चार भागों में विभक्त हैं। जिन्हें 'संहिता' कहा जाता है।[1]

१. ऋग्वेद—(वह्वृच संहिता) पुराणों के अनुसार इसकी २१ शाखाएँ हैं, जिनमे सम्प्रति एक मात्र शाकल-शाखा उपलब्ध है, जिसपर सायण भाष्य है।
इसके दो प्रकार से विभाग हैं।
(क) मंडल अनुवाक और वर्ग।
(ख) अष्टक अध्याय और सूक्त।

२ यजुर्वेद—(निगद संहिता) 'यजु' शब्द का अर्थ पूजा और स्तुति है। कहीं कहीं गद्य को भी 'यजु' कहा जाता है। ऋग्वेद का 'होता' मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ देवों का आह्वान करता है, और यजुर्वेद का 'अध्वर्यु' याग का विधिवत् संपादन करता है, अत इसमें कर्म का प्राधान्य है, इसके अध्यायों में यज्ञ क्रियाओं के मन्त्र और विधियों का संग्रह है।

यह कृष्ण और शुक्ल इन दो भागों में विभक्त है।

पुराणों के अनुसार कृष्ण यजु की ११ शाखाओं के नाम मिलते हैं, जिनमें १ तैत्तिरीय, २ मैत्रायणी, ३ कठ—यह मुद्रित हो चुकी हैं। चरक संहिता का प्रचार पतंजलि के समय था, पर अब बाकी की सभी अप्राप्त हैं। शुक्ल यजु की १७ शाखाओं में माध्यंदिनी या वाजसनेयी तथा काण्व यही दो शाखाएँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार यजु की १०६ शाखाओं में केवल पाँच शाखाएँ उपलब्ध हैं। तैत्तिरीय संहिता को तैलंग द्रविड देश में 'आपस्तम्ब' शाखा भी कहा जाता है, यह शाखा शु० पु० के संचालक श्रीवल्लभाचार्य की पारंपरिक शाखा है। तैत्तिरीय संहिता पर सायण, बालकृष्णदीक्षित और भट्टभास्कर कृत भाष्य मिलते हैं। 'माध्यंदिनी' शाखा पर उव्वट और महीधर दोनों के भाष्य हैं। माधव, अनन्त देव और आनन्द भट्ट ने भी इस पर भाष्य प्रणयन किया है।

---

१ भाग० द्वा० ६।५०-५३।

३. सामवेद—(छन्दोग संहिता) 'साम' शब्द का अर्थ प्रिय किंवा प्रीतिकर वचन है। गायन को भी साम कहते हैं। संगीत द्वारा देवों को प्रसन्न करने वाले को 'उद्गाता' कहते हैं।

शास्त्रों के कथनानुसार साम की १००० शाखा हैं, पर सम्प्रति ८ ही के नाम मिलते हैं। आठवीं राणायणीय शाखा के विष्णु पुराण के अनुसार नौ भाग हैं। सत्यव्रत सामश्रमी ने सामवेद साहित्य पर अच्छा परिश्रम किया था। राणायणीय के विभाग में कौथुमी पर सायण-भाष्य है। जैमिनीय शाखा भी छप चुकी है।

४. अथर्व वेद—(आंगिरसी संहिता) अंगिरा ऋषि के वंशज अथर्वाऋषि के द्वारा आविष्कृत होने से इसे 'अथर्व वेद' कहते हैं। ऋषि आंगिरस गोत्री थे, अतः इसकी संज्ञा अथर्वांगिरस वेद भी है।

शास्त्रों के अनुसार इसकी ९ शाखाएँ हैं जिनमें 'शौनक' और 'पैप्पलाद' यही दो उपलब्ध हैं। अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा काश्मीर में शारदा लिपि में प्राप्त हुई थी जो जर्मनी में छपी*।

शाखाविभाग—

जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है वेदों की ११३१ शाखा थी, परन्तु अब उनमें से बहुत-सी लुप्त हो चुकी हैं। श्रीवल्लभाचार्य ने एक स्थान पर लिखा है कि सम्प्रति वेद की ११ शाखाएँ प्रचलित हैं। (शा० नि० प्रकाश कारिका ८२), उनकी 'प्रकाश' टीका के 'आवरण-भङ्ग' नामक व्याख्यान में श्रीपुरुषोत्तम जी इनका उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

(१) यजु की:—१–तैत्तिरीय, २–काण्वी, ३–माध्यन्दिनी, ४–मैत्रायणी ५–मानवी।

(२) ऋक् की—६ शांखायनी ७ आश्वलायनी।

(३) साम की—८ कौथुमी ९ राणायणीय।

---

* वैदिक साहित्य के आधार पर

(४) अथर्व की १० शौनकी ११ पैप्पलादी। यह एकादश है। तैत्तरीय को ही हिरण्यकेशी शाखा कहते हैं।

एक ही वेद ऋक् यजु, साम और अथर्व इन चार नामों से चार संहिता के रूप में विभाजित किया गया है। ऋक् के द्वारा होता, यजु के द्वारा अध्वर्यु, साम के द्वारा उद्गाता और अथर्व के द्वारा ब्रह्मा यज्ञानुष्ठान तत्पर होते हैं। अतः यज्ञ के स्वरूप में इनके चार भेद हैं। इस वेद प्रतिपादित धर्म की जिज्ञासा पूर्ति इतिहास पुराण नामक पाँचवे वेद से होती है। अतः विशेषतया पाँच वेद माने जाते हैं। ‡ [भाग० प्र० ४, २१, २२ श्लोक सुबो०]

महर्षि वेद व्यास ने कलिकाल के जीवों को मन्द प्रज्ञ देख कर वेद का चतुर्धा व्यास किया और अपने शिष्यों को इनका अध्ययन कराया। ऋग्वेद के पैल ऋषि यजु के वैशंपायन, साम के जैमिनि और अथर्व के सुमन्तु नामक ऋषि थे। इनमें सुमन्तु दारुण कठोर थे, अतः इनकी अभिचार की ओर अधिक प्रवृत्ति थी और यही कारण था कि अथर्व में कुछ आभिचारिक प्रयोग मिलते हैं। वेद सभी प्रकार के जीवों के मनोरथ साधक गिने जाते हैं, अतः तामसी जीवों के लिये उनके अनुरूप उसमें ऐसे प्रयोगों का होना भी संगत है। चारों वेद धारणा सामर्थ्य के अभाव में शिष्य प्रशिष्य और तच्छिष्यों के द्वारा अनेक रूप धारण कर स्वल्प रूप में विभाजित होते गए जिन्हें शाखा रूप में कहा जाता है † अल्प मेधावी पुरुष भी इन्हें धारण कर सकें तदर्थ कृपण वत्सल भगवान् वेद व्यास ने शाखा रूप में इनका विभाग किया है। *

वेद-प्रतिपाद्य—

प्रमाण मूर्धन्य वेद के द्वारा प्रमेय स्वरूप ईश्वर का परिज्ञान होता है। यह परम तत्त्व वेदान्त में 'ब्रह्म', स्मृति में परमात्मा और भागवत में

‡ चारों वेदों के सम्बन्ध में संहिता, भाष्य, आरण्यक, ब्राह्मण आदि कौन कौन ग्रन्थ कहाँ कहाँ छपे हैं और उनका मूल्य क्या है, यह सब परिचय प० रामगोविन्द जी रचित 'वैदिक साहित्य' नामक ग्रन्थ से विदित हो सकता है।

† भाग० द्वा० ६।१४ से ८० तथा ७ अ० १ से ४।

* भाग० प्र० ४, २१, २२ श्लो० सु०।

'भगवान्' शब्द से अभिहित होता है। अतः इस ब्रह्मलिंग प्रमेय का ज्ञान वेद प्रमाण से होता है। यद्यपि शु० सं० की सिद्धान्त दृष्टि से जैसा कि गीता में भी कहा गया है—भगवान् श्री हरि प्रमाणादि से परिज्ञात नहीं हो सकते, वे अपनी इच्छा और कृपा से ही ज्ञानगम्य और किसी रूप में साक्षात् आविर्भूत होते हैं, तथापि श्री वल्लभाचार्य के वचनानुसार तप और वेद बोधित युक्ति से ही परमात्म विषयक विद्या समधिगत होती है। अतः वेदाध्ययन-परिशीलन से परम्परया परमात्मज्ञान में सहायता मिलती है इसे अपलापित नहीं किया जा सकता। वेद, स्वकीय साधन और स्वकीयार्थ प्रतिपादक—व्यास प्रणीत महाभारत में मथित भगवद् गीता तथा ब्रह्म सूत्र और समाधि-भाषा (भागवत) के द्वारा निःसन्दिग्ध तत्वज्ञान से जीवों को श्रेय प्राप्ति कराते हैं, यह निर्विवाद है।

श्रीवल्लभाचार्य के अतिरिक्त सभी आचार्य प्रस्थानत्रयी (वेद, गीता, ब्रह्म सूत्र इन्हीं तीन) को प्रमाण मानते हैं, पर आचार्य के सिद्धान्त में व्यास की समाधि भाषा (भागवत) एक और चौथा प्रमाण है। वास्तव में भागवत के बिना तीनों के रहस्य का विशदीकरण भी नहीं होता।

इस सिद्धान्त की प्रमाण-कोटि में श्रुति और सूत्र की एक कोटि है, गीता और भागवत की दूसरी*। इन दोनों के प्रतिपाद्य प्रमेय में कोई भेद नहीं है। श्रुति में परमात्मा का रूप "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः" के अनुसार ज्ञान और क्रिया दोनों से युक्त कहा गया है। इसीलिये दोनों से युक्त ब्रह्म का निरूपण करना सभी प्रमाण ग्रन्थों का लक्ष्य है। वेद के पूर्वकाण्ड में केवल क्रिया (यज्ञ रूप) का और उत्तर काण्ड में ज्ञानस्वरूप का प्रतिपादन है तो व्यास-सूत्र वेद के संशयों का निराकरण कर ब्रह्म सम्बन्धिनी जिज्ञासा की पूर्ति करते हैं। इसलिये दोनों एक कोटि के हैं। इधर क्रियाज्ञानशक्ति उभय रूप में हमें साकार परमात्मा का परिदर्शन गीता और भागवत में होता है, ज्ञान स्वरूप से गीता परमात्मा का जो साक्षात् कराती है उसका तो कोई उदाहरण है ही नहीं, इधर क्रिया (चरित्र) रूप में उनकी विविध लीलाओं का जो

* शास्त्र यं त० नि० कारिका

परिदर्शन भागवत में होता है वह बेजोड़ है। अतः यह दोनों एक कोटि के हैं। वेद में खंडश: और भागवत में पूर्णत: परब्रह्म का निरूपण हुआ है।

इसे श्रीवल्लभाचार्य ने यों कथन किया है:—

'यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाडे ब्रह्मतनुः परे,
अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्यते।'' (निबन्ध शा०प्र०)

वेद के ब्रह्मकाड (उत्तर काड) में ज्ञानसिद्धि के लिये उपासना का निरूपण आवश्यक समझा गया है, अत. अग्नि, सूर्य, इन्द्र. वरुण, मरुत आदि देवों की उपासना का वहाँ वर्णन मिलता है। पर यह परम रहस्य है कि ये सब परमात्मा के ही अङ्ग हैं। अङ्गी परमात्मा है। व्यास सूत्रों में यद्यपि यह स्पष्ट है कि परमात्मा ही इस सृष्टि का कर्ता, पालयिता और संहर्ता है, तथापि यह वहाँ स्पष्टत. प्रतिपादित है कि ऐसे सभी शब्द किम्वा नाम जिनसे प्रथक् सत्ता का अवमान होता है, वे सब परमात्मा के ही वाचक हैं। उन-उन देवों में और परमात्मा में अङ्गाङ्गी भाव है, व्यष्टिरूप देव और उनकी उपासना साधन रूपा है, और अङ्गी समष्टि ब्रह्म की उपासना फल रूपा है। यही दोनों की एक वाक्यता है और इसी आधार पर प्रमाण चतुष्टय द्वारा प्रमेय का परिज्ञान होना चाहिये।

वेद के पूर्व काण्ड का एक अन्य अर्थ 'ऋत' है, जिसे अनुष्ठीयमान धर्म कहा जाता है। यह धर्म प्रवृत्ति स्वभाव (प्रमाण बल) का पोषक है। उत्तरकाण्ड का अर्थ 'सत्य' है जिसे प्रमीयमाण धर्म कहा जाता है, जो निवृत्ति के लिये प्रमाण बल का पोषक है और ज्ञानरूप है। [भाग० प्र० १०, २६ श्लोक सुबो०]

आर्यधर्मानुसार मानव जीवन चार आश्रमों में विभक्त है। अतः वेद चारों आश्रमों को अधिकारानुसार शिक्षा प्रदान करता है जो इस प्रकार है:—

क—प्रवृत्ति मार्ग प्रतिपादक १—ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन और अर्थावबोध रूप से।
२—गृहस्थाश्रम में धर्मानुष्ठान रूप से

ग—निवृत्ति मार्ग प्रतिपादक   ३—वानप्रस्थाश्रम में तप स्थिति और ब्रह्म जिज्ञासा की पूरस्ता से।
४—सन्यासाश्रम में ब्रह्मज्ञान ब्रह्मभूय स्थिति से।

वेद के अनुसार चारों आश्रमों में देत्यांश जीवों के द्वारा भी धर्मानुष्ठान, यज्ञयागादि विधान सम्भव है, एतदर्थ उनके द्वारा लोककल्याण में बाधा न आने और उसका दुरुपयोग न हो तदर्थ सत्त्वमूर्ति रूप से प्रकट होकर भगवान् सात्विकों को ही उस धर्म में प्रेरित करते हैं और राजस तामस जीवों को उससे निवृत्त करते हैं। यदि ऐसा न होता तो सभी जीव वैदिक साधनों की ओर ही प्रयत्नशील दीखते, पर ऐसा नहीं है। परिपाल्यमान होने पर भी समस्त वैदिक धर्म जगत में प्रवृत्त होते हैं। अनधिकारी जीवोंको वैदिक धर्म से विमुख करने के लिये परमात्मा ऐसा अवतार धारण करते हैं जहाँ वे स्वयं वेद के विरुद्ध आचरण कर वैसा ही उपदेश देते हैं। जैसे बुद्धावतार आदि। राजस, तामस भ्रातजीव उनके रहस्यार्थ को न समझ कर आपातत रमणीय असच्छास्त्रों के वाग्जाल में फँस जाते हैं और वैदिक धर्म से सदा विमुख बने रहते हैं। [भाग० द० २ ३४ श्लोक सुबो०]

वेद के यज्ञात्मक पूर्व काण्ड में दो प्रकार के कर्मों का निरूपण है। १—नित्य कर्म, २—काम्य कर्म। नित्य कर्म का फल नित्य और काम्य कर्म का फल विकृत होता है। जिसे धन, पशु, पुत्र आदि के रूप में वर्णन किया जाता है। काम्य कर्म के फलों का उल्लेख वेद में नित्य कर्म की प्रसिद्धि के लिये किया गया है, उसका एकान्ततः अभिप्राय लौकिक-फल सिद्धि नहीं है। काम्य कर्म का फल-निरूपण नित्य कर्म का अङ्ग है क्योंकि पशु पुत्र आदि लौकिक फलों के बिना नित्य कर्म का आचरण अधिक कठिन हो जाता है। काम्य फल का प्रतिपादन वेद का मुख्य प्रयोजन नहीं है, किसी भी प्रकार से नित्य कर्म की सिद्धि करना ही वेद का परम प्रयोजन है।

साराशतः वेद में साधन और फल दोनों रूप से श्रीहरि का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि वे ही पुरुषार्थ रूप हैं और स्वकीय यज्ञादि कर्म द्वारा अभिव्यक्त होकर जीवों का श्रेय साधन करते हैं।

रूप प्रपञ्च में जो जीव भगवदतिरिक्त बुद्धि से आसक्त हो जाते हैं उन्हें माया (अहंताममतात्मक) बंधन से छुड़ाने के लिये ही प्रभु ने अनुग्रह कर वेद का आविष्कार किया है। प्राकृतिक गुणों के अनुसार देव, मानव और दानव नाम त्रिविध जीव पैदा हुए हैं। वे सभी स्व-स्व गुण भेदानुसार वैदिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रकृति वैचित्र्य से वेदार्थ भी उनके समक्ष भिन्न भिन्न हो जाता है और इसी लिये अनेकवाद प्रचलित होते जाते हैं जो 'वेद-वाद' कहलाते हैं। गीता में "वेद-वाद रता." इस विशेषण से ऐसे लोगों का ही स्मरण किया गया है। अत विशेषतया वेद का रहस्य समझने के लिये व्याससूत्र, गीता और भागवत का सहारा लेना चाहिए, उन्हीं की एकवाक्यता से उसका निष्कर्ष जानना चाहिए। [सर्व नि० निबन्ध कारिका ११ से १२]

वेद जिसे निगम और अन्य तदविरोधी शास्त्र जिन्हें आगम कहते हैं—परमात्मा का ही निरूपण करते हैं। वह परमात्मा गुणातीत और सगुण दोनों रूपों से सर्वत्र विद्यमान है। अत गुणातीत स्वरूप से वेद में और सगुण स्वरूप से भागवतादि शास्त्रों में उसका निरूपण है। [भाग० नि० द्वि० स्क० कारिका]

पूर्व मीमासा (जैमिनि सूत्र) पर रचित कारिकाओं में श्रीवल्लभाचार्य ने 'वेद प्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय ' और 'वेदोऽखिलो धर्म मूलम्' आदि श्रुति वचनों के आधार पर सिद्ध किया है कि-धर्म वही है जो वेद प्रतिपादित है, वेद विरुद्ध अधर्म है, वेद ही धर्म का वास्तविक आधार है, अत वेदार्थ ही धर्म स्वरूप है, और इसी लिये महर्षि जैमिनि ने व्याससूत्रों की रचना के पूर्व 'अथातो धर्म जिज्ञासा' आदि सूत्रों के द्वारा उसका सम्यक् विवेचन किया है। यद्यपि व्यास से कहीं कहीं उनका मत नहीं मिलता है और भगवान् वेदव्यास ने भी उनके मत का उल्लेख किया है तथापि जैमिनी के द्वारा वेद के पूर्व काण्डार्थ का और व्यास के द्वारा उसके उत्तर काण्ड का श्रुतिरहस्य मीमासित हुआ है, और इसी लिये मीमासारूप में दोनों का आख्यान होता है, पूर्व और उत्तर उसके दो विभाग हो जाते हैं। [पूर्व मीमासा कारिका २२, २४]

वेद के सम्बन्ध में कई विद्वान् शब्दों की प्रवर्तकता को स्वीकार

करते हैं। वे कहते हैं कि विधिवाक्यों के द्वारा ही अधिकारी को धर्म करने की प्रवृत्ति होती है, अतः वेद विधि वाक्य और तदनन्तर्गत शब्द ही प्रवर्तक माने जाने चाहिये। पर श्री वल्लभाचार्य का मत है कि ब्रह्मवाद को छोड कर शेष सभी स्थानों पर शब्द के श्रवणानन्तर होने वाली प्रवृत्ति में शब्द को कारणता प्राप्त होती है। जिसके ६ पक्ष हैं—१ शब्द स्वरूप २ शब्दाभिप्रायज्ञान ३ शब्दभावना ४ शब्द की अभिधा वृत्ति ५ शब्द की आज्ञा शक्ति ६ इष्ट साधनता का ज्ञान। परन्तु यह सब प्रवृत्ति मे कारण नहीं होते। कारण तो भगवान् श्री कृष्ण की इच्छा ही है, वे जहाँ जिसे जिस रूप में प्रवृत्त करना चाहते हैं, करते हैं। निवृत्त करते हैं और तदनुरूप ही उस कार्य की निष्पत्ति होती है। वेद का मूल मन्त्र गायत्री इसी ओर संकेत करता है और केन छान्दोग्य आदि उपनिषदों में इसका स्पष्टीकरण हुआ है। [सर्व नि० निबन्ध० का० १७७ से १८१]

वेद सम्बन्धी मान्यता—

परमाप्त भगवन्निश्वास रूप वेद के सम्बन्ध में श्री वल्लभाचार्य इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं .—

वेदा इति, शब्द एव प्रमाणम्, तत्राप्यलौकिक ज्ञापकमेव।
स्वतः सिद्ध प्रमाण भावं प्रमाणम्।
वेदाः सर्वे एव काण्डद्वयस्थिताः, अर्थवादि रूपा अपि।

[तत्व दी० शा० निबन्ध कारिका ७]

इसका तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिह्य और शब्द इन चार प्रमाणों मे शब्द ही वास्तविक विश्वसनीय प्रमाण है। अन्यों मे भ्रान्तत्वादि दोष होने के कारण उन्हे एकान्ततया प्रमाण नहीं माना जा सकता। शब्दार्थ भी यही कहता है, अत. आप्त वाक्य रूप शब्दात्मक वेद ही अलौकिक परिबोध के लिये प्रमाण हो सकते हैं। शब्द प्रमाण में भी इतर साधारण शब्दों की समानता के कारण शब्दत्व रूप मे वेद को प्रामाण्य नहीं है, अपितु अलौकिक ज्ञापक शब्दत्व रूप से हम उन्हे प्रमाण मानते हैं। अर्थात् धर्म या ब्रह्म के स्वरूप जैसे अलौकिक पदार्थ तत्व को वेद के अतिरिक्त अन्य प्रमाण प्रदर्शित नहीं कर सकते। 'ग्रावाण प्लवन्ते' 'गावो वै सत्र मासत' इत्यादि वाक्य जो लोकदृष्टि से असम्बद्ध प्रतीत होते हैं, उनमे ज्ञाता के बुद्धि-दोष से अप्रमाणिकता आती है।

अतः वे सब अर्थवाद आदि भी स्वतः प्रमाण भूत हैं। प्रमाण रूप से उसी को स्वीकृत किया जाता है—जो लोक से अनधिगत अर्थ को ज्ञान गम्य करता है। "लोकानधिगतार्थ-गन्तृत्व रूपस्यैव प्रामाण्यस्य स्वीकारात्"। [आवरण भंग निबंध]

प्रामाण्यवाद दो प्रकार का है—१ स्वतः प्रामाण्य २ परतः प्रामाण्य परतः प्रामाण्य-वाद में प्रवृत्ति के सामर्थ्य से ही ज्ञान की प्रमाणता का ग्रहण होता है। उसके लिये भी किसी अन्य सामर्थ्य की आवश्यकता होगी, इस प्रकार की अनवस्था के हटाने के लिये कहीं विश्राम करना होगा, सो आगे चल कर या तो योग संशुद्ध अन्तःकरण को ही प्रमाण मानना पड़ेगा, अथवा शुद्ध सत्व को ही प्रमाण का अनुग्राहक स्वीकार करना होगा। ऐसी अवस्था में उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान की स्वतः प्रमाणता विवश होकर स्वीकार करनी होगी। इधर जब विचार करते हैं तो योगसिद्धि और सत्व की संशुद्धि श्रुत्युक्त साधनों से ही हो सकती है, यह मानना होगा। उक्त साधन जिनका महत्पुरुष आचरण करते हैं-का विश्वास वेद के द्वारा ही सम्भव है, अतः सर्व निरपेक्ष वेद ही अन्ततो गत्वा स्वतः प्रमाणभूत सिद्ध होते हैं। क्योंकि उनमें ही सत्वसंशोधकता अनधिगतार्थ गन्तृत्व भगवद्वाक्यता और भगवन्निश्वास रूपता है, वे सत्य नित्य और श्रद्धेय हैं, निरतिशय श्रेय प्रद हैं।

परतः प्रामाण्य-वाद मे अनेक दोष होने के कारण स्वतः प्रामाण्य वादी उन्हें (वेदों को) ही निरपेक्ष प्रमाण मानते हैं, अतः समस्त वेद जो पूर्व उत्तर काण्ड दो रूपों मे अवस्थित और अर्थवादादि रूप हैं स्वतः प्रमाण हैं, उनकी तुला पर कोई आरूढ नहीं हो सकता। 'ग्रावाणः प्लवन्ते' आदि वाक्यों की यथार्थता हमें रामावतार मे सेतुबन्ध प्रकरण मे दीखती है। अतः वेद अक्षर मात्र भी अन्यथार्थ का कथन नहीं करता। "वेदोऽक्षरमात्रमप्यन्यथा न वदति" इस प्रकार श्री वल्लभाचार्य वेद के सम्बन्ध मे अपनी मान्यता प्रस्तुत करते हैं। उनके अन्य कुछ वाक्य इस प्रकार हैं।

१ वेदस्त्वाक्षरमात्रमप्यन्यथा न वदति,अन्यथा सर्वत्रैव तदविश्वास प्रसङ्गात्
२ वेदेक्षरमात्रमन्यथा कल्पनेऽपि दोषः स्यात्।
३ तस्मात् वेदेक्षरमात्रस्याप्यसत्यार्थे ज्ञानस्याभावाद् वैदिकानां न सन्देह

४ वेदोक्तादणुमात्रेपि विपरीतन्तु यद् भवेत्।
तादृशं वा स्वतन्त्रं चेदुभय मूलतो मृषा [अणु०२, २, ३६]

भारत मा० प० गट्टूलालाजी ने 'वेदान्त-चिन्तामणि' में कई प्रमाणों और युक्तियों के द्वारा वेदों की स्वत. प्रमाणता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

वेद के प्रति विविध दृष्टिकोण—

वेद के स्वरूप सम्बन्ध में आचार्यों ने कई दृष्टियों से विचार किया है, जो उनके विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं। यथा

(१) वेद की वृक्ष-रूपता में कहा गया है —

"व्यापि वैकुण्ठे अक्षरात्मके प्रणवबीजो वेदतरुरस्ति। यथा अस्माक सारघ तथा स्वर्गे कल्पवृक्षवद् वैकुण्ठेऽपि। वेदैकसमधिगम्ये शब्दरसात्मक कल्पवृक्ष। न तु लक्षणा। वेदस्य उत्कर्ष आर्थिक। निगम स एव कल्पतरु', सर्वफलदान समर्थ। कल्प स चासौ तरुश्चेति कल्पतरु।" [भाग० सु० प्र० स्क० १, ३]

(२) वेदों की गरुड-रूपतादि के प्रसग में श्री वल्लभाचार्य ने कहा है —

"वेदा हि गरुडमाया पक्षिण, तेषा मूलस्थान भगवतो मुखपद्म-मेव। यथा पद्मे मकरन्दादि पानार्थमागन्तुका अपि पक्षिणस्तिष्ठन्ति एतेषा तु तन्नीडमेव। तेहि तत्रैव लब्ध जन्मान, तत एवोद्गच्छन्ति। अन्यत्र चरन्तोपि नीडतात्पर्या एव ते। छन्दसा सुपर्णत्व श्रुतिसिद्धमेव। "छन्दासि रथो मे भवत इत्यत्र तेषामेव रथत्वम्। 'छन्दासि सौपर्णेया इति श्रुते। सुपर्णपदेन च गरुडरूपतया भगवत्समारूढा एव ते लोके प्रचरन्ति, यत्स्वरूपं भगवन्त लोके बोधयन्ति। ऋषयो हि मन्त्र-द्रष्टारो भगवन्मन्त्रं जानन्ति। वेदाना च पुनस्तात्पर्ये विचार्यमाणे भगवत् पदं जानन्ति प्रपन्ना चरणादन्यत्र गच्छन्त्यपि गगा वेदवत्पुनस्तत्रैव प्रवेक्ष्यतीति वेदाना दृष्टान्तार्थे निरूपितम्। महात्म्य च यथा गगाया पदसम्बन्धात्। एव वेदोप्रामण्यमपि भगवत्प्रामाण्यादेव। 'मन्त्रायुर्वेद वच्च तत्प्रामाण्य आप्त प्रामाण्यात् इति सूते। [भा० तृ० ५, ४०सु०]

(३) एक स्थान पर आचार्य ने गायत्री को वेद माता बतलाते हुए कहा है — "यह वेदत्रयार्थ प्रतिपादिका है। गायत्री बीज, वेद वृक्ष है, और भागवत उसका फल है। वेद के यज्ञ और ब्रह्मज्ञान दोनों काण्डों के अर्थ हैं, जो एक दूसरे के हेतुभूत हैं। [भा०प्र० १ १ सुबो०अनु०]

(४) ब्रह्माजी के लिये वेद का विस्तार किया गया है। इसलिये भगवान् का हार्दिक भाव वेद में ही मिल सकता है, लोक में नहीं। इसीलिये इसे प्रभु ने अपने हृदय में उत्पन्न किया है। [भा॰ प्र॰ १,१ सु॰अनु॰]

(५) "परम ब्रह्म रचित सृष्टि दो प्रकार की है -१ रूपसृष्टि २ नामसृष्टि भगवत्स्वरूप-ध्यान के अतिरिक्त रूप सृष्टि में जो जीव आसक्त हो जाते हैं उन्हें बन्ध और सर्वत्र भगवद्भाव की स्फूर्ति से संसार में अनासक्त रहने वाले जीव को भगवन्नामात्मक सृष्टि के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। अतः रूप-प्रपंच में आसक्त जीवों के निवारण के लिये प्रभु ने वेद का प्रादुर्भाव किया है। रूप-प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय नामक तीन अवस्थाएँ, नाम प्रपंचात्मक वेद में नहीं है। वेद नित्य हैं। उनकी उत्पत्ति नहीं, आविर्भावात्मक प्रकाश होता है, उनकी सर्वदा स्थिति है प्रलय नहीं, प्रपंच के प्रलय के समय भक्ता-संकोचवत् उनकी सूक्ष्मतया अवस्थिति होती है।"

(६) "जैसे वर्ण अनेक भाषाओं में पृथक्-पृथक् रूप से विस्तृत है, उसी प्रकार श्रुति का भी शाखाभेद से विस्तार है। तप साधन और भगवत्कृपा से महर्षि इसका श्रवण साक्षात्कार करते हैं अतः इसे श्रुति कहते है। ब्रह्म के समान वेद भी अविकृत हैं, जीवों के उद्धारार्थ मन. पूर्वक इनका प्राकट्य सृष्टि के आदि कर्ता और आदि कवि ब्रह्मा के लिये हुआ है जिससे परंपरया उसका ज्ञान जीवों को हो सके। वेद में स्थित भगवान् के हार्दिक अभिप्राय की अवगति में बड़े-बड़े विद्वान् भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् स्वयं या उनके प्रपन्न महापुरुष ही उसका ज्ञान करा सकते हैं।"

(७) "वेद सर्वदान-समर्थ हैं, कामनाओं के द्वारा जब जीव क्लेशित होते हैं, तब उनकी कामना-सिद्धि के लिये वेदों के द्वारा अनेक यज्ञ योगादि साधनों का प्रचार हुआ, और विभिन्न शास्त्रों का प्रणयन।" [भाग॰ प्र॰ १, १ सुबो॰ अनु॰]

(८) शाखाभेद के विषय में श्री वल्लभाचार्य का कथन है कि–'अनन्त मूर्ति यज्ञरूप ब्रह्म की एक मूर्ति जितने भाग से प्रतिपादित की गई है वह एक शाखा है। इसी प्रकार अन्य भी। यद्यपि ब्राह्मण को सम्पूर्ण वेद का स्वाध्याय करना विधि प्राप्त है, तथापि प्रमेय-बल के आश्रय पर एक ही मूर्ति सर्व मूर्ति का स्वरूप होने से अल्पबुद्धि पुरुष के

लिये भक्ति ज्ञान को उत्पन्न कर सकती है। एतावता एक शाखा का अध्ययन तो ब्राह्मण को परमावश्यक है, समय मिलने पर अन्य शाखाओं का परिशीलन भी उसे आवश्यक है। ऐसा सोच कर ही भगवान् वेद व्यास ने वेद को खंडशः शाखारूप में विभाजित किया है।" [भा० प्र० ३, २१ सु० मनु०]

(६) "श्रुति प्रतिपादित यज्ञस्वरूप विष्णु, भौतिक और कालकृत दोषों के दूरीकरण में समर्थ है। प्रजाओं की शुद्धि के साधन अग्निहोत्रादि पंचक चातुर्होत्र कर्म है। यह वेद के द्वारा ही अनुष्ठान में आ सकता है, अतः यज्ञ स्वरूप विष्णु के विस्तारार्थ वेद का चतुर्धा विभाग किया गया है, वास्तव में तो वेद एक ही है।" [भा०प्र० ४, १६ सु०]

(१०) "वेद भगवन्निश्वास होने से भगवत्स्वरूप ही है...सृष्टि के समय उनका अविर्भाव होता है, प्रलय के समय उनका अन्तः प्रवेश। मध्य अवस्था में वे स्वकीय तत्व का प्रतिपादन करते हैं। उनका जो भी अर्थ है वह ब्रह्म है अतः उनकी 'ब्रह्म' संज्ञा भी है। तात्पर्यतः वे नारायण स्वरूप हैं, और उन्हीं का वे विशद व्याख्यान करते हैं। उसमें दो काण्ड हैं, जो विविध रूप से ब्रह्मतत्व का निरूपण करते हैं"। यथा—

पूर्व काण्ड में—

(क) स्वरूप से वेद भगवद्रूप हैं यह "एतस्यैव महतो भूतस्य निःश्वसितं यद् ऋग्वेदो यजु०" इत्यादि श्रुति में स्वतः कथित है।

(ख) अर्थ से वेद भगवद्रूप हैं क्यों कि उनका प्रतिपाद्य अर्थ वही है। अन्य स्तवनीय देव अङ्ग और भगवान् अंगी है।

(ग) फल से वेद भगवद् रूप हैं क्योंकि—फल स्वरूप स्वर्गादि लोक विराट् पुरुष के विग्रहान्तः पाती हैं।

(घ) साधन से वेद भगवद्रूप है क्योंकि यज्ञादि साधन "यज्ञोवै विष्णुः" आदि श्रुतियों के कथन से तद्रूप है।

(ङ) परंपरा से वेद भगवद्रूप है यह तो शास्त्रों में स्वयं निर्णीत है।

उत्तर काण्ड में—

(क) साधन रूप से वेद भगवद् रूप है, क्योंकि उसके निर्दिष्ट साधन योग और तप दोनों को ब्रह्म रूप कहा जाता है।

(ख) कार्यरूप से वेद भगवद् रूप है क्योंकि योग और तप का कार्य विज्ञान है, जो श्रुति के कथनानुसार ब्रह्मवाची है।

(ग) फल रूप से वेद भगवद् रूप है क्योंकि परम गति जो फल कही जाती है, परमात्मा की स्वरूप-प्राप्ति ही है।

(११) जीव भगवद्बुद्धि में अवस्थित अर्थ को हृद्गत कर सके एतदर्थं वेदों का प्रणयन है। भगवदभिप्रेत अर्थ का साधक होने से वेद भगवत्पर है, भगवद्रूप है। इस प्रकार शब्द अर्थ दोनों रूपों से वेद की ईश्वरता सिद्ध होती है।" [भा० द्वि० ५, १,१६ सु०]

(१२) एक स्थान पर श्रीवल्लभाचार्य ने वेदों को भगवान् का पीताम्बर कहा है। उनका कहना है कि—"जिस प्रकार घट आदि पदार्थों पर पड़ी हुई सूर्य की किरणें उसे प्रकाशित करती है; आच्छादित नहीं करतीं, उसी प्रकार पीताम्बर परमात्मा के परमानन्द स्वरूप को प्रकाशित ही करता है, आच्छादित नहीं। वेद पीताम्बर रूप शब्द है और उससे लपेटा हुआ ब्रह्म का श्रीविग्रह अर्थ रूप है। शब्द, अर्थ के गांभीर्य सौंदर्य और मनोहरता को प्रकट करता है। वेद भी अपनी शब्द-राशि द्वारा परमपदार्थ रूप श्रीप्रभु को विशेष आभासित करता रहता है। अथवा— एक समय वेदों ने प्रभु से अपने भीतर आवद्ध हो जाने की प्रार्थना की और भगवान् छन्दों से आवद्ध होगये। "छन्दोभि राच्छाद-यंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् " आदि कई श्रुतियाँ इस अर्थ को उपोद्बलित करती हैं, तदनु भगवदिच्छा से वे सब वेद पीताम्बर स्वरूप होगये, वे तभी से भगवान् को आच्छादित किये हैं। उसी समय से पीताम्बर को वेद और वेदों को पीताम्बर माना जाता है।" [भाग० प्र० ६, ३३ सुबो०]

(१३) "जिस प्रकार परब्रह्म भगवान् अर्थ स्वरूप हैं उसी प्रकार वेद भी शब्द-राशि रूप ब्रह्म हैं, जल-राशि के समान। जैसे ब्रह्म में सर्वत्र आनन्द प्रतिफलित होता है उसी प्रकार वेद में सर्वत्र फलों का उल्लेख है क्योंकि वह भी ब्रह्मस्वरूप ही है। शब्द प्रस्थान होने के कारण यद्यपि वह शब्द मात्र है, किन्तु उसका अर्थ परब्रह्म रूप फल है।" [भाग० द्वि० २० सुबो०]

(१४) "प्रथमाधिकार में जिज्ञासु के लिए सभी गुणमय हैं। सत्वपरता ही ज्ञान की मुख्यता है। ऐसी अवस्था में वेद सात्विक प्रमाण माने जाते हैं। जहाँ तक साधारणतया जीव स्वकीय गुणात्मक वृत्तियों से आबद्ध होकर वेद के द्वारा स्वकीय कामनाओं की सिद्धि अधिगत करता है, फल-प्रतिपादक होने के कारण वेद भी त्रैगुण्यिविषयक हो जाते हैं, और तदर्थ ही गीता में कहा गया है:—

"त्रैगुण्यविषया वेदा· निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन," [२, ४५] इसका तात्पर्य वेद-प्रतिपादित विधि-निषेध-परता से तटस्थ रहने का है, पर जब साधक इन दैहिक, ऐंद्रियिक, मानसिक और अन्त.-करणात्मक वृत्तियों से दूर होजाता है, उसे सर्वत्र का परमानन्दता का भान होने लगता है, वेद भी उसे भगवद्रूप परिलक्षित होने लगते हैं॥ [भाग० प्र० २, १८ सु०]

(१५) साधनावस्था में जीव को सावधान होकर चलने का शास्त्रीय आदेश है और यह वेद के द्वारा जाना जा सकता है, अतः वेद मार्ग के विरुद्ध आचरण के सम्बन्ध में श्रीवल्लभाचार्य का कथन है:—

"वेद-मार्ग-विरोधेन येषा करणमण्वपि,
ते हि पाखण्डिनो ज्ञेया वेदार्थस्य विनिन्दका:"(सर्व० नि०२८४)

अतः पाखंड और वेदविनिन्दक होने से बचना सत्यधर्मावलम्बियों के लिए परमावश्यक है। वेदोक्त कर्माचरण से ही जीवों को श्रेय प्रेय संप्राप्त हो सकता है।

(१६) वेदमार्ग की रक्षा श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धांतानुसार ब्राह्मण अतिरिक्त जन से नहीं हो सकती। ब्राह्मण में भी जन्मजात ब्राह्मण की अपेक्षा वेदाध्यायी महान् है, उसमें भी वेदार्थवित् का ऊँचा स्थान है, वेदार्थवित् की अपेक्षा वेदार्थ के सर्वसन्देह वारक और उसमें भी यज्ञादिकर्ता का वैशिष्ट्य है, उसमें भी मुक्तलिङ्ग "गलितदेहाभिमानी" और उसकी भी अपेक्षा निरभिमान होकर ऐहिकामुष्मिकार्थ, जो न कुछ चाहता है और न कुछ तदर्थ करता है वह उत्तम है। [भा० तृ० २९, ३२ श्लोक सुबो०]

इस श्रेणीनिरूपण से विदित होता है कि—वैदिकमार्ग की संरक्षा के लिए कितने विशिष्ट पुरुष की आवश्यकता है।

(१७) भागवत [द्वि० ७, १२ श्लोक] में वर्णित है कि—भगवान् ने मत्स्यावतार धारण कर वेदों की रक्षा की थी, इस श्लोक की सुबोधिनी में महाप्रभु ने लिखा है कि—जलप्लावन के समय भय के कारण ब्रह्माजी के मुख से जब वेद विगलित होगये, तो उन्हें दानवेन्द्र हयग्रीव लेकर भाग गया। मत्स्यावतार धारण कर प्रभु ने उसे मार कर वेदों की रक्षा की, और वे वेदों को लेकर जल में विहार करने लगे। उस समय ज्ञान-भक्ति-प्रतिपादक अन्य वेद भी उन्हीं से उद्भूत हुए, ऐसा प्रसिद्ध है। परमात्मा के हयग्रीवावतार ने भी वेदों की रक्षा की है, इन दोनों अवतारों में यह वैशिष्ट्य है कि— हयग्रीवावतार में यज्ञोपयोगी और मत्स्यावतार में सर्वोपयोगी वेदों का उद्धार हुआ था।

(१८) वेद ब्रह्मस्वरूप हैं और ब्रह्म वेदमय है। इस आंतरिक रहस्य को विविध ब्रह्म भेद के द्वारा प्रदर्शित करते हुये आचार्य कहते हैं—
(१) आधिभौतिक ब्रह्म उपदेशार्थ ब्राह्मण रूप में स्थित है।
(२) आध्यात्मिक ब्रह्म वेदस्वरूप से प्रतिष्ठित हुआ है और,
(३) आधिदैविक ब्रह्म अक्षर ब्रह्मरूप से माना जाता है।
अत. ब्रह्म, वेद और वेदमूर्ति ब्राह्मण जिसका मूल रूप ब्रह्मा है, एक ही है। इनके मध्य कोई तात्विक भेद नहीं है। [भा० तृ० ६,३० श्लोक सुबो०]

वेद-चतुष्टय आदिकवि ब्रह्मा के चार मुख और उनके विनियोग के सम्बन्ध में (भा० तृतीय १२, ३७ की सुबोधिनी में) इस प्रकार निर्देश किया गया है.—

	वेद	ब्रह्मा के दिशानुसार मुख	विनियोग	
१	ऋग्वेद	पूर्व मुख से उद्गत	शास्त्रपरिज्ञान	होता
२	यजुर्वेद	दक्षिण मुख से ,,	इज्या	अध्वर्यु
३	सामवेद	पश्चिम ,, ,, ,,	स्तुति	उद्गाता
४	अथर्ववेद	उत्तर ,, ,, ,,	प्रायश्चित्त	ब्रह्मा

कहीं-कहीं शास्त्रों में अथर्ववेद का समावेश अन्य वेदों में कर लिये जाने से वेदत्रयी का भी उल्लेख मिलता है।

वेदार्थ परिज्ञान-पद्धतिः—

प्रस्तुत पद्धति के सम्बन्ध मे मठपति जयगोपाल भट्ट ने स्वकीय 'तैत्तिरीयोपनिषद्-भाष्य' मे सयुक्तिक विवेचन किया है, वे कहते हैं:—

वैदिक व्याख्यान दो प्रकार से किया जाता है:— १—शब्द शक्ति वृत्ति से प्रतीत अर्थपरता के द्वारा अथवा २—परस्पर विरुद्ध अर्थ वाली श्रुतियों में स्वोत्प्रेक्षित तर्क के द्वारा तात्पर्य प्रतीत अर्थपरता के द्वारा। इन दो में से शब्दशक्तिवृत्ति प्रतीत अर्थपरता से ही विचार करना वैदिकों को संमत है। तर्क के विषय में तो "नैषा तर्केण मतिरपनेया" श्रुति च "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" आदि ब्रह्मांड पुराण के कथनानुसार तथाव "पुराणं मानवतो धर्मः सांगो वेद श्चिकित्सितं, आज्ञा सिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि युक्तिभिः [गौ० स्मृ०] के कथनानुसार वेदार्थ में तर्क करने का सर्वथा निषेध है। शुष्क तर्क जो केवल शब्द-जाल तक ही सीमित रह जाता है, निरर्थक है और इसी लिये साहित्य शास्त्र भी (१) प्रभु संमित वेद, (२) मित्र संमित पुराण और (३) कान्तासम्मित काव्यादि, इस प्रकार शब्दों को त्रिधा विभाजित करता है।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति दण्ड-भय से प्रभु-संमित वचन मे तर्क करने से छुटकारा नहीं पा सकता, उसी प्रकार पापफल के भोग-भय से कोई वेदबोधित धर्म मे तर्क करके छुटकारा नहीं पा सकता। प्रायश्चित रूपी दण्ड वेद विपरीत अन्यथा आचरण दोष का प्रतिफल है। वेद तर्क के गुरु का निरीक्षण कर प्रायश्चित का विधान नहीं करता, वह तो समान रूप से उपादेय, सब के लिये धर्माचरण का आदेश देता है और विरोधाचरण के लिये दण्ड का विधान। इस सिद्धान्त मे बुद्धि विवेक का ग्रहण है, विचार को स्थान है, पर तर्क द्वारा अपलाप को नहीं। इसी लिये एक स्थान पर स्मृति मे कहा गया है "आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना, यस्तर्केणानुसधत्ते स धर्मं वेद नेतरः" वेद शास्त्रों मे समन्वयात्मक पद्धति से किए गये तर्क को स्थान दिया गया है। "तर्काप्रतिष्ठानात्" [व्याससूत्र २, १, ११] के कथनानुसार श्रीवल्लभाचार्य ने इस पद्धति को 'वेदयुक्ति' शब्द से अभिहित किया है। जैसा कि-अन्यत्र कहा जायगा, तब, वेदयुक्ति और भगवत्कृपा इन

साधनों से ही वेद-विद्या का परिज्ञान होता है। तर्क के सम्बन्ध में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है— तर्को नाम प्रत्यक्षतो दृष्टस्य पदार्थस्य निर्वाहिकोपपत्तिः "यस्मिन् पदार्थे कल्प्यमाने दृष्टोऽर्थ उपपद्यते" [भा० १२,२५ श्लोक सुबो०] कहने का तात्पर्य यह है कि—वेद शास्त्रों के समर्थित अर्थ से विरुद्ध तर्क की कोई मान्यता नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है—आचार्यों का अभिमत है कि—यद्यपि वेद ब्रह्म का परिज्ञान प्राप्त करने का साधन है, पर वह ब्रह्म अलौकिक प्रमेय है। लौकिक वस्तु लौकिक युक्ति से जानी जा सकती है, अलौकिक नहीं। ब्रह्म अलौकिक (वैदिक) है। वेद प्रतिपादित अर्थ का अवबोध शब्द साधारण विधि से नहीं हो सकता, उसके लिये अन्य ही साधन हैं। इन साधनों के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

"तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमात्मनः ।
विद्या प्राप्नोद्युरक्लेशं क्वचित् सत्ययुगे पुमान्। [शा. तत्त्व नि ६२.६३]

इन साधनों में तप पूर्वाङ्ग है, वेद-युक्ति सहकारिणी और भगवत्प्रसाद मुख्य साधन है। तत्वदीप प्रकाश की टीका 'आवरण भंग' में श्रीपुरुषोत्तम जी ने तथा रश्मिकार श्रीयोगि गोपेश्वर जी ने उसे स्पष्ट किया है कि यहाँ 'तप' शब्द से आलोचना अर्थ न लेकर अनशनादि तपश्चर्या लेना चाहिये। जैसा कि छान्दोग्य, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों में "पञ्चदशाहानि माशी"० रूप में कहा गया है। एतावता यहाँ तप (अनशनादि क्रिया), वेद-युक्ति (वेदार्थ ज्ञान) और परमात्मप्रसाद (भक्ति) इन तीनों साधनों का निर्देश किया गया है। अर्थात् वेदार्थ रूप ब्रह्म का महात्म्य-ज्ञान और स्वरूप-परिचय तीनों साधनों के समन्वय से ही हो सकता है, केवल "तत्त्वमसि, सोऽहं" आदि वाक्योक्त ज्ञानोपदेश से नहीं। इसके लिये देश काल दोनों की समीचीनता पञ्चाङ्ग सम्पत्ति के साथ वेद द्वारा ब्रह्म-ज्ञान किया जा सकता है। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' 'धातु प्रसादात्' आदि श्रुति-वचन भगवदनुग्रह के लिये प्रमाण स्वरूप हैं। वेद युक्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है कि—जिसप्रकार श्वेत केतूपाख्यान में न्यग्रोधफल द्वारा समझाने का उल्लेख है उसी प्रकार वैदिक युक्तियों से वेदार्थ का परिज्ञान किया और कराया जाना चाहिये। रश्मिकार श्रीगोपेश्वरजी ने उपनिषदुक्त त्रिवृत्करण रूप वेद-युक्ति का

निर्देश करते हुए स्थूल से सूक्ष्म परिज्ञान की ओर संकेत किया है।
[अणु० १, १, १ रश्मि टीका]

तात्पर्य यह कि—अलौकिक वेदार्थ-परिज्ञान कुछ विशिष्ट साधनों के सहारे ही किया जा सकता है, उक्त साधनों के अतिरिक्त उसके लिये इतर साधन अकिंचित्कर हैं।

इस लिये स्वोत्प्रेक्षित तर्क के आधार पर वेदार्थ का निर्णय करना उसके वास्तविकार्थ से कोसों दूर रहने के समान होगा। वस्तुतः इस प्रकार वेदार्थ का परिशीलन न कर शब्द की शक्ति-वृत्ति से वेद जैसा कहता है, उसे उसी रूप में प्रमाण मानना चाहिये। वेदार्थ के समझने से हम अल्पज्ञ जीवों को जो सन्देह हो या हो सकता हो, उसके निराकरणार्थ भगवद्विभूति, सर्वज्ञ महर्षि वेदव्यास ने अवतार धारण कर उन ब्रह्मसूत्रों की रचना की है, जिनका उल्लेख श्रीकृष्ण नेस्तोक्त गीता में "ब्रह्मसूत्रपदै श्चैव हेतु मद्भि र्विनिश्चितैः।" इस वाक्य में किया है। तावता ब्रह्मसूत्रोक्त सिद्धान्त और गीता के स्पष्टीकरण को सामने रख कर वेद का ज्ञान अधिगत करना चाहिये। श्रुति प्रतिपादित सिद्धान्त का सन्देह श्रीकृष्ण-वाक्य गीता से तज्ज्ञानोत्थ सन्देह का अपनोद ब्रह्मसूत्रों द्वारा और उसका भी विशदीकरण भागवत में वर्णित समाधि भाषा द्वारा करने में ही सुकरता है। श्रीवल्लभाचार्य इसी लिये एक स्थान पर कहते हैं—भगवान् तत्प्रपन्नो वा वेदार्थ वित्।

प्रस्थान-चतुष्टय की एकवाक्यता से जो रहस्य परिज्ञात होता है वही वास्तव में उपादेय है। यद्यपि वल्लभाचार्य के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भागवत को प्रस्थान चतुष्टय में न मान कर प्रस्थानत्रयी को ही स्वीकार किया है, तथापि सभी ने वेदार्थ-परिज्ञान के लिये अन्य आगमों का आश्रय लिया है, यह निःसन्दिग्ध है। यह सब शब्द की अभिधावृत्ति के द्वारा ही सम्भव है, जिसमें अभिम प्रस्थान उसे पुष्ट करते हैं। यों देखा जाय तो लौकिक तर्क के द्वारा अलौकिक वेदार्थ रूप परमात्मा श्रीकृष्ण का स्वरूप और उनकी आज्ञा रूप वेद का तात्पर्यार्थ बोध हो भी नहीं सकता, अर्जुन की यह उक्ति स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम [गीता १०,१५] कितनी स्पष्ट है। "मां विधत्तेऽभिधते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् एतावान् सर्व वेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्"। [भाग०११,२१,४३] 'वेदैश्च सर्वे रहमेव वेद्य' "वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहं

"सर्वे वेदायत्पदमामनन्ति" आदि स्मृति पुराण वचन इसी का दिग्दर्शन कराते हैं। इस लिये वैदिक अर्थ का अनुसन्धान शब्द शक्तिवृत्ति से प्रतीत, अथच अन्य समन्वयात्मक शास्त्रों से परिपु रूप से करने की आवश्यकता है।

वेदार्थ परिज्ञान के विषय में श्रीवल्लभाचार्य श्रीकृष्ण वाक्य गीता को प्रामाणिकता देते हुए कहते हैं। "वेदानपि तदुक्त प्रकारेणैवनिर्णय" [शा० त० नि० ४] सम्पूर्ण वेद में षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान् परब्रह्म श्रीकृष्ण का ही प्रतिपादन है, यह आचार्यश्री का उद्घोष है—"षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो भगवान् हयनु भ्रान्तशास्त्रे ? प्रतिपन्न, वेदार्थोऽप्ययमेवेत्ययवादिष्य"। [भा० द्वि० १ ५ सुबो०]

वेद के अर्थ करने के सम्बन्ध में श्रीआचार्य ने स्वकीय 'पत्राव लम्बन' नामक ग्रन्थ म कहा है "ये धातुशब्दा यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिता, तथेवार्थो वेद वाक्ये कर्त्तव्यो नान्यथा क्वचित्। [कारिका ४] "अर्थात् पाणिन्यादि शब्दाचार्यों के कथित उपदेश में धातु और शब्दों के जो अर्थ कहे गये हैं, तदनुसार ही वेदों का अर्थ करना चाहिये अन्यथा नहीं। उससे इधर उधर की कल्पना और लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं है"। "शब्दार्थ के सम्बन्ध में विवाद करने से लोक व्यवहार का नाश होता है और शब्द की अभिधावृत्ति से सरलतया प्रतीयमान अर्थ के अवबोध म दुरूहता आती है " [कारिका २] वेदार्थ लौकिक नहीं है यह प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों से अवगत नहीं हो सकता।

वेदार्थ यद्यपि अपने आप में असन्दिग्ध है, तथापि भ्रान्तमति के लिये सुगमावबोध के लिये मीमासा द्वारा निर्णय किया जाता है। उसमें शङ्का और पूर्व पक्ष द्वारा सशय उत्पन्न कर पुन उसका निराकरण करना ही वेदान्त विचार का फल है। जिस प्रकार एक सुदृढ गाड़े हुए स्तम्भ को पुन पुन हिलाकर अस्थिर करते हुए उसे दृढ किया जाता है, इसी प्रकार मीमासा का उपयोग किया जाता है। 'असदिग्धेपि वेदार्थे भ्रूणारजननसम्मत, मीमांसा निर्णय प्राहे, दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम्।"

[अणु० १ १ १]

सुबोधिनी म श्रीआचार्य ने शब्द अर्थ का सम्बन्ध नित्य बतलाया है। उन्होंने कहा है कि—"यह शब्दार्थ सम्बन्ध वाच्य वाचकता के रूप म नित्य है। वाचक शब्द के उच्चारण से ज्ञानशील व्यक्ति को

उसके वाच्य पदार्थ का ज्ञान हो जाता है। 'नरसिंह' आदि सांकेतिक शब्दों से जैसे लोक में पुरुषों का बोध होता है उस प्रकार नहीं, किन्तु नित्य सम्बन्धवाद में शब्द वाचक और अर्थ अभिधेय (वाच्य) दोनों नित्य हैं। शब्द, ब्रह्म होने से यद्यपि सभी अर्थों का वाचक है, तथापि लोक-व्यवहार चलाने के लिये उनकी अभिधावृत्ति का सकोच कर दिया गया है और इसी कारण अमुक शब्द से अमुक पदार्थ का ही ज्ञान होता है। यह परिज्ञान शब्द शास्त्र की परिपाटी से होता है।

शब्द ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति कैसे होती है? इस सम्बन्ध में भागवत [तृ० स्कंध १२ अ० ४६ श्लोक] की सुबोधिनी में श्रीवल्लभाचार्य ने विशद विवेचन किया है। वहाँ से जाना जा सकता है। शब्द की अनुवादकता के विषय में आचार्य ने भाग० दशम के एकादशाध्याय ४७ श्लोक की सुबोधिनी में कहा है कि "वेदवादिनो हि शब्दस्य नानुवादकत्व मन्यते, किन्तु विधायकत्वम्, अत. ईश्वरो वेद एव, तद्वाक्यादेव फलसिद्धि नतु फलसाधकत्वेन ईश्वरापेक्षा"। फल-सिद्ध करने वाला वेद ही ईश्वर है, उसके वाक्य से ही फल-सिद्धि होती है" आदि।

तत्त्वदीप सर्वनिर्णय निबन्ध में आचार्य का कथन है कि—वेद में श्लिष्ट प्रयोग के कारण फल के सम्बन्ध में परोक्ष रूप से वर्णन किया गया है। यह सब बालबुद्धि जनों की प्रवृत्ति के लिये है, जो रोचनार्थ है। जैसे बालक को 'दूध पीने से तेरी शिखा बढ जायगी' ऐसा कह कर दुग्धपान मे प्रवृत्त किया जाता है, उसी प्रकार वेद लोकैषणा वालों को फल प्राप्ति का उल्लेख कर सत्कर्म में प्रवृत्त करता है। तात्पर्यत परोक्ष कथन का प्रयोजन बालानुशासन है, और यह अनुशासन व्युत्पादनार्थ है।

"श्लिष्ट प्रयोगाद् वेदस्य परोक्षकथन मतम्।
बालानुशासनार्थाय रोचनार्थं तथा वच। [स० निबन्ध ६]

भागवत में इसी अभिप्राय को लेकर कहा है। "परोक्षवादो वेदोय फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचन परम्" आदि। इन सब का अभिप्राय यह कि—स्वर्ग आदि शब्द जहाँ लोकदृष्टि में लोकात्मक फल का निर्देश करते हैं, वहाँ वे परमार्थत मत्वात्मक आनन्द का भी। साधारण कर्मशील जन, परोक्ष मत्वात्मक आनन्द प्राप्ति की अपेक्षा

त्रिविध भोग संयुक्त लोकात्मक स्वर्ग को अधिक चाहते हैं, एतदर्थ उनकी वेदोदित कर्म में अधिक प्रवृत्ति होती । सद्भाग्यतः यदि उस कर्म के द्वारा उन्हें अन्त करण-संशुद्धि से ज्ञान-प्राप्ति हो जाती है तो वे उस स्वर्गात्मक लोक की एषणा छोड़ कर आगे बढ़ जाते हैं, और यदि नहीं होती तो उन्हें भोगात्मक लोक की प्राप्ति तो होती ही है, इससे वेद में प्रवंचकना का दोष भी नहीं आता। इस प्रकार का फल निर्देश ही वेद का 'श्लिष्ट-प्रयोग' कहलाता है।

सर्व निर्णय निबन्ध [कारिका ३३, ३४] के तत्वदीप-प्रकाश और उसकी टीका 'आवरण भंग' में इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

वेदार्थ-निर्णय के लिये अनेक विद्वानों ने भाष्य और टिप्पणियाँ की रचना की है, विभिन्न-विभिन्न दृष्टिकोण से वे अपने-अपने ज्ञान के ही अनुसार उसका निष्कर्ष निकालते हैं। श्रीवल्लभाचार्य ने इन सबका श्रेणी विभागत किया है। [अणुभाष्य प्र०अध्याय द्वि० पाद सूत्र २८] में विचार करते हुये उन्होंने कहा है कि—वेदार्थ-विचारक चार प्रकार के हो सकते हैं —

१—केवल शब्दबल विचारक। जैसे आचार्य बादरायण आदि।
२—शब्द और अर्थ दोनों के विचारक। जैसे जैमिनि आचार्य आदि।
३—शब्दोपसर्जन के द्वारा अर्थ विचारक। जैसे आश्मरथ्य आचार्य आदि।
४—केवल अर्थ विचारक। जैसे बादरि आचार्य आदि।

तात्पर्य यह कि-प्रथम पक्ष में शब्द ही स्वत अर्थ का अवबोधक है। द्वितीय पक्ष में शब्द अर्थ दोनों की समतुला होती हैं, तृतीय पक्ष में शब्द गौण और अर्थ मुख्य होता है और चतुर्थ पक्ष में शब्द का कोई महत्व नहीं होता।

श्रीवल्लभाचार्य परमार्थत सत्य आप्त शब्दों की प्रामाणिकता रूप प्रथम पक्ष के अनुयायी हैं। अत. तदनुसार ही वे वेदार्थ-चिन्तन के पक्षपाती हैं। उनके इसी दृष्टिकोण का आश्रय लेकर—वैदिक वाङ्मय पर शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग का निम्नलिखित ग्रन्थ-साहित्य रचा गया है.—

(क)'' वेदचतुष्टय

(१) वेद वल्लभ — श्रीवल्लभाचार्य कृत। यह वेद भाष्य सप्रति भारत म प्राप्त नहीं है। 'सा० ग्रन्थ-सूची' नामक ग्रन्थ में श्रीजटाशङ्कर शास्त्री ने वलिन की लाइब्रेरी मे इसका होना लिखा है। अत इस विषय म कुछ कहा नहीं जा सकता। ‡

(२) यजुर्वेद-नवार्थी भाष्यम् — योगि श्रीगोपेश्वर जी ने इसकी रचना की है, ऐसा विदित है। शास्त्री श्याम जी शर्मा ने स० १६४५ म प्रकाशित 'भारत-शक्ति' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना मे, और गायत्री भाष्य की गुजराती भूमिका में प० मगनलाल शास्त्री ने 'वैष्णव परिषद्' के सग्रहालय म इसकी प्रति का उल्लेख किया है। सम्प्रति अप्रकाशित और अज्ञात है।

वेद-साहित्य पर इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो का परिचय नहीं मिलता।

उपनिषद्-साहित्यः—

वैदिक ऋचाओं के पृथक्-पृथक् अर्थों का, अशी परब्रह्म के रूप म समन्वय करके जिस मौलिक सिद्धान्त का निष्पादन अथवा विचार किया जाता है उसे 'वेदान्त' कहते हैं। वेद का अन्त, आन्तरिक रहस्य, सार, निचोड़। वेदपरिशीलन क फलस्वरूप महर्पियों ने जिस विचार-धारा द्वारा प्रश्नोत्तर किंवा स्वतत्र रूप से तत्व-निर्धारण किया है, उसम सभी विषयों का समावेश हो जाता है। परब्रह्म, माया, जीव, सृष्टि आदि तात्विक पदार्थ, कर्म, ज्ञान, भक्ति तप, योग आदि साधन और विद्या, अविद्या, बन्ध, मोक्ष, अमृतत्व, ब्रह्मत्व आदि सभी दृष्टियों से वेदान्त में विचार प्रस्तुत किये गये हैं। युक्ति प्रयुक्ति, तर्क, उद्धरण, दृष्टान्त, परमत आदि पर दृष्टि डालते हुए श्रुतिवचनों से जिस प्रकार

‡ सम्प्रदाय कल्पद्रुम ग्रन्थ में इसका नामोल्लेख मिलता है।

वेदान्त में गम्भीर चिन्तन किया गया है, वह वास्तव में मननीय और अभ्यसनीय होने के साथ महत्वपूर्ण है।

वेदान्त की इसी विचार धारा को 'उपनिषद्' शब्द से बोधित किया गया है। 'उपनिषद्' शब्द के भीतर जो मौलिक अर्थ निहित है उसे और कोई दूसरा शब्द व्यक्त नहीं कर सकता। इसमें साधक की साधनावस्था से लेकर साध्य फलावस्था तक का समावेश है। श्रीवल्लभाचार्य इस 'उपनिषद्' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में कहते हैं– "उपनिषद् शब्देन ब्रह्म विद्या निरूप्यते" उपनिषद् शब्द से ब्रह्म विद्या का तात्पर्य लेना चाहिये।

"उपोपसर्गं सामीप्ये तत् प्रतीचि समाप्यते।
त्रिविधस्य पदर्थस्य नि शब्दोपि विशेषणम्"

पदलृ विशरण गत्यवसादनेषु इत्यनुशासनात्। जीवात्मानं परमब्रह्म नयनार्थं पूर्वभावादिशीर्णं कृत्वा ततः सयातात्केवल मुद् त्य ब्रह्म प्रापयित्वा तत्रैव तमवसादयति" इति। यथा सर्वोप्यश विशीर्णो भवति। यथा ना सर्वे भावेन तम् प्राप्नोति। यथा वा कदाचिदपि ततो न निवर्तते स निशब्दार्थ । एतादृशी ब्रह्म विद्यैव भवति, अत सर्वसन्देहा उपनिषदर्थ विचारेणैव निराकर्तव्या इति सिद्धान्त उक्त। [भाग०द० उत्त० ३८, ३ सुबो०]

इस का तात्पर्य सक्षेपत यह है कि—जिस विद्या के समधिगत करने से ब्रह्म समीप में ही प्रतिष्ठित हो जाता है, उस विद्या को उपनिषद् कहा जाता है। उपचार से उस विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ को भी उपनिषद् कहते हैं। 'उपनिषद्' शब्द में उप और नि यह दो उपसर्ग और षद्लृ धातु हैं, जिसका विशरण गति और अवसादन अर्थ है। अत जिस विद्या के द्वारा जीव को ब्रह्म के समीप जाने के लिये रोगशीर्णता होती है जिसके द्वारा ब्रह्म के उपकण्ठ समीप जीव की गति होती है और जिस विद्या के द्वारा ब्रह्म के सामीप्य होने से जीव के अवास्तविक रूप का अवसाद हो जाता है, वह विद्या 'उपनिषद्' कहलाती है। इसमें साधन और फल दोनों रूपों का जहाँ उल्लेख है वहाँ प्रमाणिकता से प्रमाण और फल रूप से प्रमेय ब्रह्म का भी समावेश होता है। तात्त्विक याथार्थ्य 'ज्ञान' और पारमार्थिक ब्रह्मावगति 'विज्ञान' कहलाता है।

प्रस्तुत ब्रह्मावबोध, ब्रह्म-विज्ञान या ब्रह्म-विद्या भक्ति ही है, जिससे जीव को परमश्रेय स्वरूप अखण्ड निरवधि परमानन्द की संप्राप्ति होती है। आचार्य के सिद्धान्तानुसार पं॰ जयगोपाल भट्ट ने तैत्तिरीयोपनिषद् के भाष्य में और पं॰बालकृष्ण शास्त्री ने 'ईशावास्योपनिषद्' की मनस्विनी टीका में इस पर विशद विवेचन किया है।

समस्त उपनिषद् वेद और उसकी किसी न किसी शाखा से सम्बद्ध है, जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है, उनमें सभी विषयों का विचार है। यह उपनिषद् कई प्रकार की हैं। इनमें कुछ उपनिषदों के विषयानुसार विभाग किये जा सकते हैं, जैसे कुछ उपनिषद्—

(१) केवल पूर्णपुरुषोत्तम और उनकी प्राप्ति के साधन का निर्देश करने वाली हैं।

(२) केवल पूर्ण पुरुषोत्तम के स्वरूप प्रतिपादक हैं, । जैसे गोपालतापिनी कृष्णोपनिषद् आदि।

(३) पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप, उनकी प्राप्तियोग्यता के सम्पादक अक्षर ब्रह्म, ज्ञानविषयीभूत अक्षर ब्रह्म-स्वरूप को तथा पुरुषोत्तम स्वरूप जीव को, पुरुषोत्तम के साथ सर्वकाम भोगरूप फल की प्रतिपादक हैं। जैसे तैत्तिरीय, मुण्डक आदि।

(४) केवल विभूति तथा तत्प्राप्ति साधन की प्रतिपादक हैं। जैसे वासुदेव, नारायण आदि।

(५) केवल अक्षर ब्रह्म और तत्प्राप्ति साधन की प्रतिपादक है। जैसे छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि।

(६) मुक्ति के साधन स्वरूप भक्ति, ज्ञान के अङ्ग सन्यास, वैराग्य, योग्य सांख्य आदि की प्रतिपादक है। जैसे सन्यासोपनिषद्, आरुणेयोपनिषद्, गर्भ, अलात शान्ति आदि।

(७) भक्ति के साधन श्रवणादि और उनके साधन शरीरादि के आधिभौतिकादि त्रिविध उपद्रव के निवारक साधन की प्रतिपादक हैं, जैसे गरुडोपनिषद् आदि। [जयगोपाल कृत तै॰ उप॰ भूमिका]

कहने का तात्पर्य यह है कि—आस्तिक सिद्धान्त की विचार-धारा को प्रमाणपरिपुष्ट करने के लिये जितना बल उपनिषदों के द्वारा प्राप्त होता

है, उतना अन्य के द्वारा नहीं। और यही कारण है कि—अधिकांश आचार्यों ने उपनिषद्-साहित्य पर अच्छा विवेचन किया है। सभी सिद्धान्त वादियों के भाष्य, टीका, विवरण, टिप्पण और व्याख्यान मिलते हैं, क्योंकि श्रुतियों का रहस्य इन्हीं में समवेत है। इनकी भाषा स्पष्ट और सुन्दर है पर विचार गम्भीर और दृढ़।

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के आकर ग्रन्थ—अणुभाष्य सुबोधिनी प्रभृति में स्थल-स्थल पर वैदिक प्रमाणोपन्यास के समय इन्हीं वेदान्त वाक्यों का विचार किया गया है और इन्हीं का संशय-निरास। अत पृथक् ग्रन्थ रूप में आचार्य श्री ने इनपर कोई पृथक् विमर्श नहीं किया है, व्यास सूत्रों का वर्ण्य विषय तो अधिकांश यही उपनिषद् हैं, अत इनका साधारणतया व्याख्यान हो ही जाता है, अत बहुत समय तक इन उपनिषदों पर स्वतन्त्र टीकाओं की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। आगे चल कर समग्र उपनिषद् के रहस्य का विविदिषार्थ जानने के लिये प्रयत्न हुआ और उन पर सिद्धान्तगामिनी रचनाओं का युग आया।

उपनिषद् अनेक थी, और सभी वैदिक शाखाओं की विद्यमान थी, पर शनै शनै शाखाओं के साथ वे लुप्त होगई। वैदिक साहित्य की विवेचनामें प्रधान दश उपनिषदों पर आचार्यों ने विशेष ध्यान दिया और उन पर भाष्य रचना की है। ५८ उपनिषद् और १०८ उपनिषदों के संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें प्रधान दश उपनिषदों के नाम इस प्रकार हैं —

१ ईशावास्योपनिषद् शु० यजुर्वाजसनेयसंहिता की उपनिषद् है
२ केनोपनिषद् सामवेद की उपनिषद् है
३ कठोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की उपनिषद् है
४ प्रश्नोपनिषद् अथर्व वेद की उपनिषद् है
५ मुण्डकोपनिषद् अथर्व वेद की उपनिषद् है
६ माण्डूक्योपनिषद् अथर्व वेद की उपनिषद् है
७ तैत्तिरीयोपनिषद् यजुर्वेद की उपनिषद् है
८ ऐतरेयोपनिषद् ऋग्वेद की उपनिषद् है
९ छान्दोग्योपनिषद् सामवेद की उपनिषद् है
१० बृहदारण्यकोपनिषद् यजुर्वेद की उपनिषद् है

'मुक्तकोपनिषद्' में कहा गया है कि—वेद की एक एक शाखा की एक एक उपनिषद् है। [कारिका १४] यहा पर उपनिषद् की महत्ता के सम्बन्ध में बताया गया है कि—

माण्डूक्यमेकमेवाल मुमुक्षूणा विमुक्तये २६
तथाप्यसिद्ध चेज्ज्ञान दशोपनिषद पठ
ज्ञाने लब्ध्वाचिरादेव मामकं धाम यास्यसि २७
तथापि दृढता नो चेत् विज्ञानस्याजनासुत
द्वात्रिंशाख्योपनिषद समभ्यस्य निवर्तय २८
विदेह मुक्ताविच्छाचेदष्टोतर शत पठ २६

प्रस्तुत उपनिषद् में ३२ और १०८ दोनों उपनिषदों के नाम कहे गये हैं और कौन उपनिषद् किस वेद की है बताया गया है। वहा यह भी कथन है कि किस उपनिषद् का शान्तिपाठ क्या है? संक्षेपत — इस स्थान पर ऋग्वेद की १०, शु० यजुर्वेद की १६, कृष्ण यजु की ३२ और सामवेद की १६ तथा अथर्व वेद की ३१ उपनिषदों के नाम कहकर १०८ प्रसिद्ध उपनिषदों का उल्लेख है। इन १०८ उपनिषदों को भावना त्रय तथा वासनात्रय का नाशक तथा ज्ञानवैराग्यप्रद कहा गया है।

[मु० उ० प्र० अध्याय १ ५]

भगवद् गीता के माहात्म्य म उपनिषदों को धेनु माना गया है। गीता उनका मधुर पय और दोग्धा भगवान् श्रीकृष्ण गोपाल नन्दन को बताया गया है। और यह सच ही है जीव की पारमार्थिक पुष्टि के लिये इस धेनु की सेवा और तत्कृपाप्राप्त अमृत दुग्ध का सेवन आवश्यक है। श्रुति (उपनिषद्) धेनुओं का गीता रूपी अमृत सद्य प्रस्तुत सहज मधुर दुग्ध है, जो ब्रह्म सूत्र मीमासा रूपी सुवर्ण पात्र में शकासमाधानल से आतचित होकर भगवच्चरित्र (भागवत) माधुर्य से सपृक्त कर सात्विक पेय रूप मे परिणित किया गया है। अत मानव-जीवन की ऐहिक सम्यक् स्थिति और पारमार्थिक प्रतिष्ठित के लिये वेदान्त (उपनिषदों) का कितना महत्त्व है? यह जाना जा सकता है।

प्रसगोपात यहाँ यह कहने मे सकोच नहीं होना चाहिये कि–शुचि स० वाङ्मय अपने प्रथम युग म उपनिषदों में सर्व प्रधान दश उपनिषदों का रहस्य, ब्रह्म सूत्रों द्वारा विवरित हो जाने के कारण स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना

का रूप धारण नहीं कर सकता। पर आगे चल कर इसका अभाव खटका और विद्वानों ने इस ओर स्वतन्त्र प्रयास किया, फलतः उपनिषद् ग्रन्थों पर निर्दिष्ट व्याख्यान लिखे गये।

ईशावास्योपनिषद् और उसकी व्याख्याएँ शुक्ल यजु की माध्यन्दिनी संहिता ४० अध्यायों के विभक्त हैं। प्रारम्भिक ३९ अध्यायों में कर्म काण्ड का विशेष रूप से वर्णन है, अन्तिम ४० वाँ अध्याय मार्मिक विवेचना पद्धति से ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। यावन्मात्र वैदिक कर्म किस भावना से अनुष्ठित होने चाहिये ? तदर्थ इस अन्तिम अध्याय में कर्म-समर्पण का रहस्य कहा गया है। इस प्रतिपादन की शैली से इस सभी उपनिषदों की मूर्धन्यता प्राप्त हुई है, और प्रधान दश उपनिषदों में यह प्रथम परिगणित की गई है।

इसके प्रारम्भिक मन्त्र में 'ईशावास्य' शब्द आने के कारण इसे यह नाम मिला है। इसके १८ मन्त्रों के द्वारा प्रतिपाद्य विषय का तात्विक विवेचन है। आचार्य भगवत्पाद श्री शंकर के भाष्य के आधार पर इस पर बहुत सी संस्कृत और हिन्दी की व्याख्याएँ रची गई हैं, अन्य आचार्यों के सिद्धान्तानुसार भी भाष्य व्याख्यान मिलते हैं। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से इस पर जो व्याख्यान प्रस्तुत किये गये हैं उनका परिचय यहाँ दिया जाता है—

(१) ईशावास्य—मनस्विनी व्याख्या रचयिता प्रो० श्रीबालकृष्ण शास्त्री। शु० वा० महासभा सूरत द्वारा सं० २०१० में प्रकाशित।

इस व्याख्या में भक्ति को ही 'उपनिषद्-विद्या' नाम से सम्बोधित किया गया है, क्योंकि भक्ति में ही ईश्वर के प्रति सर्वकर्म समर्पण की भावना को स्थान दिया गया है। उपनिषद् शब्द के धातु, उपसर्ग और प्रत्यय का अर्थ भी इसी धारणा को श्री वल्लभाचार्य के कथनानुसार सिद्ध करता है, यह प्रथम कहा जा चुका है।

भक्ति से ही जीवों को परम श्रेय समधिगत होते हैं। उपनिषद् वचनों में कर्म, ज्ञान, भक्ति तीनों को फल का साधक माना गया है, उसका पारस्परिक रहस्य क्या है ? और इनका विरोध भाव कैसे दूर किया जाय ? यह प्रश्न रहता है। मनस्विनी—व्याख्याकार ने तीनों की सहकारिता के उपरांत भक्ति का वैशिष्ट्य सिद्ध करते हुए उसको परम-फल की सिद्धि में असहाय शूर कहा है। कर्म का फल आत्मज्ञान, ज्ञान

का फल ब्रह्मज्ञान और भक्ति का फल पूर्णपुरुषोत्तमज्ञान है। यह रस स्वरूप क्षराक्षर से अतीत पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं, कर्म, ज्ञान, भक्ति के द्वारा उनकी प्राप्ति ही जीव का मुख्य कर्तव्य है, यह सिद्ध किया गया है।

(काण्ड द्वय में प्रतिष्ठित वेद किंवा उपनिषद् परात्पर पुरुषोत्तम श्रीहरि के षड्गुणबोधक हैं, अतः ईशावास्य के प्रथम ६ मन्त्रों में षड्गुणों का निरूपण है, सप्तम मन्त्र में अक्षर ब्रह्म और अष्टम में परब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। इनकी प्राप्ति के लिये जीव को सगुण नवधा भक्ति और दशमी निर्गुण भक्ति की उपादेयता है, अतः शेष १० मन्त्रों में उसका कथन है। इस प्रकार ८ और १० इस आन्तरिक विभाग में इसमें १८ मन्त्र हैं। भक्ति के आलंबन श्रीप्रभु के लीलाधारक १० अवतार हैं, तदर्थ भी दस मन्त्रों की संगति है। अथवा पूर्वकांड प्रतिपाद्य यज्ञात्मक प्रजापति सप्तदश, और उत्तर काण्ड प्रतिपाद्य ब्रह्म एक विध, एतावता १८ मन्त्र प्रमेय स्वरूप सांगोपांग ब्रह्म का निरूपण करते हैं। >

प्रथम तीन मन्त्रों (१, २, ३,) द्वारा युक्त-साधक—का निर्धार है, तदनु दो मन्त्रों (४, ५) में सेव्य स्वरूप, तदनन्तर दो मन्त्रों (६, ७) में साधन और एक मन्त्र (८) में फलसेवना का वर्णन है। इस प्रकार प्रथम आठ मन्त्रों से स्वरूप का निरूपण करते हुए अधिकारी, विषय फल और साधन के द्वारा भक्ति मार्ग के उत्कर्ष को सिद्ध किया गया है। अग्रिम ६ से लेकर १८ तक दस मन्त्रों में प्रस्तुत विषय का वर्णन है, जिसमें ६ से लेकर १४ तक कर्म, ज्ञान मार्ग के विषय में और पंचदश से लेकर अन्तिम १८ तक भक्ति के सम्बन्ध में विचार है। इस प्रकार समस्त 'मनस्विनी-व्याख्या' अधिकार, साधन, फल और स्वरूप द्वारा भक्ति रूपिणी उपनिषद्-विद्या का महत्व कथन है।

भाष्य-पद्धत्या व्याख्यान शैली और पूर्वापर संगति (अनुबन्ध चतुष्टय) की दृष्टि से 'मनस्विनी-व्याख्या' में जितना सुन्दर विवेचन हुआ है, वह बड़ा युक्ति-संगत है। शु० सिद्धान्त-प्रतिपादक 'ईशावास्य' उपनिषद् की अन्य टीकाओं में यह बात नहीं है। वे साधारणतया सैद्धान्तिक विवेचना ही करती हैं।

२ 'मनस्विनी टीका स्वार्थ दर्शन' (हिन्दी अनुवाद) गो० कंठमणि

शास्त्री द्वारा उनके विवरण द्वारा रचित संस्कृतटीका के भावाभिप्राय लेकर अनूदित और सम्प्रति अप्रकाशित है।

मनस्विनी व्याख्या के प्रतिपाद्य आधार को लेकर हिन्दी में यह विवेचन वर्तमान काल की पद्धति पर जिज्ञासा की पूर्ति करता है। प्रतिपाद्य विषय के सम्मुख आने वाले विषयों के शङ्का समाधान और नवीन दृष्टिकोण की विचार-धारा, उपनिषद् और उसकी टीका के विशेष रहस्य को निराड करती है। शु० साम्प्रदायिक व्याख्या के आधार पर मन्त्रों के शब्दार्थ के साथ इसमें विवेचन अपना स्थान रखता है। रचयिता के पास ही इसकी प्रति विद्यमान है।

३ बालभाष्यम् रचयिता विद्वद्वर प० श्रीगलभद्र शर्मा। बड़ा मंदिर विद्यालय बम्बई द्वारा सं० २००२ म प्रकाशित।

भाष्यकार ने प्रमाण बहुल प्राञ्जल भाषा में शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग के मन्तव्यों का विद्वत्तापूर्ण भाषा में विचार वैचित्र्य द्वारा समर्थन किया है। भाष्यकार की दृष्टि, सिद्धान्तों के साथ सम्प्रदाय में प्रचलित सेवा प्रणाली की परिपुष्टता के प्रति विशेष है, यद्यपि वह अप्रामाणिक और युक्ति एवं विचार से विरहित नहीं है, तथापि वेदप्रतिपाद्य अभिप्रायों में भावना को अत्यधिक प्रश्रय देना कुछ असगत सा जँचता है। यह असगति विद्वान भाष्यकार ने अपने व्यापक पाडित्य से अवश्य दूर की है, पर है यह विचार-धारा क्रमिक विकास के विपरीतसी। अस्तु।

प्रस्तुत व्याख्यान म मन्त्रों द्वारा प्रतिपाद्य अभिमत इस प्रकार है। प्रथम मन्त्र में भगवदीय वस्तुओं को भगवत्समर्पित कर उन्हें प्रसाद रूप से ग्रहण करने का प्रतिपादन है। द्वि० मन्त्र में उक्त प्रकार की आवश्यकता का निरूपण है। तृ० मन्त्र में दु सग-परित्याग और च० मन्त्र में भगवत्प्राप्ति के अधिकारी का तथा पंचम में भगवत्स्वरूप का निरूपण है। षष्ठ में सर्वात्मभाव, सप्तम म भक्ति की असहायशूरता और अष्टम म भक्ति फलार्थ भगवद्भक्त और भगवान् के स्वरूप की सिद्धि वर्णित है। नवम में अन्यमताश्रयण का निषेध, तथा दशम में निःसन्दिग्ध भक्तिमार्ग के समाश्रयण का कथन करते हुए एकादश में भक्तिमार्ग प्रतिपाद्य विद्या अविद्या का फल विवेचित है। द्वादश में भक्ति मार्गीय सम्भूति और असम्भूति का निर्देश करते हुए त्रयोदश मन्त्र म उनके फलाफल का विचार किया गया है। चौदहवां मन्त्र भक्तिमार्ग

की प्राप्ति प्रकार का उपाय निर्देश करता है। इस प्रकार एक से लेकर १४ तक मन्त्रों मे आन्तरिक विभाग के अनुसार आठ मे साकार ब्रह्म का निर्वचन और बाकी छः मे परमत का निराकरण किया है। १४ से लेकर १८ तक चार मन्त्रों मे आचार्य के स्वरूप का चित्रण करते हुए गुरूपसत्ति की प्रधानता सिद्ध की गई है।

इस प्रकार प्रस्तुत बालभाष्य मे विद्वद्भोग्य गरिष्ठ भाषा मे उपर्युक्त दृष्टि से सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। यह कहना प्रसंगोपात आवश्यक है कि हम बालभाष्य की रचना श्री गोकुलनाथजी महाराज बंबई के निर्देश और उनके सेव्य श्री बालकृष्ण प्रभु के आश्रय मे की गई है। शु० सम्प्रदाय श्री बालभाष्य आदि ग्रन्थों के रचयिता पं० श्रीबलभद्र शर्मा जी की भाषा अपना विशेष स्थान रखती है, जो अप्रतिम है।

४ भावार्थ दीपिका टीका (सं०) पं० श्रीमोहनलाल जी शास्त्री द्वारा विरचित। रणछोड़दास पटवारी अहमदाबाद द्वारा सं० १६८३ मे प्रकाशित।

यद्यपि ग्रन्थकार ने इस नाम का कहीं उल्लेख नहीं किया है, तथापि उसके गुर्जरानुवाद से इसका पता चलता है। अन्य टीकाओं में जहाँ ईशावास्य के १८ मन्त्र हैं, वहाँ इस व्याख्या मे १७ मन्त्र ही हैं। 'पूषन्नेकर्षे' आदि मन्त्र माध्यंदिनी शाखा गत न होने के कारण इसमे विवृत नहीं हुआ है। कुछ पाठभेद भी मिलता है।

प्रस्तुत टीका मे शांकरभाष्य प्रतिपादित सिद्धान्त का प्रत्यक्ष विरोध कर शु० सिद्धान्त की स्थापना की गई है। टीका यद्यपि संक्षिप्त है तथापि मन्त्रार्थ के अवबोध के लिये पर्याप्त है। यह विशेषता है कि कहीं भी अर्थ की खींचातानी नहीं की गई है, सरल पद्धति से अर्थ का दोहन किया गया है।

प्रथम मन्त्र मे परमेश्वर-स्वरूप और उत्तम भक्तों की तदधीनता के आचरण का कथन होकर द्वि० मन्त्र मे मर्यादास्थित जीवों के लिये भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करने का निरूपण है। तृ० मन्त्र मे भगवत्प्रसादार्थ कर्म न करने से अनिष्ट फल का उल्लेख कर चोथे मे श्रवण मनन की सुगमता के लिये पुन. परमात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। पंचन मे ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयता एवं छठे मन्त्र मे सर्वत्र ब्रह्म-दृष्टि

रखने वाले भक्त के मनन की सफलता कही गई है। सातवें में सफल निदिध्यासन का वर्णन है तो अष्टम मन्त्र में षड्गुण परिपूर्ण परमात्मा कथन है, और उसकी कृपा की महत्ता का दिग्दर्शन। टीकाकार के अभिमत संहिता पाठ के अनुसार यहाँ [आठ मंत्र पर] प्रथम अनुवाक समाप्त होता है।

"अन्धंतम०" इत्यादि नवम मन्त्र में उस फल का कथन है जिसमें प्रथम उक्त साधन फल के विपरीत मननादि करने से प्राप्त होता है, अर्थात् विरुद्ध आचारण करने वाले के फल का कथन है। दशम के उसी का स्पष्टीकरण, एकादश से लेकर चतुर्दश मन्त्र तक वेदार्थ ब्रह्मज्ञान के विरुद्ध अवैध आचरण करने के परिणामों का और यथार्थज्ञान के फलों का निरूपण किया गया है। पन्द्रहवें मन्त्र में निवेदन और वरण-निरूपण द्वारा उस अनीशता का परिहार किया गया है, जो मर्यादविरुद्ध क्रियाकलाप के अनुष्ठान से आती है। 'अग्ने नय सुपथा०' इस १६ वें मन्त्र में श्रवण मनन सेवनादि भक्ति की सार्थकता के लिये परमात्मा से प्रार्थना का निरूपण है, और सत्रहवें मन्त्र में ज्ञान के स्वरूप का।

इस शाखा का यह मन्त्र इस प्रकार है:—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् योसावादित्ये पुरुषः सोसावहं ओं खं ब्रह्म।" इसमें जीव की मुक्ति का निरूपण कर व्याख्या समाप्त की गई है।

५ भावार्थदीपिका—टीका। गुर्जरानुवाद पं० मोहनलाल शास्त्री इस संस्कृत टीका के गुजराती भाषानुवाद श्रीज्येष्टालाल गोवर्द्धनदास शाह। मूल ग्रन्थ के साथ ही प्रकाशित।

अनुवाद सरल और भावावगाही एवं मूल ग्रन्थ के अर्थ को स्पष्ट करने वाला है। इसमें संक्षेप रीति से उसी विषय का प्रतिपादन है जो मूल में है।

६ 'पुष्टिमार्ग-प्रपा' सं० टीका पं० श्रीसवलकिशोर जी चतुर्वेद द्वारा रचित। वल्लभ पुस्तकालय मथुरा द्वारा सं० २०१० में प्रकाशित।

यह एक साधारणतया शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की छाया लेकर रचा हुआ मन्त्रों का अर्थ है, जिसमें न तो शास्त्रीय दृष्टि से पंचाधिकरण का कोई सम्बन्ध है और न किसी सिद्धान्त का सामूहिक रूप से व्याख्यान ही प्रस्तुत किया गया है। मन्त्रों से शु० सम्प्रदायानुसार तत्वों का

निचोड़-सा लिया गया है, जिसमें उपक्रम, उपसंहार मन्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध जैसी कोई मौलिक बात नहीं है। टीकाकार के कथनानुसार मन्त्रों में क्रमश इस प्रकार का वर्णन है —

१ भोजनाच्छादन विषयक चिन्तात्याग और भगवत्प्रसाद से निर्वाह।
२ भगवत्परितोषार्थ कर्म।
३ गुणानुवाद में विरक्ति का फल।
४ भगवत्स्वरूप और अन्याश्रयता।
५ भगवान् की विरुद्ध धर्माश्रयता।
६ उक्त ज्ञान से संशयोच्छेद।
७ विरहावस्था में सर्वात्मभाव का फल।
८ विरह में ब्रह्म-साक्षात्कार।
९ भगवत्प्रीत्यर्थ न होने वाले कर्म ही अनर्थकारिता।
१० ज्ञान कर्म की अलौकिकता।
११ भगवदीय ज्ञान कर्म का फल अमृताशन।
१२ अन्धतम प्रवेश का कारण।
१३ भगवत्स्वरूप की परात्परता।
१४ संभव और असंभव का फल निरूपण।
१५ व्रजांगनाओं की भावना से भावित विरहानुभव का वर्णन।
१६ और १७ विरह कालिक फलावस्था के अनुभव।
१८ आचार्य चरण से शरण की प्रार्थना।

इस टीका के निर्माण में श्रीबलभद्र शर्मा द्वारा रचित बालभाष्य की छाया ली गई है।

पुष्टिमार्गीय प्रपा सं० टीका का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद। अनुवादक प० रघुनाथप्रसाद चतुर्वेद। मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित। जिसमें भाषान्तर के अतिरिक्त कोई विशेष विवरण नहीं है।

केनोपनिषद् और उसकी व्याख्याएँ:—

(१) केन मनस्विनी व्याख्या सं० रचयिता पो० श्रीबालकृष्ण शास्त्री। विद्या विभाग कांकरौली द्वारा सं० १०१२ में प्रकाशित।

केन उपनिषद् तवल्कार ब्राह्मण का नवमाध्याय है। 'तवल्कार'

और 'ब्राह्मण उपनिषद्' भी इसका नाम है। प्रारम्भिक प्रश्न में 'केन' शब्द के आने से इसका यह नाम पड़ा है।

(१) मनस्विनी टीका के अनुसार इसका प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है:—

भक्ति प्रतिपादक यह उपनिषद् चार खण्डों में विभाजित है और इसके निम्न कारण हैं। (क) चारों वेदों का विशिष्ट अर्थ भगवत्सेवा होने के प्रतीक रूप इसके चार खण्ड हैं। (ख) भक्तिमार्ग में श्रीहरि चतुः पुरुषार्थ रूप है। और (ग) सेवामार्ग अनुबन्ध चतुष्टय पर आधारित है अतः चार खण्ड हैं।

प्रथम खण्ड:—आठ मन्त्रों में बाह्य और आभ्यन्तर प्रमाण से अलौकिकेन्द्रिय ब्रह्म का प्रतिपादन है, जिसमें प्रथम में प्रश्न और सात में उत्तर हैं। इस खण्ड में प्रमाण के द्वारा भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

द्वि० खण्ड:—पाँच मन्त्रों में प्रमेय में बुद्धि दोष से होने वाले पाँच प्रकार के दोषों का निरास किया गया है। इसमें प्रमेय बल से भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता कही है।

तृ० खण्ड:—बारह मन्त्र हैं। जिसमें अग्नि, वायु तथा इन्द्र के उपाख्यान द्वारा भक्ति में संभावित अभिमान दोष की निवृत्ति उमादेवी के संग द्वारा वर्णित है। अतः साधन की दृष्टि से भक्ति उदात्तता का वर्णन है।

च० खण्ड:—नौ मन्त्र हैं। फलगत पंचविध दोष की निवृत्ति द्वारा फल रूप में भक्ति के महत्व का कथन है। शेष चार मन्त्र के उपक्रम उपसंहार द्वारा प्रतिपाद्य भक्ति विषय का उत्कर्ष वर्णित है।

प्रतिपादन की शैली से मनस्विनी टीका मननीय है, प्रस्तुत व्याख्या की प्रारम्भिक भूमिका में पं० कंठमणि शास्त्री ने एतत्संबन्धी सभी जिज्ञासाओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। यह भूमिका एक प्रकार से इसका संक्षिप्त अनुवाद है।

(२) केन उपनिषद्-भाष्यम् सं० रचयिता पं० श्रीगोकुलदासजी शास्त्री। विट्ठलनाथ प्रेस कोटा द्वारा सं० २००३ में प्रकाशित।

भक्ति पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त दृष्टि से तात्विक प्रतिपादन में यह एक

महत्वपूर्ण भाष्य है। जैसा कि मन्त्रों के प्रारम्भ मे प्रश्न-निरूपण द्वारा जिज्ञासा के अवतरण के अनन्तर समाधान है, उसका स्पष्टीकरण इस भाष्य मे किया गया है। श्रुति, गीता, भागवत, ब्रह्मसूत्रों के प्रमाण से उपनिषद् प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि करते हुए भाष्य मे परमत का भी खण्डन किया गया है। शब्दार्थ निदर्शन के साथ मन्त्र के रहस्योद्घाटन म भाष्यकार ने अपने भक्ति-भावमय अनुभव का साक्षात्कार सा कराया है। इसकी रचना प्रथमपीठाधीश श्रीविट्ठलनाथजी महाराज की अन्त स्थ प्रेरणा से की गई है, ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

(३) केन उपनिषद् भाष्य का हिन्दी भाषानुवाद। मूल ग्रन्थकार ने ही इस अनुवाद को साथ म ही सन्निविष्ट किया है, जो लोक भाषागत होने के कारण अभिप्राय का विशेष स्पष्टीकरण करता है। इसमे भी शका समाधानपूर्वक विषय के प्रतिपादन द्वारा सप्रमाण सैद्धान्तिक कथन को पुष्ट किया गया है।

इस भाष्य की समाप्ति के अनन्तर ग्रन्थकार ने पृथक् रूप म शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अन्तर्गत 'प्रथम फलरूप नित्यलीला का वर्णन' नामक एक अनुच्छेद हिन्दी मे लिखा है। इस निबन्ध मे विद्वान लेखक ने केनोपनिषद् का सहारा लेकर अद्वैत सिद्धान्त के क्रमिक विकास पर दृष्टि डालते हुए शकराचार्य आदि सभी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्ता का सामयिक समन्वय किया है, साथ ही श्रीवल्लभाचार्य के भक्तिमार्ग का वैशिष्ट्य बताकर उनके सिद्धान्त की वर्तमान-काल म उपयोगिता बताई है। पुराण, श्रुति, स्मृति, आदि के वचनों से जीव के परम कर्तव्य भगवत्सेवा की स्थापना मे उन्होंने उसकी परमफलता का विवेचन किया है। स्वरूप सेवा किस प्रकार और किस भावभावना से करना चाहिये ? तदर्थ इस विवेचन मे सुन्दर ढग से प्रकाश डाला है।

तात्पर्य यह कि–इस लेख म प्राय शुद्धाद्वैत के सभी बडे बडे सिद्धान्तों की रूप रेखा और सेवा का क्या रहस्य है ? यह भी विदित हो जाता है।

३ कठोपनिषद्—

यह कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा की उपनिषद् है। इसमे प्रथम अ० की प्र० वल्ली म २६, द्वि० मे २५, तृ० १७ मन्त्र हैं। द्वि० अ० की

च० वल्ली में १४, पञ्चम वल्ली में १५, और षष्ठ वल्ली में १८ मन्त्र हैं। इस प्रकार दो अध्यायों में ६ वल्ली और ११८ मन्त्र हैं। प्रस्तुत उपनिषद् में नचिकेता और यम के सम्वादरूप में जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में सूक्ष्म विवेचन है।

(१) कठोपनिषद् भाष्यम्। रचयिता भा०मा०पचनदी श्रीगोवर्द्धन भट्ट। (श्रीगट्टूलालजी) विद्या वि० नाथद्वारा से स० १९८६ में प्रकाशित।

भारत मार्तंड ने इसकी प्रथम वल्ली का सम्पूर्ण और द्वि० वल्ली के १३ मन्त्रों तक समग्र तथा १४ पर थोड़ा भाष्य रचा है। इस उपनिषद् पर तत्कृत भाष्य रचना इतनी ही है। ऐसा विदित होता है कि वे इसे पूर्ण करने का अवसर न पा सके थे।

प्र० वल्ली में वेदज्ञान के सम्बन्ध में उत्तमाधिकारी के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। द्वि० वल्ली में वक्ता की प्रसन्नता पर उत्तमाधिकारी के परिज्ञानार्थ श्रेय और प्रेय इन दो के स्वरूप और फल का तारतम्य कहा गया है। भाष्यकार की दृष्टि में–प्रारम्भ में कटु होने पर भी परिणाम में सुखावह स्थिति को श्रेय–जैसा कि रोगी के लिये भेषज वत् अपवर्गादि लक्षण कहा गया है, अथच आदि में मधुर होकर परिणाम में दु:खप्रद प्रेय—जैसा कि रोगी के लिये कुपथ्य-पशुपुत्रादि लक्षण संसार कहा गया है। गीता में इन दोनों को सात्विक, राजस सुख की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार नचिकेता की प्रेय के प्रति सर्वथा उपेक्ष्य बुद्धि देखकर प्रसन्न होकर मृत्यु ने १२ मन्त्रों में जीव के वास्तविक रूप और लाभ का वर्णन किया है। १३ वे मन्त्र में उसका उपसंहार है। १४ वें मन्त्र में ब्रह्म विषयक प्रश्न हैं, जहाँ उक्त भाष्य समाप्त हो जाता है।

४ मुण्डकोपनिषद्—

(१) मुण्डक उपनिषद् पर मठपति जयगोपाल भट्ट कृत भाष्य है, जो अनुपलब्ध है। उन्होंने स्वरचित 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के भाष्योपक्रम में लिखा है "तत्र गोपालतापिनी कृष्णोपनिषदौतु स्पष्टार्थे एव मुण्डकोपनिषद् दुरूहापि त्वेतन्पेक्षया स्वल्पेति पश्चाद् व्याख्यास्यते।" ऐसा विदित होता है कि–उन्होंने तैत्तिरीय भाष्य के अनन्तर इसकी रचना की थी। यह भी सम्भव है कि वे किसी कारणवश फिर उसे पूर्ण न भी कर पाये हों।

अथर्व परिशिष्ट के अनुसार यह अथर्व शाखीय २८ लघु उपनिषदों

में से प्रथम है। नारायण विरचित मुंडकोपनिषद्-दीपिका में कहा गया है कि—"चीर्णे शिरोव्रते ध्येयं तेन मुंडक उच्यते, खण्डषट्कं त्रिमुंड च शौनकीयं श्रुते. शिर.।" इसमें तीन मुंडक हैं और प्रत्येक में दो-दो खण्ड हैं। इसमें ब्रह्म-सम्बन्धी सिद्धान्त का जिस सुन्दर ढङ्ग से निरूपण है वह मननीय और गंभीरार्थ चिन्तन पर प्रकाश डालने वाला है। मंत्रों में बड़ी ही सरल रीति से वैदिक तत्व का विवेचन इसकी विशेषता है। शु० सिद्धान्त के अधिकांश स्थलों पर इसके मन्त्रों का प्रमाण दिया जाता है।

५ मांडूक्योपनिषद् दीपिका—

प्रस्तुत उपनिषद् अथर्ववेदीय है। ऋग्वेद की शाखाओं में भी माण्डूकेय नामक एक शाखा का नाम आता है। इसमें १२ मन्त्र हैं, जिनमें ओंकार उसके अकार, उकार, मकार नामक तीनों पादों तथा उनसे विलक्षण आत्मारूप चतुर्थ पाद प्रणवात्मक ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है। रूपसृष्टि के अनुसार नामसृष्टि भी ब्रह्ममय है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

(१) इस उपनिषद् पर श्रीपुरुषोत्तमजी कृत यह दीपिका नामक टीका है, जो गौडपाद कारिका के विवरण के साथ पु० कार्यालय बम्बई से सं० १९९० में प्रकाशित।

उक्त कारिकाओं के वैतथ्य नामक द्वि० प्रकरण पर श्रीपुरुषोत्तम जी ने 'वैतथ्य प्रकरण विवरण' नामक निबन्ध लिखा है।

वेद और वेदान्तात्मक उपनिषदों का बीज प्रणव ओंकार है वह ब्रह्मवाचक है, उसके द्वारा कार्यरूप में प्रसृत वेद भी ब्रह्म का अभिधायक है, एतावता ओंकार भी आत्म ब्रह्मरूप है। वह कार्यकारणरूप से सर्वत्र व्यापक है, अत नामप्रपञ्चरूप समस्त वाङ्मय जो ओंकार वाच्य का वाचक है ओंकार का ही विवरण है वह चतुष्पाद है। इस प्रकार इस उपनिषद् पर 'दीपिका' टीका द्वारा प्रकाश डाला और परमार्थिक फल का सम्यक् विवेचन कर उसके वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

इस पर उपलब्ध गौडपाद आचार्य की २३ कारिकाओं का वास्तविक अर्थ निरूपण करते हुए, वैतथ्य प्रकरण की ३८ कारिकाओं पर

भी प्रकाश डालते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी ने शास्त्रीय भ्रान्ति का निराकरण कर शु० वेदान्त का स्थापन किया है।

गौडपाद कारिका व्याख्यान के सम्बन्ध में श्रीपुरुषोत्तम जी ने शा० तत्वदीप निबन्ध आवरण भंग [कारिका ६१] में लिखा है:— "गौडवार्तिक-प्रकरण-चतुष्टयार्थस्तु मया तद्व्याख्याने सोपपत्तिको निरूपित इति तत्तोवधेयः।" इससे विदित होता है कि 'आवरण-भंग' रचना के पूर्व इसकी रचना की गई है।

६ तैत्तिरीयोपनिषद्—

कृष्णयजु की तैत्तिरीय संहिता का तैत्तिरीय ब्राह्मण है, उसका अन्तिम भाग तैत्तिरीय आरण्यक है, जिसके १० प्रपाठकों में से ७ से ६ प्रपाठकों को 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कहा जाता है। सातवाँ प्रपाठक 'शिक्षा-वल्ली,' आठवाँ 'ब्रह्मानन्द-वल्ली,' और नववाँ 'भृगुवल्ली' नाम से विख्यात है। प्रथम में १२, द्वि० में ६ और तृ० में १० अनुवाक हैं।

इस पर निम्न व्याख्या उपलब्ध हैं।

(१) इसके आनन्द-वल्ली नामक प्रकरण पर मठपति श्रीजयगोपाल भट्ट कृत भाष्य है।

(२) प्रस्तुत भाष्य का गुर्जर भाषानुवाद श्रीमूलचन्द तुलसीदास तैली वाला द्वारा रचित है। दोनों ग्रन्थ अनुवादक द्वारा बंबई से सं०१६७५ में प्रकाशित हैं।

शु० सिद्धान्त की दृष्टि से 'आनन्दवल्ली' का बड़ा महत्व है। आनन्दमय परमात्मा के आनन्द की ओर दिक्संसूचन करना उसका मुख्य लक्ष्य है। इसी पर मठपति जयगोपाल भट्ट ने विशेष मीमांसा की है। प्रस्तुत आनन्दवल्ली के अनुवाकों में मन्त्रों की कोई संख्या नहीं है। छोटे-छोटे सरल किन्तु गंभीरार्थक वाक्यों में ब्रह्मानन्द का सविस्तर वर्णन किया गया है, और जगत में स्वल्पातिस्वल्प रूप से विद्यमान आनन्द का पारंपरिक विकास बताकर निरवधि रूप में उसे परब्रह्म में प्रतिष्ठित कहा गया है।

मठपति कृत भाष्यानुसार इसमें अनुवाकों का कोई विभाग नहीं है, केवल तीन वल्लियों में ही उपनिषद् विभक्त है। आनन्दवल्ली में अर्थानुगुण्य न होने के कारण पाठसौर्य के लिये इस प्रकार के अनुवाकों

का विभाग पीछे से कल्पित किया गया है, ऐसा अनुमान होता है। तीन वल्लियाँ ही इसका समर्थन करती हैं, सायण का भी यही मत है। अन्य भाष्यों में जहाँ तैत्तिरीयोपनिषद् का उपन्यास किया गया है, वहाँ भी अनुवाक के रूप में न होकर वल्लियों के रूप में ही उसका उल्लेख मिलता है।

जयगोपाल कृत भाष्य के उपक्रम से विदित होता है कि उन्होंने उत्कंठावश प्रथम 'आनन्द वल्ली' का ही भाष्य लिखा है। 'शिक्षावल्ली' की भाष्य रचना को उन्होंने बाद में प्रतिज्ञात किया है। पर 'आनन्द-वल्ली' के अतिरिक्त अन्य वल्लियों का उनका भाष्य नहीं मिलता। इसकी रचना शांकर-भाष्य के सिद्धान्त-खंडनार्थ की गई है, ऐसा ग्रन्थकार का स्पष्ट कथन है।

७ छान्दोग्योपनिषद् —

यह उपनिषद् सामवेद की कौथुमी शाखा के ब्राह्मण के अन्तर्गत है, जो ४० भागों में विभक्त है। प्राथमिक २५ भागों की 'तांड्य' अथवा 'पंचविंश' संज्ञा है। इसके आगे के ५ भाग षड्विंश ब्राह्मण नाम से प्रख्यात हैं। अगले दो भाग मन्त्र, ब्राह्मण और अन्तिम ८ भाग 'छान्दोग्योपनिषद्' नाम से विदित हैं। यह सामवेद की तवल्कार शाखा की उपनिषद् है। [वै सा०]

प्रस्तुत उपनिषद् में ८ अध्याय या प्रपाठक हैं, जिसमें कई खण्ड और मन्त्र हैं।

इस पर निम्नलिखित व्याख्याएँ मिलती हैं।

१ छान्दग्योपनिषद् भाष्य—योगि श्री गोपेश्वरजी प्रणीत। अप्रकाशित।
२ छान्दग्योपनिषद् दीपिका—श्रीपुरुषोत्तमजी प्रणीत। अप्रकाशित।
३ छान्दोग्योपनिषद् शुद्धाद्वैत भाष्य—मा० श्रीगोवर्द्धन भट्ट...श्रीगट्टूलाल जी रचित—अप्रकाशित।

(१) (२) (३) शु० सा० दृष्टि से निर्मित १ से ३ विवरण उपलब्ध नहीं है केवल उनकी रचना का संकेत मिलता है।

४ छान्दोग्योपनिषद् भगवद्धर्म बोध-भाष्य—रचयिता श्री रमानाथ शास्त्री। प्रथमाध्याय मात्र। सं० १९८४ में नाथद्वारा से प्रकाशित। इसके अनुसार 'छान्दोग्य' शब्द का अर्थ आल्हादकारी छन्दरूप

भगवान् के स्वरूप का प्रतिपादन करना है। भगवद्गुणों के गान करने वाले भगवद्भक्त ऋषि 'छन्दोग' कहलाते हैं। छन्दोगों की गीति को 'छान्दोग्या' कहते हैं। ऐसी गीति जिसके द्वारा भगवान् के समीप निरंतर गति होती है वह उपनिषद् माहात्म्यज्ञान-पूर्विका भक्ति है। उसको उत्पन्न करने वाले वेद के एक खण्ड को 'छान्दोग्योपनिषद्' कहा जाता है। खण्डों और मन्त्रों में विविध रूप से कर्म, ज्ञान, भक्ति की उपादेयता प्रतिपादन कर परब्रह्म परमात्मा के ब्रह्मरूप का वर्णन है, जिसमें स्तुति के सम्बन्ध में विशेष विचार किया गया है—

इस प्रथमाध्याय में निम्नलिखित खंड और उनके मन्त्र हैं।

खंड—	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
मन्त्र—	१०	१४	१२	५	५	८	९	८	४	११	९	५	४

इसके प्रथम खंड में कर्माभ्युदयरूप उपासना का प्रतिपादन है, जो प्रथम प्रकार से उद्गीथोपासना कहलाती है। 'उद्गीथाक्षर' शब्द का तात्पर्य भगवन्नाम है, उसी के उपाख्यान महात्म्य-ख्यापन का यहाँ वर्णन किया गया है। द्वितीय खंड में अध्यात्मादि भिन्न भिन्न प्रकार से उद्गीथ की कर्मानुगत उपासना वर्णित है। तृतीय खंड में अधिदैवत प्रकरण में ज्ञानानुगत उपासना का कथन किया है। चतुर्थ खंड में इन सब उपासनाओं में स्वरूपगत भेद नहीं है, प्रत्युत प्रकार भेद है, यह सिद्ध किया है। पञ्चम ख० में अधिदैव और अध्यात्म उभयविध उपासनाओं के एकत्व का, और षष्ठ खंड में ज्ञानभक्ति के निरूपणार्थ तदवयभूत ऋक्, साम आदि पदार्थों का निरूपण हुआ है। सप्तम खंड में अधिभूत आदि समस्त पदार्थ ब्रह्मस्वरूप हैं इसे बताया गया है।

अष्टम खंड में परोवरीयस्त्व गुणक उपासनान्तर का वर्णन ऐतिहासिक कथा के उपोद्घातरूप में है।

उद्गीथ विद्या में कुशल १—शिलक शालावत्य, २—चैकितायन दाल्भ्य, ३—प्रवाहण जैवलि। यह तीनों परस्पर प्रश्न करते और उत्तर द्वारा स्वकीय जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं। यहाँ सामादि लोकों का भी निरूपण होता है।

नवम खंड में भगवान् पुरुषोत्तम ही सर्वाश्रय है, आकाशनाम-

धारी है, यह बतलाकर इनके परवरीयस्त्व गुण की स्थापना की गई है। परइन्द्रियादि से भी पर, वरअक्षर से भी विशिष्ट जो पूर्ण पुरुषोत्तम हैं वह परोवरीयान् कहलाते हैं, उनके भाव को परोवरीयस्त्व कहा जाता है, उन्हीं के गुणों का कथन यहाँ उपलब्ध है।

दशम खंड में प्रस्ताव और प्रतीहार रूप विषय में आदित्यादि देवस्थ परमात्मा ही है, इसे उपरित चाक्रायण नामक ऋषि के उपाख्यान से कहा गया है।

एकादश खंड में भी सर्वसिद्धान्तरूप से इसी उपासना का कथन है। द्वादश खंड में पूर्व खंड में वर्णित अन्न की कष्टदशा का निवारण करने के लिये वेद में अन्न की उपासना का जो वर्णन मिलता है, वह कनिष्ठाधिकारी की प्रवृत्ति के लिये है, मुख्याधिकारी के लिये नहीं, यह कहा गया है। त्रयोदश खंड में-पूर्व खण्ड वर्णित सामावयवरूप भक्ति विषयक उपासना कहने के बाद सामान्यस्वरूप स्तोमाक्षर की उपासना का उपदेश किया गया है। स्तोभ अक्षर समूह को कहते हैं। लोकगीतों में जिस प्रकार तान साधने के लिये 'हे रामा' आदि शब्दों की पुट लगाई जाती है, उसी प्रकार साम-गायन में भी कई स्तोमाक्षर हैं, जिनमें 'हा 'उ कार' भी एक है। इस साम-गान में गाई जाने वाली स्तोमाक्षरों की उपासना भी अभिन्न दृष्टि से ओंकारवत् परब्रह्म की ही अद्वैत-भावना से करना चाहिये, इसका निर्धारण किया गया है।

इस प्रकार शु० सिद्धान्त की दृष्टि से स्तुति-सम्बन्धी भगवद्-भक्ति का क्या महत्व है ? यह इस उपनिषद् के प्रथमाध्याय में प्रतिपादित किया है। यह विवरण यहाँ समाप्त हो जाता है।

८ बृहदारण्यकोपनिषद्——

शुक्ल यजु की माध्यन्दिन और काण्व नामक दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। दोनों को 'शतपथ ब्राह्मण' कहते हैं। अन्तिम ६ अध्याय बृहदारण्यक उपनिषद् कहलाते हैं। इसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों ही सम्मिलित हैं। अन्य सभी उपनिषदों से बृहत् होने के कारण भी इसका नाम इस प्रकार रखा गया है। आरण्यक की अपेक्षा इसम

उपनिषद् भाग अधिक है। एकत्र ६ अध्यायों में ४७ ब्राह्मण और ४४२ मन्त्रों द्वारा इसमें ब्रह्म तथा तत्सम्बन्धी विषयों का प्रश्न उत्तर रूप में समीचीन विवेचन है।

(१) इस पर योगि श्रीगोपेश्वरजी विरचित भाष्य सुना जाता है जो सम्प्रति अप्राप्त है।

९ श्वेताश्वतरोपनिषद्—

कृष्ण यजु की अनुपलब्ध श्वेताश्वतर संहिता का ही अंश यह उपनिषद् है जिसमें ६ अध्याय हैं। क्रमशः १६, १०, २१, २२, १४ और २३ मन्त्रों द्वारा उक्त अध्यायों में परब्रह्म के साक्षात्कार का उपाय ध्यान, ध्यान की सिद्धि, प्रार्थना के प्रकार, ब्रह्ममहिमा, वेदान्त, सांख्य योग आदि के प्रासंगिक विषयों का इसमें अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है।

इस पर श्रीपुरुषोत्तम जी विरचित श्वेताश्वतरोपनिषद्-दीपिका नामक टीका सुनी जाती है, जो सम्प्रति अनुपलब्ध होने से अप्रकाशित है।

१० कैवल्योपनिषद्—

यह अथर्ववेद की उपनिषद् है। इसके प्र० खं० में १६, द्वि० में ४ मन्त्र हैं। एकत्र २४ मन्त्रों में आश्वलायन ऋषि ने परमेष्ठी से ब्रह्मविद्या सम्बन्ध में प्रश्न किया है जिसके फलस्वरूप में कैवल्य का विवेचन है।

इस पर भी श्रीपुरुषोत्तमजी रचित दीपिका नामक टीका सुनी जाती है, जो अप्राप्त है।

११ उपनिषदर्थसंग्रहः—

प्रस्तुत नाम से श्रीपुरुषोत्तमजी विरचित एक उपनिषद् विवेचन सुना जाता है, जिसमें विभिन्न श्रुतियों के अर्थों का शु० सिद्धान्तानुसार संकलन किया गया है। सम्प्रति यह अप्राप्त है।

१२ ब्रह्मोपनिषद्—

अथर्व परिशिष्ट के कथनानुसार अथर्व शाखीय लघु २८ उपनिषदों में से यह एक है। इसकी क्रम सं० १० है।

इस पर श्रीपुरुषोत्तम जी निर्मित 'दीपिका' नाम की टीका सुनी जाती है। जो सम्प्रति प्राप्त नहीं है।

१३ नृसिंहोत्तर तापिन्युपनिषदः—

अथर्व परिशिष्ट के कथनानुसार यह अथर्ववेद की ७१ वीं उपनिषद् है। जिसमे देवों और प्रजापति के प्रश्नोत्तर-रूप में सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। देवों की प्रार्थना पर जब प्रजापति ने परब्रह्म स्वरूप श्रीनृसिंह 'पूर्ण पुरुषोत्तम' का प्रतिबोधन किया और उनके मन्त्रराज का उद्धार, तो प्रणव की मात्राओं और मन्त्रराज के पदों की एकार्थता सिद्ध होने से देववर्ग को इस प्रकार का सन्देह हुआ कि शरीर आत्मा और ब्रह्म के अभद ज्ञानार्थ ब्रह्म वाचक ओंकार की सगति किस प्रकार हो सकती है ? इस सन्देह का निराकरण प्रजापति द्वारा इस नृसिंह तापिनी म किया गया है। माण्डूक्योपनिषद् के समान भी ओंकार रूप परब्रह्म की आत्मा के साथ अभेदता सिद्ध करते हुए ब्रह्मानन्द परम फल की प्राप्ति का निर्देश करना इस उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय है।

इस पर श्रीपुरुषोत्तमजी विनिर्मित 'दीपिका' नाम की टीका है, जो पुष्टि० मा० सि० कार्यालय बम्बई से स० १९८७ मे प्रकाशित है।

इसके मन्त्रों द्वारा सिद्ध किए हुए शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन करना श्रीपुरुषोत्तम जी का लक्ष्य है। भगवद्रुप प्रपच म मायिकता का लवलेश भी नहीं है, इसका उपसहार म विवेचन है। इस छोटे उपनिषद् के प्रत्येक मन्त्र पर भाष्य की रचना न कर उसके उतने ही अश का विवेचन करना दीपिका-टीका का लक्ष्य है, जहाँ मायावाद का सम्पर्क आता है।

नृसिंहोत्तर तापिनी के प्रमेय का वर्णन श्रीपुरुषोत्तमजी ने शास्त्रार्थ निबन्ध प्रकरण की 'यन्मायिकत्व-कथन पुराणेषु प्रदृश्यते" (स० ८२) इस कारिका के आवरणभग में किया है, जहाँ मायावाद का निरास करते हुए वल्लभाचार्य ने ब्रह्मवाद की चर्चा की है।

इससे विदित होता है कि श्रीपुरुषोत्तमजी ने 'नृसिहोत्तर-तापिनी' की दीपिका टीका रचना के बाद निबध के 'आवरणभग' टीका की रचना की है।

१४ आथर्वण नारायणोपनिषद्—

इस पर निम्नलिखित भाष्य-रचना हुई है —

(१) वेदान्त-विद्यालंकार भाष्य ..रचयिता गो० श्रीअनिरुद्धाचार्य जी महाराज।

प्रस्तुत उपनिषद् में नारायणस्वरूप परब्रह्म का प्रतिपादन किया है। नारायण नाम परब्रह्म का है और तद्रूप से सर्वत्र प्रतिपादित परतत्व ही समस्त प्रपंच का आदि कारण सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कर्ता है, वही समस्त देवस्वरूप है, सर्वत्र व्यापक, गुणातीत रूप में विद्यमान है। उनका नाम मन्त्र..."ओं नमोनारायणाय" अष्टाक्षर सर्वकामनाओं का साधक और परमफलदायक है, यही प्रणवरूप है। इसके जापक निष्पाप होकर परम पद के अधिकारी होते हैं।

प्रस्तुत भाष्य में अन्य पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के सिद्धान्तों का उल्लेख कर शु० सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है . उसमें नारायण रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण और उनके भक्तिमार्ग का महत्व-प्रतिपादन है। भाष्य, गम्भीर अध्ययन शैली से लिखा गया है, और इस शताब्दी की एक अप्रतिम भाष्य रचना है।

(२) वेदान्त वि०लं० भाष्य-किरणावली व्याख्या। निर्माता श्रीहरिशंकर शास्त्री। उक्त ग्रन्थ ना० आ० मल कं० बंबई द्वारा सं० १९८७ में प्रकाशित।

भाष्य के गूढार्थ-प्रकटीकरणार्थ 'किरणावली' व्याख्या में सुन्दर समन्वय है। व्याख्याकार का मीमांसा-पाण्डित्य उपनिषद् के भाष्य पर नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है।

अथर्व परिशिष्ट के कथनानुसार यह अथर्व-शाखीय लघु (२८) उपनिषदों में २७ वीं है।

१५ गोपाल पूर्वतापिन्युपनिषद्—

इस पर निम्नलिखित टीका ग्रन्थों का परिचय मिलता है

(१) गो०पू० उपनिषद् व्याख्या। श्रीगि श्रीगोपेश्वरजी कृत अप्राप्त।

श्रीगोपेश्वरजी ने स्वरचित अणुभाष्य प्रकाश की रश्मि टीका में लिखा है..."कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहेति" श्रुत्यर्थस्तु टीकाया द्रष्टव्य.। अत्र प्रयोजनाभावान्न लिख्यते" [अणु० तृ० अ० तृ० पाद २० सूत्र रश्मि] पं० हरिशंकर शा० ने भी गो० तापिनी की भूमिका में उसका उल्लेख किया है। अत इसका होना संभावित है।

(२) ब्रह्मामृतभाष्य, गो० श्रीअनिरुद्धाचार्य रचित।

(३) ब्रह्मामृत भाष्य-पीयूषलहरी व्याख्या। गो० अनिरुद्धाचार्य द्वारा स्वकीय भाष्य पर स्वकीय टीका।

(४) ब्रह्म० भाष्य प्रस्तावना। श्री हरिशङ्कर शास्त्रि लिखित।

ब्रह्मामृत भाष्य और उसकी टीका पु० पुस्तकालय नडियाद से स० १९८४ में प्रकाशित है।

प्रस्तुत उपनिषद्, उसके भाष्य और विवरण में सप्रमाण सयुक्तिक श्रीपरब्रह्म गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण के गोपालमन्त्र और भक्ति सेवा तथा परमानन्द रूप लीलाफल का सम्यक् विवेचन हुआ है। विशेषतया इस पर प्रकाश डाला गया है कि–गोपालतापिन्युक्त मन्त्र अन्य मन्त्रों के समान नहीं है। कामना और निष्काम भाव से इसकी उपासना करने पर सभी फलों की संप्राप्ति होती है। यह भक्ति मार्गीय मन्त्रराज है, सर्व-समर्पण पूर्वक इसके अनुष्ठान या आचरण साक्षात् फलप्रापक है। भाष्य और टीका में शु० भ० मार्ग की दृष्टि से उसे सुव्यक्त करने का जो प्रयत्न हुआ है पूर्ण रूपेण सफल हुआ है।

१६—गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्:—

इस पर 'ब्रह्मामृत भाष्य' की रचना गो० श्रीअनिरुद्धाचार्य जी ने की है जो संप्रति अप्रकाशित है।

श्रुति रहस्य—

रचियता:—गो० श्रीगिरिधरजी महाराज काशी।

इस पर निम्नलिखित विवरण मिलते है:–

(१) श्रुति-रहस्य-प्रकाशः—पं० रामकृष्ण शास्त्री नेत काशीकृत।

(२) श्रुति-रहस्य-प्रकाश- गुर्जरानुवाद—श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला कृत। यह ग्रन्थ मूलचन्द तुलसीदास तेली० द्वारा बंई से सं० १९८२ में प्रकाशित है।

(३) श्रुतिरहस्य भाषा टीका–भारतेन्दु बाबू श्री हरिश्चन्द्रजी कृत। प्रकाशित। हरिश्चन्द्र काशी।

श्रुति-रहस्य नामक ग्रन्थ में श्रीगिरिधरजी महाराज ने पूर्ण पुरुषोत्तम और गुरु आचार्य जी के स्वरूप में अभेद मानकर श्रुति

स्मृति पुराणादि-वचनों से परमतोपन्यास एवं शङ्का-समाधान पूर्वक श्रीवल्लभाचार्य के स्वरूप का निरूपण किया है। ग्रन्थ में "नमो ब्रह्मणे नमोस्त्वग्नये" । इस मन्त्र को मुख्य लक्ष्य मान कर प्रतिपादित किया गया है कि—इस मन्त्र में श्रीवल्लभाचार्य के स्वरूप और अवतार का प्रयोजन क्या है ? उनमें और परब्रह्म श्रीकृष्ण के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। भारतीय संस्कृति ज्ञान-स्वरूप श्रीहरि और ज्ञान प्रदाता गुरु में एकात्म भाव का ही दर्शन कराती है, इसी भाव का लेकर ग्रन्थकार स्वकीय सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्रीगिरिधर जी ने "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा." । आदि मन्त्र द्वारा अर्थान्तरों का उपन्यास करते हुये प्रतिपाद्य अग्नि-वैश्वानरावतार श्रीवल्लभाचार्य के स्वरूप का जो विचार किया है वह माननीय है। इस मन्त्र के प्रतिपाद्य अर्थ में जिन विभिन्न मतों का उल्लेख होता है, उनमें मुख्य इस प्रकार हैं —

(१) सायणाचार्य —यज्ञ स्वरूप में इसे प्रतिपादित करते हैं।
(२) तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार इसका सूर्यपरक अर्थ होता है।
(३) व्याकरणाचार्यों की दृष्टि में शब्दरूप का वर्णन है।
(४) विद्यारण्य स्वामी इसका प्रणव परत्वेन व्याख्यान करते हैं।
(५) रामानुजाचार्य —इसे वासुदेव परत्वार्थ से विवृत करते हैं।
(६) वैष्णव धर्मानुसार —इसमें गोलोक धाम का वर्णन है।

श्रीगिरिधरजी मुख्यार्थरूप से वेद में वर्णित अग्नि स्वरूप को लेकर उसके अवतार श्रीवल्लभाचार्य का प्रतिपादन कर एक नई दिशा का समसूचन करते हैं।

श्रुति रहस्य में "नमो ब्रह्मणे०" इस मन्त्र में जिन आठ विशेषणों का निर्देश है वे आठ विशेषण श्रीवल्लभाचार्य के अष्टविध रूप का विश्लेषण करते हैं, इसका निर्देश करते हुए कहा गया है कि—वे ऐश्वर्यादि षड् धर्म रूप गुण और सयोग विप्रयोगात्मक दो धर्मी रूप में हैं। ग्रंथकार की आन्तरिक प्रेममयी भावना ने जिस प्रकार इस विषय

का स्वरूप प्रतिष्ठित किया है, ग्रन्थ के उपसंहार में उसका उल्लेख इस प्रकार है —

"*यथामतिविलासेन प्रेमोल्लासेन वर्णितम्*
श्रीमदाचार्य चरणा. प्रसीदन्तु स्वतः सदा।"

रामकृष्णशास्त्रिविरचित 'श्रुति-रहस्य प्रकाश' में उसके कठिनाशों का विवेचन है, और शङ्कासमाधान पूर्वक प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि। प्राय. इसी का अनुवाद भारतेन्दु कृत है।

मूलचन्द तुलसीदास तेलवाला कृत गुर्जरानुवाद दोनों टीकाओं के आधार पर किया गया है।

सूक्तार्थ-विवरण—

भगवद्विश्वास रूप वेद की संहिताओं के प्रत्येक अध्याय में अनेकों सूक्तों द्वारा परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए विविध रूपों में उसकी स्तुति की गई है, जिसके स्तोता वह परमाप्त महर्षि गण हैं, जिन्होंने तपःपूत होकर अनन्त साधनाओं की सिद्धि से परमात्मा के साक्षात् रूप के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया है। वेद के विभिन्न सूक्तों में जिन परमाप्त विषयक स्तुतियों का उल्लेख है, वे प्रस्तोता के हार्दिक सन्तोष की अभिव्यक्ति के साथ अध्ययनशील साधक जीव के लिए परम कल्याणप्राप्ति के साधक भी हैं और उनमें जो गम्भीर भाव भरे हैं वे उसकी जिज्ञासा के पूरक भी। उदात्त दिव्य-गुणों के धाम श्रीहरि के महात्म्य-चिन्तन और नामोच्चारण से जहाँ आध्यात्मिक पावित्र्य प्राप्त होता है, वहाँ पुनीत मन्त्रों के उच्चारण से वाणी का पावन भी होता है, एतावता दोनों साधनों से एक दिव्य आधिदैविक अनुभूति होती है जो-परम पद की प्रापिका मानी जाती है।

वैदिक रहस्य की गंभीर समन्वयात्मक चिन्तना के अभाव में साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है कि—इनमें विविध देवों की स्तुतियों का वर्णन होने के कारण बहुदेव-वाद का सिद्धान्त स्थापित है। इसी भ्रम के कारण अधिकाश पाश्चात्य विद्वानों ने इस ओर उपसाहास्पद चेष्टा द्वारा परम रहस्य के प्रति विपरीत भावना का प्रसार किया है।

यह उनका गंभीर चिन्तन नहीं है। परमात्मा के अनन्त दिव्य गुण समस्त विश्व में विस्तृत हैं। उनका आधिदैविक रूप देवों के रूप में अभिव्यक्त हुआ है अतः देवों को विभूति मानकर समष्टि रूप में उस परब्रह्म का प्रतिपादन वेदों में मिलता है, जो समस्त ज्ञान विज्ञान की राशि हैं, और जो सकाम और निष्काम दोनों जीवों के मनोरथ के पूरक हैं। सृष्टि की विभिन्नता प्रतिपादित करते हुये उनके मूलकारण अचिन्त्य, अनन्त शक्तिशाली परतत्व के प्रति अनेकत्व से एकत्व की ओर, और भेद में अभेद की ओर लेजाना ही इन सूक्तों का रहस्य है।

यद्यपि शु० सिद्धान्त के प्रतिपादन में स्थले-स्थले विभिन्न ऋचाओं द्वारा प्रमाण पुष्टि की गई है, तथापि समूहात्मक रूप में वेदों के आख्यान की ओर बहुत कम दृष्टि निक्षेप किया गया है, इसका कारण श्रीवल्लभाचार्य की वह प्राञ्जल दृष्टि है जिसके द्वारा वे वेद के अर्थज्ञान की कुञ्जी बतलाते हैं। उनका इस सम्बन्ध में कथन है कि— पदार्थ परिज्ञान के लिये किसी प्रकार की खींचातानी नहीं करनी चाहिये। सीधा और सरल उपाय यही है कि—

" य धातुशब्दा यथार्थे उपदेशे प्रकीर्तिता ।
तथैवार्थो वेदशास्त्रे कर्तव्यो नान्यथा क्वचित् ।"

आचार्य के उक्त कथनानुसार समन्वयात्मक रूप से वेद के अर्थ की निष्पत्ति अध्ययनशील व्यक्ति के लिये दुरूह होते हुए भी असंभव नहीं है, तथापि सौकर्य के लिये उनका प्रसङ्गिक विवेचन अपेक्षित तो होता ही है। विभिन्नसूक्तों का प्रतिपाद्य विषय क्या है? विद्वानों ने इस ओर प्रयत्न किया है, और तदनुरूप शु० पु० वाङ्मय में भी इस ओर कुछ साधना हुई है।

निम्नलिखित वैदिक सूक्तों पर संस्कृत टीकाओं की रचना है जो प्राप्त है पर सम्प्रति अप्रकाशित। इन सूक्तों पर विविध नाम से व्याख्यायें प्रो० गोपालकृष्ण शास्त्रि रचित हैं और जो उनके आत्मज प्रो० कण्ठमणि शास्त्री के पास सुरक्षित हैं। इनकी नामावली और परिचय इस प्रकार हैं —

(१) विष्णुसूक्त "अतोदेवा अवन्तु नः०" आदि ६ ऋचाएँ। [ऋ० सं० प्र० अष्टक, ५ अध्याय ५ सूक्त प्रातः सवन सोमातिरेक में शंसनीय। विष्णु देवत्य]
प्रतीक इस प्रकार है—

१—अतोदेवा अवन्तुनः० २—इदं विष्णु विचक्रमे०
३—त्रीणि पदा विचक्रमे० ४—विष्णोः कर्माणि पश्यत०
५—तद् विष्णोः परमं पदं ६—तद् विप्रासो विपन्यवो०

इन मन्त्रों मे स्पष्टतः श्रीविष्णु के स्वरूप और महात्म्य का प्रतिपादन होने से इस पर पो० बालकृष्ण शास्त्री ने "विष्णुसिद्धान्त-व्युत्पत्ति-सौरभ निर्द्धारिणी" नामक व्याख्या की है, जिसमें व्याकरण की व्युत्पत्ति को लेकर उक्त मन्त्रों मे पुष्टिमार्ग के सेव्य परमात्मा श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) के स्वरूप-माहात्म्य का प्रतिपादन है। प्रस्तुत ग्रन्थ का समर्पण पोद्दास्थ गो० श्रीविट्ठलनाथ जी (कन्हैयालाल जी) महाराज को किया गया है अतः इसकी रचना उनकी विद्यमानता में हुई थी।

यह ग्रन्थ श्रीबालकृष्ण शास्त्री जी द्वारा हस्त लिखित पंजिका सं० ४०, ग। ३७, ख। २, क, और ३, घ मे विद्यमान है।

(२) "परो मात्रया तन्वा" इत्यादि वशिष्ठदृष्ट सप्तर्च सूक्तः— [ऋ० ५ अ० ६ अ० २४ मं०] इसके मन्त्रों की प्रतीकः—

१—परो मात्रया तन्वा। *२—नते विष्णो०*
३—इरावती धेनुमती० *४—उरुं यज्ञाय०*
५—इन्द्रा विष्णु० *६—इयं मनीषा०*
७—वषट् ते विष्णो०

इन मन्त्रों की व्याख्या का नाम 'वि० सि० व्युत्पत्ति सौरभ-निर्द्धारिणी' है। [पंजिका सं० २, क। ३, ख, और २६, घ पर विद्यमान]

निम्नलिखित सूक्तों पर प० श्रीबालकृष्ण शास्त्री रचित 'भाष चरित्र' नामक व्याख्यायें हैं — जो अप्रकाशित हैं।

(३) "प्रव पान्तमन्धसो०" आदि दीर्घतमा ऋषि दृष्ट षड्चं द्वितीय वि णु सूक्त। [ऋ० २ अ० २ अ० २५ मन्त्र] इसकी मन्त्र प्रतीक —

१—प्रव पान्तमन्धसो० २—त्वेषमित्था समरण०
३—ताईं वर्द्धन्ति० ४—तत्तदिदस्य पौंस्न०
५—द्वे इदस्य क्रमणे० ६—चतुर्भिः साकं नव०

[प० स० ५ ख० ७६ ख० ३१ ग० ३५ रा और ७, पत्र ६ म लिखित]

(४) "वैश्वानराय धिषणा०" इत्यादि विश्वामित्र दृष्ट पचदशर्चं सूक्त [ऋ० २ अ० ८ अ०]—इसकी मन्त्र प्रतीक —

१ वैश्वानराय धिषणा २ सरोचयज्जनुषा०
३ ऋत्वादक्षस्य तरुषो० ४ आमन्द्रस्य सनि०
५ अग्नि सुम्नाय० ६ पावक शोचे तव हि०
७ आरोदसी अपृणदा० ८ नमस्य त हव्यदाति०
६ तिस्रोय मस्य० १० विशा कवि विश्पति०
११ सजिन्पते जठरेषु० १२ वैश्वानर प्रत्न था०
१३ ऋतावान यज्ञिय० १४ शुचिश्च यावनिमि०
१५ मन्द्र होतार शुचिच०

(५) वैश्वानराय मीढुषे "आदि ऋषि वामदेव दृष्ट पचदशर्च सूक्त है। [ऋ० ३ अ० ५ अ० १ अनु०] इसकी म त्र प्रतीक

१ वैश्वानराय मीढुषे० २ मा निन्दत य इमा०
३ साम द्वि बर्हा० ४ प्रता मग्निर्बभस०
५ अभ्रातरो न योषणो० ६ इदं मे अग्ने कियते०
७ तमिन्वे वस मना० ८ प्रवाच्य वचस ०
६ इदमुत्यन्महिमा० १० अधद्युतान पित्रो ०
११ अत वोचे तमसा० १२ किनो अस्य द्रविण०
१३ का मर्यादा वयुना० १४ अनिरेण वचसा०
१५ अस्य श्रिये समिधा०

(६) "भायामित्रो न शेव्यो" इत्यादि पंचर्चं सूक्तम्
[ऋ० २म ० २ अ० २६ मन्त्र] ।
[प० स० ३५ क ग पर विद्यमान]

(७) "नू मर्तो दयते० आदि सूक्तम् ।
[ऋ०५ अ० ६ अ० २५ मन्त्र,]
[प० स० २, ख पर विद्यमान]—

(८) 'ताना यास्तूत्युरमसि०' आदि सूक्तम्
[ऋ० २ अ० २ अ० २४ मन्त्र]
[प० स० ४२, ६, क पर विद्यमान]

(९) "मूर्धान दियो अरतिं०" इत्यादि सूक्तम्,
[ऋ०४ अ०५ अ०६ मन्त्र]
[प० स० २, ६ पर विद्यमान]

(१०) घृतस्य निष्णो०, इत्यादि सप्तर्चं सूक्तम्
[अ० ४ अ० ५ अ० १० मन्त्र]
इस सूक्त पर 'सिद्धान्त व्यु० सौ० निर्हारिणी' टीका है।
[प० स० २ ज पर विद्यमान]

(११) "पवमान सूक्तम्' इत्यादि मन्त्र ।
[ऋ० ६ अ० ७ अ० २३ मन्त्र ।
इस सूक्त पर मक्तितार्थ लिखा गया है । [पं० स० ११, ख पर विद्यमान] है—

(१२) " " इत्यादि नायमाहष्ट सूक्तम् ।
ऋ० अ० ऋ० प०
[प० स० २, ज पर विद्यमान,]

(१३) "चत्वारि शृंगात्रयोऽस्य-" इत्यादि वैश्वानर सूक्तम् ।
[ऋ० ३ ८ अ० १० मन्त्र] है —
इस सूक्त पर सक्तितार्थ विवरण है। प० रु० १, ख पर विद्यमान

(१४) "अग्निमीळे' रूप० इत्यादि मन्त्रेषु गद्यमन्त्राभिप्राय वर्णनम्,
[ऋ० २ म० २ म० २४ मन्त्र]

सम्प्रदाय के दीक्षामन्त्र का अभिप्राय इस सूक्त के मन्त्रों में वर्णित है। [प० स० ४ क पर विद्यमान]

(१५) विष्णुसूक्त मन्त्रेषु नवधा भक्ति प्रतिपादनम्

इस सूक्त द्वारा मन्त्रों में वर्णित नवधा भक्ति का विवेचन है, [प० स० ४, ख पर विद्यमान]।

(१६) पुरुष सूक्त अभिप्राय हिन्दी व्याख्यान गो० श्रीबाल शा० रचित। सहस्र 'शीर्षापुरुष' आदि पुरुष सूक्त परमात्मा के दिव्य स्वरूप का प्रतिपादक स्तोत्र हैं, जो शु० यजु० की माध्यदिनी शाखा के ३१ में अध्याय में है। इस पर ऋषि शोनक का भाष्य है, जिस मे 'अपरे' 'केचन' 'अन्ये' आदि द्वारा अन्य भाष्यकारों का भी संकेत किया गया है। यह याज्ञिक भाष्य उच्चकोटि का है।

इस पर उव्वट का भी भाष्य है जो ११ वीं शती में राजा भोज के शासन काल में हुए थे। उव्वट आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र थे, पुरुष सूक्त कई स्थानों में प्रकाशित है।

शु० स० की दृष्टि से उक्त विवेचन अभी तक अप्रकाशित हैं प०स० ४७, २, क पर विद्यमान है।

(१७) 'विष्णोर्नु क वीर्याणि०' इत्यादि पञ्च सूक्त [ऋ० २ अ० २ अ० २४ [मन्त्र,] है —

इस सूक्त में व्याख्यान द्वारा शु० सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। [प० स० ३५, क पर विद्यमान]

(१८) 'इद विष्णुर्विचक्रमे' इत्यादि विष्णुसूक्त। [ऋ० १ अ० २ अ० ७ मन्त्र]

प्रस्तुत सूक्त के मन्त्रार्थ द्वारा पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का सतुलन किया गया है। [प० ३७, ख पर विद्यमान]।

श्री बालकृष्ण शास्त्रि रचित उक्त सूक्तो की व्याख्याएँ सभी अप्रकाशित हैं, जो प० कण्ठमणि शास्त्री के संग्रह में विद्यमान हैं।

(१९) तैतिरीय ब्रह्मवल्ली भाष्यम्—भा० मा० श्री गट्टूलाला जी रचित। अप्रका०। कठोपनिषद् भाष्य भूमिका से ज्ञात।

प्रकीर्ण मन्त्र-व्याख्यान—

जैसा कि प्रथम कहा जाचुका है शु० सिद्धान्त की भित्ति प्रमाण-बल पर आधारित है। प्रमाणबल में भी परमाप्त भगवद् वचन रूप वेद पर इसका समस्त भार रखा हुआ है। यद्यपि अन्य गीता, ब्रह्मसूत्र, भागवत की समाधि-भाषा के वचनों का भी पूर्ण प्रमाणबल इसे प्राप्त है, तथापि वह वेद वचनों की पुष्टि के लिये ही या उसमें जीव बुद्धि से उठने वाले सन्देहों के निरास के लिये अथवा वैदिक रहस्य समझाने के लिये है। अतः जहाँ भी किसी रहस्य किम्वा तात्त्विक सिद्धान्त का विवेचन हुआ है, वहा श्रुति-वचनों को उट्टंकित करने की उपेक्षा नहीं की गई है। वेद की ऋचाएँ, वेदान्त के वाक्य उसे परिपुष्ट करते हैं, या यों कहना चाहिये कि वेदवचनों के द्वारा कथित सिद्धान्त ही अन्य प्रमाण-वचनों द्वारा नि सन्दिग्ध कर शास्त्र में गु म्फित किया गया है।

संक्षेप त —वेद-वचनो के उपन्यास के साथ उनके अर्थ का स्पष्टी-करण सर्वत्र आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य रहा है। श्रीवल्लभाचार्य प्रणीत अणुभाष्य, सुबोधिनी तथा निबन्धादि ग्रन्थों में जहा कहीं भी आवश्यक समझा गया है, कठिनता आने पर या अर्थान्तर की सभावना पर वेद के वचनों का अभिप्राय समझाने में प्रमाद नहीं हुआ है। आचार्य के ग्रन्थ-निर्माण का समय ही ऐसा था, जब वैदिक वक्तव्य से उसकी पुष्टि परम अपेक्षित रहती थी, अन्यथा अवैदिकता आजाने का भय था।

आचार्य के अनन्तर उनके ग्रन्थों पर तिलक, टीका या विवरण लिखने वालों ने इस ओर अधिक सतर्कता से काम लिया और इस परिपाटी को मीमासा के आधार पर प्रचलित किया। श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण, श्रीपुरुषोत्तमजी योगि श्रीगोपेश्वरजी आदि जो शास्त्रीय पद्धति से तात्त्विक विवेचना के पक्षपाती थे, भावना के महत्व को न घटाते हुए भी शब्द-बल के आधार पर अधिक निर्भर थे। फलत. उनकी रचनाओं में उपन्यस्त वाक्यों का विशदीकरण अधिक मिलता है, जिसे उनके ग्रन्थों में जहा-तहाँ देखा जा सकता है।

फिर भी मन्त्रों पर स्वतन्त्र विवेचन की गभीरता का अनुभव न होने से सम्प्रदाय में इस ओर कोई विशाल आयोजन नहीं हुआ। प्रकरणों में समागत किसी एक वाक्य के व्याख्यान से विशेष प्रयोजन

की सिद्धि भी नहीं होती, एतावता शुद्धाद्वैत–वाङ्मय में स्वतन्त्र रूपेण मन्त्रों का विवेचन ग्रन्थ रूप में मिलना कठिन है। विगत शताब्दी में इस ओर नाम मात्र का प्रयोग किया गया है। हाँ, यह निश्चित है कि वेदमाता गायत्री के सम्बन्ध में उसके रहस्य और वास्तविक अर्थ-प्रतिपादन में एक स्तुत्य प्रयत्न का अनुष्ठान हुआ है।

गायत्री मन्त्र–

"ओं तत्सवितु र्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" यह मन्त्र गायत्री नामक छन्द में होने से गायत्री कहलाता है। सविता सर्वजगत् प्रसविता परमात्मा और उनके प्रतीक सविता सूर्य से इसका सम्बन्ध होने के कारण इसे सावित्री नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। गान (भजनानुशीलन) करने वाले की रक्षक होने से भी "गायन्तं त्रायते यस्मात्" इस आधार पर इसे 'गायत्री' कहते हैं, इस प्रकार की विविध व्युत्पत्तियाँ इस मन्त्र की व्यापकता को बोधित हैं।

यह मन्त्र ऋग्वेद, ३, ६२, १०, सामवेद उत्तरार्चिक, १३, ३, ३। में आया है। यजुर्वेद में ३, ३५। ३०, २ और ३६, ३ आदि कई स्थानों पर मिलता है। मन्त्र में २३ ही अक्षर हैं पर यह चतुर्विंशत्यक्षरा मानी जाती है सो विद्वान, ओंकार की गणना अथवा वरेण्यं को 'वरेणियं' पढ़ कर इसकी पूर्ति करते हैं। २३ अक्षर वाली होने से इसको निचृद् गायत्री संज्ञा दी जाती है। यह त्रिपाद् गायत्री है, इसके प्रारंभ में भूः भुवः स्वः यह तीन व्याहृतियाँ लगाई जाती हैं जिसका अर्थ पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ के अधिष्ठातृ देव या सत् चित् आनन्द लिया जाता है। ब्रह्मपरक होने से इसे ब्रह्मगायत्री भी कहते हैं। वेद में त्रैवर्णिक गायत्री का भी उल्लेख है, अतः यह मन्त्र ब्राह्मणों को द्विजत्व संस्कार प्राप्ति के लिये गुरु द्वारा प्रदान किया जाता है, विप्र को वेदाधिकार इसी से प्राप्त होता है। "ता सवितुर्वरेण्यं०" आदि मन्त्र क्षत्रियों और "विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते ०" आदि मन्त्र वैश्यों को दिया जाता है, ऐसा भी उल्लेख है, अथवा समान रूप से एक ही मन्त्र द्वारा भी उपदेश दिया जाता है।

तैत्तिरीयारण्यक में [१, ११, २] इसका विवरण है। छान्दोग्योपनिषद् में "गायत्री वा इदं सर्वं" कह कर इसकी व्यापकता का प्रतिपादन किया गया है। श्रीकृष्णवाक्य गीता में "गायत्री छन्दसामहं"

कह कर इसकी श्रेष्ठता-भगवत्स्वरूपता-का प्रतिपादन है। भागवत तो "यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः, वृत्रासुरवधोपेतं तद् भागवतमिष्यते" इस प्रमाण के आधार पर इसी मन्त्र का व्याख्यान है। [भागवतीय दशमस्कन्ध की रासपञ्चाध्यायी गायत्री का मूर्तिमान स्वरूप है।] २४ सहस्र श्लोकात्मक श्रीरामचरित्र वाल्मीकि-रामायण में प्रतिसहस्र श्लोक का आदि श्लोक गायत्री के एक-एक अक्षर से प्रारम्भ होता है ऐसा भी किन्हीं विद्वानों का मत है। तात्पर्य यह कि-परमात शास्त्रों में गायत्री को ब्रह्म के स्वरूप में ही देखा गया है।

उपनिषदों मे जहाँ प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन का उपदेश है, वहाँ उसका तात्पर्य गायत्री मन्त्र-जप से ही है। वर्णाश्रम-धर्म में निर्धारित वय मे द्विजों को सावित्री का उपदेश न होने से पातित्य का कथन है— "सावित्रीपतिता. ह्येते भवन्त्यार्यविगर्हिता." । दुर्गा सप्तशती में शक्ति की "त्वमेव सन्ध्या गायत्री त्वं देवि ! जननी परा" कहकर स्तुति कीगई है। मनुस्मृति में [२,८२] तीन वर्ष तक सावधानतया इस मन्त्र—जप से परब्रह्म प्राप्ति का वर्णन है, आद्य शंकराचार्य भी इसी की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार भारतीय साहित्य मे गायत्री की बड़ी महिमा है, यह संस्कृत मानव-जीवन को नित्य प्रति ओज, तेज, बल, वीर्य और बुद्धि देने वाला दिव्य मन्त्र है। इसका समकक्ष और कोई भी मन्त्र नहीं है।

गायत्री को वेद-माता कहा गया है, इसके जप अनुष्ठान से बड़े बड़े फलों की सिद्धि बताई गई है। प्रायः सभी विद्वानों का मत है कि— इस एक ही मन्त्र में समस्त वेदार्थ भरा हुआ है। इसके साथ आचमन, प्राणायाम, अघमर्षण, शुद्धि आदि कई कर्म-विधियों का प्रारम्भ होता है।

प्रस्तुत मन्त्र पर विभिन्न सिद्धान्तानुसार अनेक विद्वानों ने अनेक भाष्य, व्याख्यान, विवरण रचे हैं। विभिन्न भारतीय भाषाओं और कई विदेशी भाषाओं में इसके अर्थ पर विभिन्न दृष्टियों से प्रकाश डाला गया है।

की सिद्धि भी नहीं होती, एतावता शुद्धाद्वैत-वाङ्मय में स्वतन्त्र रूपेण मन्त्रों का विवेचन ग्रन्थ रूप में मिलना कठिन है। विगत शताब्दी में इस ओर नाम मात्र का प्रयोग किया गया है। हाँ, यह निश्चित है कि वेदमाता गायत्री के सम्बन्ध में उसके रहस्य और वास्तविक अर्थ-प्रतिपादन में एक स्तुत्य प्रयत्न का अनुष्ठान हुआ है।

गायत्री मन्त्र–

"ओं तत्सवितु र्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" यह मन्त्र गायत्री नामक छन्द में होने से गायत्री कहलाता है। सविता सर्वजगत् प्रसविता परमात्मा और उनके प्रतीक सविता सूर्य से इसका सम्बन्ध होने के कारण इसे सावित्री नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। गान (भजनानुशीलन) करने वाले की रक्षक होने से भी "गायन्तं त्रायते यस्मात्" इस आधार पर इसे 'गायत्री' कहते हैं, इस प्रकार की विविध व्युत्पत्तियाँ इस मन्त्र की व्यापकता की बोधिका हैं।

यह मन्त्र ऋग्वेद, ३, ६२, १०, सामवेद उत्तरार्चिक, १३, ३, ३। में आया है। यजुर्वेद में ३, ३५। ३०, २ और ३६, ३ आदि कई स्थानों पर मिलता है। मन्त्र में २३ ही अक्षर हैं पर यह चतुर्विंशत्यक्षरा मानी जाती है सो विद्वान, ओंकार की गणना अथवा वरेण्यं को 'वरेणियं' पढ़ कर इसकी पूर्ति करते हैं। २३ अक्षर वाली होने से इसको निचृद् गायत्री संज्ञा दी जाती है। यह त्रिपाद् गायत्री है, इसके प्रारंभ में भूः भुवः स्वः यह तीन व्याहृतियाँ लगाई जाती हैं जिसका अर्थ पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ के अधिष्ठात् देव या सत् चित् आनन्द लिया जाता है। ब्रह्मपरक होने से इसे ब्रह्मगायत्री भी कहते हैं। वेद में त्रैवर्णिक गायत्री का भी उल्लेख है, अतः यह मन्त्र ब्राह्मणों को द्विजत्व संस्कार प्राप्ति के लिये गुरु द्वारा प्रदान किया जाता है, विप्र को वेदाधिकार इसी से प्राप्त होता है। "ता सवितुर्वरेण्यं ०" आदि मन्त्र क्षत्रियों और "विश्वा]रूपाणि प्रतिमुञ्चते ०" आदि मन्त्र वैश्यों को दिया जाता है, ऐसा भी उल्लेख है, अथवा समान रूप से एक ही मन्त्र द्वारा भी उपदेश दिया जाता है।

तैत्तिरीयारण्यक में [१, ११, २] इसका विवरण है। छान्दोग्योपनिषद् में 'गायत्री वा इदं सर्वं" कह कर इसकी व्यापकता का प्रतिपादन किया गया है। श्रीकृष्णवाक्य गीता में "गायत्री छन्दसामहं'

कह कर इसकी श्रेष्ठता-भगवत्स्वरूपता-का प्रतिपादन है। भागवत तो "यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः, वृत्रासुर-वधोपेत तद् भागवतमिष्यते" इस प्रमाण के आधार पर इसी मन्त्र का व्याख्यान है। (भागवतीय दशमस्कन्ध की रासपञ्चाध्यायी गायत्री का मूर्तिमान स्वरूप है।) २४ सहस्र श्लोकात्मक श्रीरामचरित्र वाल्मीकि-रामायण में प्रतिसहस्र श्लोक का आदि श्लोक गायत्री के एक-एक अक्षर से आरम्भ होता है ऐसा भी किन्हीं विद्वानों का मत है। तात्पर्य यह कि—परमाप्त शास्त्रों में गायत्री को ब्रह्म के स्वरूप में ही देखा गया है।

उपनिषदों में जहाँ प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन का उपदेश है, वहाँ उसका तात्पर्य गायत्री मन्त्र-जप से ही है। वर्णाश्रम धर्म में निर्धारित वय में द्विजों को सावित्री का उपदेश न होने से पातित्य का कथन है—"सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिता:"। दुर्गा सप्तशती में शक्ति की "त्वमेव सन्ध्या गायत्री त्वं देवि। जननी परा" कहकर स्तुति कीगई है। मनुस्मृति में [२,८२] तीन वर्ष तक सावधान-तया इस मन्त्र—जप से परब्रह्म प्राप्ति का वर्णन है, आद्य शंकराचार्य भी इसी की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार भारतीय साहित्य में गायत्री की बड़ी महिमा है, यह संस्कृत मानव-जीवन को नित्य प्रति ओज, तेज, बल, वीर्य और बुद्धि देने वाला दिव्य मन्त्र है। इसका समकक्ष और कोई भी मन्त्र नहीं है।

गायत्री को वेद-माता कहा गया है, इसके जप अनुष्ठान से बड़े बड़े फलों की सिद्धि बताई गई है। प्राय. सभी विद्वानों का मत है कि—इस एक ही मन्त्र में समस्त वेदार्थ भरा हुआ है। इसके साथ आचमन, प्राणायाम, अघमर्षण, शुद्धि आदि कई कर्म-विधियों का प्रारम्भ होता है।

प्रस्तुत मन्त्र पर विभिन्न सिद्धान्तानुसार अनेक विद्वानों ने अनेक भाष्य, व्याख्यान, विवरण रचे हैं। विभिन्न भारतीय भाषाओं और कई विदेशी भाषाओं में इसके अर्थ पर विभिन्न दृष्टियों से प्रकाश डाला गया है।

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में गायत्री पर निम्नलिखित विवरण हैं।

गायत्री-भाष्यम्—श्री वल्लभाचार्य विरचित।

गायत्री पर श्रीवल्लभाचार्य का यह संक्षिप्त भाष्य है। भागवत के श्लोक "जन्माद्यस्य यतोन्वयादितरत ०" [१।१।१] की सुबोधिनी टीका में उन्होंने गायत्री के समस्त अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। अध्ययन से गायत्री-भाष्य और उक्त टीका का एक ही विशद अर्थ सामने आ जाता है। श्लोक में समस्त गायत्री के अर्थ का समावेश करते हुये अभिप्राय और कतिपय शब्दों की समानता से उनका एकात्मभाव बताया गया है, और यह इसलिये कि भागवत वेद का फल है, वेद वृक्ष है, और गायत्री बीज है। फल के सम्बन्ध से भागवत में प्रतिपाद्य विषय जो कि वास्तविकतया वेद्य है, 'आलय रस' है। यही रस पूर्ण पुरुषोत्तम का स्वरूप है। "पिबत भागवत रसमालय" इस वाक्य के 'आलय' शब्द का अर्थ इस प्रकार बताया गया है -'आ ईषद् लयो मोक्ष'। जिससे [जिस रस के आगे] मोक्ष भी क्षीण, तुच्छ है। 'मोक्ष' से अधिक रस तो जीवों को ब्रह्मानन्द से निरालम्ब भजनानन्द के संयोजन में है" यह श्रीवल्लभाचार्य ने रासपञ्चाध्यायी की प्रथम कारिका में कहा है। इस भजन [सेवन] रस के समूह को ही 'रास' कहा जाता है। एतावता अनन्त शक्तिधारी सच्चिदानन्दविग्रह श्रीपूर्णपुरुषोत्तम का स्वकीय दिव्य शक्तियों के साथ लीलारूप में जो निरवधि रमण हो रहा है, और जिसके बिना यह व्यापक विश्व प्रपञ्च क्षण भर भी स्वरूप में अवस्थित नहीं रह सकता, रास का आधिदैविक आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप है।

भागवत का यही प्रतिपाद्य रास—दिव्य आनन्द—तप पूत शरीर, परिमार्जित इन्द्रियाँ, एकाग्र समाहित मन और अलौकिक अनुभूति में निमग्न अन्तःकरण से परमात्म-कृपा द्वारा साध्य कहा गया है। यही जीव की मनोरथान्त दशा है, जिसे स्वसंवित्संवेद्य भी कहा जाता है। 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः' [रास प०] के रूप में श्रीगोपीजनों के रास का निरूपण इसी रूप में भागवत में मिलता है।

यह मनोरथान्त रूप साक्षात् स्वरूपानन्द रास "यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह०" "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्नबिभेति कुतश्चन' और 'रसो वै सः' [आदि] इन श्रुतियों के द्वारा वर्णित है। आनन्दाभि

लापुक जीव को यह परमानन्द शारीरिक तपःसाधना के बाद बुद्धि की सद्वृत्तियों से अधिगत हो सकता है, अतएव उस धी-वृत्ति को सम्यक् प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है और वह परमात्मा के दिव्य मनन चिन्तन द्वारा हो सकती है, धी को सत्प्रेरणार्थ ही गायत्री में परमात्मा से प्रार्थना की गई है, अतः शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त की दृष्टि में परम फल या पद अथवा आनन्द की संप्राप्ति के लिये गायत्री की उपासना परमावश्यक बताई गई है।

श्रीमहाप्रभु वल्लभ ने इसी निरूपण के लिये गायत्री पर भाष्य रचना की है। विशद रीत्या पदार्थ का विवेचन करने के बाद भाष्य के अन्तमें तीन कारिकाओं द्वारा गायत्री और भागवत-विशेष कर तामस-फल प्रकरण रासपञ्चाध्यायी के सम्वादी सिद्धान्त का निरूपण किया गया है।

इस भाष्य पर निम्न लिखित विवरण हैः—

(१)गायत्र्यार्थ-प्रकाशक कारिका-रचियता गो.श्री विट्ठलेश्वरजी

इसमें ३४ कारिकाओं द्वारा गायत्री के अर्थ का व्याख्यान है, जो श्रीवल्लभाचार्य के भाष्य का उपवृंहण है। इसमें गायत्री के प्रादुर्भाव का कारण, २४ अक्षरों का प्रयोजन, तीन चरणों का रहस्य, छन्द, ऋषि, स्वरूपाङ्ग, वर्ण गोत्र विनियोग, व्याहृति फल और शब्दार्थ सम्बन्ध में आध्यात्मिक दृष्टि से विचार है, जिसे प्रमाणों के द्वारा पुष्ट कर अन्यमत का निराकरण किया गया है।

(२) गायत्र्यार्थ प्रकाश-कारिका विवरणम्—गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी विरचित। श्रीप्रभुचरण कृत कारिकाओं के स्पष्टार्थ इस विवरण में युक्ति और प्रमाणपुरःसर प्रतिपाद्य अर्थकी स्थापना की गई है।

(३) द्विजराज-सुधा—गुजराती अनुवाद। उक्त कारिका और कारिका-विवरण के आधार पर प्रो० श्रीमगनलालजी शास्त्री कृत।

श्रीवल्लभाचार्य के भाष्य सहित उक्त तीनों विवरण श्रीमगनलाल जी शास्त्री बम्बई द्वारा सं० १९७२ में प्रकाशित।

(४) गायत्री-विवरणम्—श्री गोकुलेश्वरजी विरचित। यद्यपि यह श्रीवल्लभाचार्य कृत भाष्य का विवरण-सा है फिर भी विशद रूप में गायत्री पर एक व्याख्या है। प्रकाशित !

(५) गायत्र्यर्थ-कारिकाः—रचयिता अज्ञात—इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम भी उपलब्ध नहीं होता। ७६ कारिकाओं में इसके सम्बन्ध में होने वाली शंकाओं का समाधान पूर्वपक्ष-खंडन द्वारा किया गया है। यह अपूर्ण विदित होता है। श्री मगनलालजी शा० के अभिप्रायानुसार श्री पुरुषोत्तम जी के किसी अनुयायी की रचना प्रतीत होती है। प्रकाशित सं० १६७३ मगनलाल शास्त्री बम्बई द्वारा।

(६) गायत्र्यर्थ-विवरणम्—मठेश इन्दिरेश कृत। इसमें मंत्र के ऊपर उपनिषद्, पुराणादि वचनों के प्रमाण से सिद्धान्तानुसार ब्रह्मवाद की स्थापना की है। अप्रकाशित—सं० ११२, २८ सर० भ० शु० सा० विभाग।

(७) गायत्र्यर्थः—रचयिता पं० श्री गोवर्द्धन भट्ट। [गट्टूलालजी] भारतमार्तण्ड ने श्री आचार्य, श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण, श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा वर्णित पथपर विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान प्रस्तुत कियाहै। इसकी रचना गो० श्री जीवनेशजी बम्बई के संतोषार्थ हुई है। प्रकाशित-

(८) गायत्र्यर्थ-व्याख्या—गायत्री मंत्र पर निम्नलिखित विवरण पं० श्रीबालकृष्ण शास्त्री रचित अप्रकाशित हैं, और पं० कण्ठमणि शास्त्री के संग्रह में विद्यमान है।

(क) गायत्र्यर्थ विचारः—(पं० सं० ३०, क पर)

(ख) गायत्र्यर्थ विवरणम्:—(पं० सं० ४२, १२, घ पर)

(ग) गायत्र्या विचित्रोर्थः—(पं०सं० २५,ख। पर विद्यमान) इस में व्याकरण की व्युत्पत्ति प्रकृति प्रत्यय के आधार पर विलक्षण अर्थ का प्रतिपादन है।

(१) "अरस्यग्नौ हृदये" इत्यादि मन्त्रे शंका-निरासः—
रचयिता अज्ञात–अप्रकाशित–सर०भं० शु० वं० ८४, १७,१२।
निम्नलिखित ग्रंथ प- श्रीबालकृष्ण शास्त्रि रचित अप्रकाशित हैं।
(२) कतिपय मंत्राणां संस्कृत पद्यानुवादः–[संग्रह में पं० ४१ख]
(३) कतिपय मंत्रों का हिंदी पद्यानुवादः—[संग्रह में पं० सं० ४१, ग]
(४) कतिपय प्रकीर्ण मंत्राणां व्याख्यानम्— [संग्रह में पं० स० ३०, ख, ४०, ६ च. ४१, ङ० ४८, घ]

वैदिक साहित्य ऋचा, उपनिषद् मंत्र आदि के आधार पर संकलन रूप में निम्नलिखित साहित्य की रचना प्रस्तुत की गई है।

श्रुत्यर्थसारः–रचयिता कन्हैयालाल-[कृष्ण] शास्त्री। शंकरदयाल शर्मा द्वारा श्रीदेवकीनन्दनजी महाराज की आज्ञानुसार जगदीश प्रेस बंबई से प्रकाशित सं० १६५१। इसका अन्य नाम 'वेदान्त सुधाकर' है। इसमें हिन्दी के दोहा सोरठा आदि छन्दों में श्रुतियों के प्रमाणानुसार आठ प्रकरणों में पूर्व पक्ष उत्तर पक्ष की पद्धति पर शु० सिद्धान्त का प्रतिपादन है। इसकी रचना कामवनस्थ श्रीगोविंदजी महाराज की आज्ञा से हुई थी।

श्रुत्यर्थानन्द-सन्दोहः— रचयिता गो० श्रीव्रजाभरण दीक्षित। इसका 'परोक्षवादे भगवल्लीला वर्णन' नामक प्रथम प्रकरण प्राप्त है। अप्रकाशित–सरस्वती भं० कांकरौली शु० वं० ७५, ७६, पर विद्यमान। इसमें श्रुतियों के अर्थ प्रतिपादन द्वारा समस्त ऋतुओं में होने वाली भगवल्लीलाओं का वर्णन है। इस ग्रन्थ के अन्य प्रकरण भी होने चाहिये जो नहीं मिलते। इस वर्णन की उत्पत्ति में ग्रन्थकार का कथन है कि..

" वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेद विदेव चाहम्" सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा, आदावन्ते तथा मध्ये हरि. सर्वत्र गीयते' इति निश्चित्य श्रुत्यर्थानन्द-सन्दोहो निरूपित : परोक्षवाद : " अर्थात् समस्त शास्त्रों में श्रीहरि और उनकी लीलाओं का वर्णन है अतः श्रुतियों में भी उनकी लीलाओं का वर्णन

किया गया है। जिसमें कतिपय मन्त्रों में षड् ऋतुओं के विलास का वर्णन पाया जाता है। जो उनके अर्थ-परिज्ञान से विदित होता है।

इसकी एक प्रति ले० सं० १८७० भुवनेश्वरी पीठ गोंडल में सं० २७४ पर विद्यमान है। जिस पर "गो० श्रीरामकृष्ण पौत्रेण जगन्नाथात्मजेन श्री व्रजाभरण दौहित्रेण कृत." ऐसा उल्लेख है।

वेदान्त चिन्तामणिः—रचयिता पंचनदी भा० भा० पं० श्रीगोवर्द्धन शर्मा, (श्रीगट्टूलालजी) प्रकाशित श्रीबालकृष्ण विद्यालय बम्बई। सं० १९७४

प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्त के शांकर मतानुसारि 'पंचदशी' नामक ग्रन्थ की जोड़ में शु० सिद्धान्त के प्रतिपादनार्थ निर्मित है। जिसे टिप्पणी के साथ पं०श्रीरमानाथजी शास्त्री ने परिष्कृत किया है। पद्यों में पृथक्-पृथक् १५ प्रकरणों के द्वारा वेदान्त के उन सभी विषयों पर सप्रमाण सयुक्तिक विवेचन है जो आवश्यक है। प्रकरण इस प्रकार हैं—

१ नास्तिक्योच्छेद *२ प्रमाण निरूपण*
३ संक्षिप्त कार्य निरूपण *४ प्रपंच सत्यत्व निरूपण*
५ आविर्भाव तिरोभाव नि० *६ अविकृत परिणाम नि०*
७ जीवोद्गम संसार नि० *८ जीवान्तर्यामि शुद्धाद्वैतार्थ नि०*
९ ब्रह्म साकारत्व विवेक *१० शक्ति धर्माभेदनि० पूर्वक द्वैतमत निराकरण।*
११ विशिष्टाद्वैत विचार
१२ शैव शक्ति मत विचार *१३ शुद्धाद्वैत विशेष विचार*
१४ प्रकृति पुरुष दिग्दर्शन पूर्वक भगवद्धामोदाहरण
१५ साधन फलादि सर्वविवेक। यह प्रकरण है।

इसकी रचना सं० १९२१ में की गई है। यह ग्रन्थ शु० सिद्धान्त वेदान्त के जिज्ञासुओं के लिये जितना परमावश्यक है उतना ही विद्वानों के लिये माननीय। भा० मार्तण्ड श्रीगट्टूलालजी आशु कवि थे। अतः उन्होंने सरल पद्यों में विवेचन प्रस्तुत कर वेदान्तकी सुन्दर व्याख्या की है।

वेदान्त-चन्द्रिकाः—रचयिता पं० श्रीकृष्ण शास्त्री तैलंग द्वितीय प्रकाशित। कानपुर डायमन्ड जुबिलि प्रेस। स० १९६२।

यह ग्रन्थ शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादनार्थ संस्कृत पद्यों में निर्मित किया गया है। इसमें चार प्रकरण हैं।

१ ब्रह्म स्वरूप विचार
२ जगन्निरूपण जगत्संसार भेद
३ जीवस्वरूप निरूपण
४ जीवोद्धार साधन निरूपण

प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत श्लोकों के नीचे हिंदी में भावार्थ दिया गया है। रचना काल सं० १६६१

श्रुति-गीता–श्रीवल्लभाचार्य विरचित। प्रकाशित। बृहत्स्तोत्र म० सा। सं० १९८३

श्रुतिगीता नाम से आचार्य श्री की ३० कारिकाएं प्रसिद्ध हैं। इसमें उन्होंने वेद की ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतियों के रहस्य का दिग्दर्शन कराया है :—"परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का प्रतिपादन वेद की विभिन्न ऋचाओं में मिलता है। वही सर्वत्र अपने सच्चिदानन्द रूप से व्यापक है, नामरूपात्मक लीला से यह जगत् आविर्भूत और तिरोहित होता है, अतः भगवद्रूप होने से अभिन्न निमित्तोपादन ब्रह्मकारणक होने के कारण यह उसका ही कार्य है और उसका ही अंश है। जीव ब्रह्म के अंश हैं उनका उद्धार प्रभु की सेवा से भक्ति द्वारा संभव है। आनन्दांश की अभिव्यक्ति हो जाने पर जीव में उसके पूर्ण गुणों का समावेश हो जाता है। अहंतामसतात्मक संसार की निवृत्ति जीव के लिये आवश्यक है। और यह उसके सर्वसमर्पण से सिद्ध होती है। अविद्या-निवृति के बाद जीव का अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थान होना ही उसका मोक्ष है, और अंशरूप से भगवत्सेवना द्वारा उनके स्वरूपानन्द की संप्राप्ति में ही उसका एकान्ततः श्रेय है।" आदि सिद्धान्त ही ऋचाओं का परम रहस्य है यह सिद्ध किया गया है।

प्रस्तुत श्रुतिगीता की कारिकाओं पर निम्नलिखित साहित्य मिलता है।

श्रुतिगीता-व्याख्या—गो० श्रीगिरिधरजी कृत-प्रकाशित। इसमें व्याख्याकार ने आचार्य के अभिप्राय को स्पष्ट किया है।

॥ प्रथम वेद प्रमाण प्रकरणम् ॥

शु० पु० संस्कृत वाङ्मय



द्वितीय प्रकरण



श्रीकृष्ण-वाक्य सम्बन्धी मान्यता—

शुद्धाद्वैत साम्प्रदायिक अनुबन्ध-चतुष्टय की परिगणना में वेद के अनन्तर परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के मुखपद्म से विनिर्गत गीता को द्वितीय प्रमाण माना गया है। व्यास महामुनि ग्रथित महाभारत के अन्तर्गत विराजमान गीता में सम्वादरूपता होने के कारण अन्य की उक्तियाँ भी हैं, मुख्यतः अर्जुन के प्रश्न और भगवान् श्रीकृष्ण के प्रत्युत्तर हैं, अतः महत्व उन ही वचनों को है जिनसे सिद्धान्त का अवबोध होता है। श्रीकृष्ण-वाक्यों को महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने प्रमाणकोटि में स्वीकार किया है। गीता के कथन से उसके १८ अध्यायों का समावेश होता है।

गीता का उपक्रम धृतराष्ट्र के प्रश्न और सञ्जय के वृत्तान्त वर्णन से है, महाभारत की परिस्थिति के अवलोकन से अर्जुन की जिज्ञासा के समाधान या उसकी विषम अस्वाभाविक प्रवृत्ति के निराकरणपूर्वक निःसन्दिग्ध स्थिति-स्थापन के रूप में भगवान श्रीकृष्ण के अमृतमय कर्म ज्ञान भक्ति के उपदेश रूप से है। जैसा कि उपक्रम है। उपसंहार भी सञ्जय के वचन द्वारा है। एतावता सञ्जय, धृतराष्ट्र और अर्जुन के प्रासङ्गिक कथन से किसी सिद्धान्त की स्थापना नहीं होती, वे शास्त्रीय पद्धति में प्रमाण के अन्तर्गत नहीं हैं, इसी दृष्टि को सामने रखकर श्रीवल्लभाचार्य ने 'वेदाः श्रीकृष्ण वाक्यानि' आदि में श्रीकृष्ण वाक्यों को ही प्रमाण माना है। शास्त्ररूप में स्पष्ट कहा है।

"एकं शास्त्रं देवकी पुत्रगीत, एको देवो देवकीपुत्र एव।
मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥"

[शा० तत्व० नि० ४]

देवकीपुत्र श्रीकृष्ण द्वारा गीत गीता के प्रति निर्दिष्ट उक्तश्लोक पर एक उपाख्यान है जो श्रीवल्लभाचार्य के समय में प्रसिद्ध हुआ था। उक्त श्लोक की 'आवरण भंग' टीका में श्रीपुरुषोत्तमजी ने इसका उल्लेख किया है।* यह श्लोक वैष्णव और मायावादियों के शास्त्रार्थ निर्णय प्रसंग में श्रीजगन्नाथक्षेत्र में श्रीजगन्नाथराय जी द्वारा लिखित प्राप्त हुआ था। पुरी के राजा की निरीक्षता में मन्दिर में चल रहे शास्त्रार्थ के मुख्य वक्ता श्रीवल्लभाचार्य थे। परास्त हो जाने पर मायावादियों ने एक कोरा पत्र जगन्नाथप्रभु के समक्ष निर्णय लिख देने के लिये रखवाया था। सब प्रकार की राजा की सावधानी और व्यवस्था के अनन्तर इसी रूप में प्रभु का सैद्धान्तिक निर्णय मिला जिसे सभी आस्तिकों ने स्वीकार किया था, और परिणामतः हठाग्रहियों का नगर निष्कासन किया गया था।

यद्यपि व्यासप्रोक्त होने से गीता की उतनी ही प्रामाणिकता थी फिर भी श्रीवल्लभाचार्य ने उक्त प्रत्यक्ष चमत्कार से इसे विशेष महत्व दिया और श्रीकृष्णवाक्यों को वेद के अनन्तर शास्त्ररूप में प्राथमिकता दी।

'शास्त्रनिबन्ध' नामक ग्रन्थ में आचार्य इस विषय में लिखते हैं— "एकं शास्त्रमिति। अत्राख्यायिका पारम्पर्यादेवावगन्तव्या। देवकी पुत्रेण गीतं गीता। गीतायां भगवद्वाक्यान्येव शास्त्रमित्यर्थः। वेदानामपि तदुक्तप्रकारेणैव निर्णयः" [त० नि० शा० प्र० ४ कारिका प्रकाश] इस कथन में श्रीकृष्ण-वाक्यों को वेद के समान ही प्रामाणिकता मिलती है, और वैदिक सन्देह की विनिवृत्ति के लिये उन्हें सबसे अधिक गौरव। यह तो समस्त शास्त्र सम्मत है कि—भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म हैं, अतः उनके कथन और वेद में कोई अन्तर नहीं है। जैसा कि अन्यत्र गीता में कहा गया है "स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम"। वेदवाणी का रहस्य परब्रह्म ही खोल सकता है,

* महाप्रभु के ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथ जी द्वारा जगन्नाथपुरी के पुरोहित को लिखा हुआ इतिपत्र उनके वंशज श्रीकृष्ण रघुनाथ दामोदर के पास विद्यमान है। यह शाके सं० १४६० में लिखा गया है। पूर्ण प्रतिलिपि कांकरोली का इतिहास पत्र २६ पर प्रकाशित की गई है।

और उन्होंने कृपा कर श्रीकृष्णावतार में इसको मूर्तिमान किया है। ब्रह्म-सूत्र में गीता को 'स्मृति रूप' माना है, और इसी कारण वेद होने पर भी इसका पृथक् निर्देश किया गया है, "स्मृतित्वेन कृष्ण-वाक्यानि वेदत्वेपि पृथगुक्तानि . [शा० नि० का० ७ प्रकाश] " कृष्ण वाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि, ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः." इस कथन से महाप्रभु ने उन्हीं विद्वानों को शुद्धब्रह्मवादी परमभागवत माना है जो-गीता के आधार पर सिद्धान्त का व्याख्यान करते हैं ।

जैसा कि कहा गया है:—श्रीकृष्ण-वाक्यों को स्मृतिरूप माना गया है। इस पर प्रकाश डालते हुये आचार्य ब्रह्मसूत्र-भाष्य में "स्मृतेश्च" [१, २, ६] सूत्र पर लिखते हैं कि "जिन भगवान् श्रीकृष्ण के समस्त वेद निःश्वास रूप हैं, क्या उनके वाक्य स्मृतिरूप माने जाने चाहिये ? उत्तर है कि ब्रह्म केवल उपनिषद्वेद्य है, प्रमाणान्तर से नहीं। गीता के प्रसंग में अर्जुन यद्यपि शिष्यरूपेण शरण आया था, पर वह पुष्टि-भक्त नहीं था, स्वयं रथी बन कर भगवान को सारथि बनाने के कारण भगवद्वाक्य में उसे निःसन्दिग्ध विश्वास असम्भव था। वह ऐसे मध्यमाधिकारी को युद्ध के समय औपनिषद् ज्ञान कैसे दिया जा सकता था ? अतः अर्जुन को निमित्त बनाकर मूलभूत वेद अथच तदर्थ का स्मरण कराते हुये भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने वाक्यों द्वारा सिद्धान्त का उपदेश दिया है, अतः ये वाक्य स्मरण 'स्मृति' रूप कहे जाते हैं। गीता में कृपालु श्रीहरि ने प्रथम ब्रह्मविद्या का निरूपण कर अन्त में कर्म ज्ञान भक्ति के समन्वयार्थ प्रपत्ति का उपदेश दिया है जो वेद का सार है। महाभारत में स्मरणरूप में इसे ग्रथनेवाले महर्षि व्यास भी भगवान् के ज्ञानावतार हैं, तावता दोनों के द्वारा वैदिक अर्थ का स्मरण पूर्वक प्रतिपादन होने से गीता स्मृतिरूप है।"

इन्हीं सब मान्यताओं को लेकर संक्षेप में भारतमार्तण्ड गट्टूलालजी ने 'वेदान्त चिन्तामणि' में कहा है—

"तत्रावशिष्टं हरिणा विरक्तायार्जुनाय यत् ।
तथा तदधिकारेण स्मृतिरूपेण रूपितम् ॥१३॥

वेदांपि ब्रह्मवाक् साक्षात् तत्र स्यादेव वेदता।
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिर्गता" ॥१४॥ [प्र० प्र०]

जैसा कि प्रसिद्ध है— गीता उपनिषद् और ब्रह्मविद्या है। यह वास्तव में वैदिक रहस्य का स्पष्टीकरण और संदेह-निवृत्ति जिस प्रकार करती है, अन्य शास्त्र नहीं। यदि गीता के भगवद्-वाक्य इस विचार-धारा के सन्मुख न होते तो वेद-प्रतिपादित सिद्धान्त का इतना मौलिक और सर्वसाधारणग्राही रूप हो सकता था या नहीं ? कहा नहीं जा सकता।

जैसा कि कहा गया है :—"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः पार्थो वत्सः सुधी र्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।" उपनिषद, वाम धेनुओं का श्रेयःप्रतिपादक यह अमृत दुग्ध भगवती गीता ही है, दोग्धा स्वयं गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं जिन्होंने अर्जुन के लिये इसे दुह कर श्रद्धालु सभी जनों को निर्व्याज वितरण किया है। क्या भारतीय साहित्यों क्या पाश्चात्य साहित्यस ? भी गीता के सिद्धान्तों के ऋणी हैं। परमात्म-विषयक भक्ति और प्रेम को महत्त्व देने वाले सभी मत, धर्म सिद्धान्त; पंथ, गीता के अभिप्राय से ही प्रभावित हैं और उसी का अभि मत 'रूपान्तर शब्दान्तर और भाषान्तर में सर्वत्र मिलता है,." गीता सु गीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः" यह कथन पूर्ण चरितार्थ है।

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में गीता का अनुपद प्रामाण्य है। श्रीवल्लभाचार्य ने प्रमाण-चतुष्टय की दो कोटियाँ गिनाई हैं। निबन्ध में कहा है "श्रुति सूत्राणि एका कोटिः गीता भागवत चेति अपरा।" गीता और भागवत को भगवच्छास्त्र मानकर उन्होंने कहा है कि गीता भगवदुक्त और भागवत भगवत्संबन्धी चरित्रात्मक शास्त्र हैं। वेद और ब्रह्म-सूत्र विशेष अधिकार परायण साधकों के लिये पठनीय मननीय हैं, उनमें सर्वसाधारण का प्रवेश नहीं। पर गीता और भागवत उन लोगों के लिये भी उपादेय है जिन्हें यहाँ अनधिकारी गिना गया है। श्रीकृष्णोक्त गीता का पाठ इसका अध्ययन और तत्वचिंतन सभी साधारण बुद्धिशाली के लिये कल्याण-कारक हैं, सभी वर्ग के जन इसके श्रद्धालु अधिकारी हैं।

भगवद्गीता सम्बन्ध में निम्नलिखित साहित्य है:—

सप्रकाश तत्त्वार्थ-दीप-निबन्ध—शास्त्रार्थ प्रकरणम्।

श्रीवल्लभाचार्य विरचित तत्त्वार्थ दीप निबन्ध शास्त्रार्थ-प्रकरण कारिका रूप में है और इस पर स्वयं महाप्रभु की टीका 'प्रकाश' नाम से विद्यमान है जिसके कारण इसका इस प्रकार नामकरण हुआ।

तत्त्वार्थदीप निबन्ध के तीन प्रकरण हैं। १ शास्त्रार्थ-प्रकरण, २ सर्वनिर्णय-प्रकरण, ३ भागवतार्थ प्रकरण। यह प्रकरण प्रथम है। लिखा है "इत्याकलय्य सततं शास्त्रार्थः सर्वनिर्णयः श्रीभागवत रूपं च त्रयं वच्मि यथामति–'शा० नि० का० ५' इसके प्रकाश में शास्त्रार्थ का अर्थ गीतार्थ लिखा है, जिससे विदित होता है कि इस शास्त्रार्थ प्रकरण में गीता के अनुसार विचार किया गया है। इस निबन्धत्रय की पुष्पिका में आचार्य ने स्वयं को " श्रीकृष्ण व्यास श्रीविष्णुस्वामिमतानुवर्ती " इस रूप में लिखा है। एतावता सिद्ध होता है कि आचार्य जहाँ विष्णुस्वामिमतानुयायी थे, वहाँ उनका सिद्धांत गीता के आधार पर और उसी आधार पर शुद्धाद्वैत का सिद्धांत है।

इस प्रकरण में १०४, 'गणना भेद से १०८' कारिकाएं हैं। इसमें वर्णित सिद्धान्तों का निरूपण ऐसे अधिकारियों के लिये किया गया है जो दैविक भगवद् भक्त, मुक्ति के अधिकारी और भगवदिच्छा से अन्तिम शरीर धारण कर अवतरित हुये हैं। इन लोगों के अन्तिम अभीष्ट की सिद्धि के लिये इस मत का निरूपण है। उपसंहार में कहा गया गया है कि-इस अर्थ का निरूपण समस्त वेद, रामायण, महाभारत, पञ्चरात्र, तत्त्वसूत्र तथा अन्य प्रमाण चतुष्टयाविरोधी शास्त्रों के अभिमत को लेकर है, अतः 'प्रमाण बलमाश्रित्य शास्त्रोर्थो विनिरूपितः' प्रकारा इस श्लोकानुसार प्रमाण बल द्वारा इस शास्त्रार्थ का निरूपण किया गया है।

ग्रन्थ में जहाँ तहाँ प्रमाणों के उपन्यास पूर्वक कारिकाओं और उसके स्पष्टीकरण रूप प्रकाश व्याख्यान में प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल के सम्बन्ध में विचार किया है और ब्रह्म जीव संसार जगत बन्ध मोक्ष, विद्या, अविद्या, माया, भक्ति आदि इन सभी पर सात्त्विक विचार किया है, जिनका समावेश सिद्धान्त में होता है। कहना होगा कि आचार्य

श्रीवल्लभ का सिद्धान्त सम्मिलित रूप में यदि कहीं मिलता है तो वह शास्त्रार्थ निबन्ध में, अन्यत्र तो प्रसङ्गोपात्त विवेचन है। शुद्धाद्वैत के सभी तत्वों पर प्रस्थान चतुष्टय के समन्वय से जो निष्कर्ष निकाला गया है वही शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग है, और उसका प्रत्यक्ष दर्शन इस ग्रन्थरत्न में मिलता है।

शास्त्रार्थ निबन्ध कारिका ६८ और सर्वनिर्णय नि० का० १८२ से विदित होता है कि अणुभाष्य-रचना के अनन्तर इसकी रचना आचार्य ने की थी। "भाष्ये विस्तरेणोक्तम्" वहाँ ऐसा उल्लेख है।

प्रस्तुत शास्त्रार्थ निबन्ध पर निम्नलिखित व्याख्या विवरण हैं—

आवरण भङ्ग व्याख्या—गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी ने कारिका और प्रकाश दोनों के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये इसकी रचना की है, जिसमें परमतोपन्यास पूर्वक सप्रमाण शास्त्रीय रीत्या प्रतिपाद्य विषय का समर्थन किया गया है। आवरण भङ्ग के अध्ययन से अनेक शङ्काओं का समाधान होता है और जिज्ञासा की पूर्ति। यह कहना पड़ेगा कि सूत्र रूप प्रकाश और उसकी मूलभूत कारिकाओं का रहस्य विश्लेषण, गम्भीर परिज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जबतक इस व्याख्या का मनन न किया जाय। बुद्धिमान्द्य से आगत आवरण के विनाश के लिये श्रीपुरुषोत्तमजी ने अन्वर्थ इस टीका की रचना की है।

'आवरण भङ्ग' टीका की रचना नृसिंहोत्तर तापिनी की दीपिका टीका के बाद पुरुषोत्तमजी ने की थी जैसा शा० नि० की कारिका 'नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता' ८० के आवरण भङ्ग टीका में स्वयं कहा गया है—

"तत्सर्वं विस्तरेणोत्तरतापिन्या दीपिकायां मया व्याख्यातमतो विशेष जिज्ञासाया ततोऽवलोकनीयम्"

श्रीपुरुषोत्तमजी ने इस व्याख्या की रचना अपने पितृचरण श्रीपीताम्बरजी के नाम से की है, अत तत्कृत भी मानी जाती है।

तत्वार्थदीप निबन्ध विवृति टिप्पणी—प्रकाश पर श्रीकल्याणराय जी ने टिप्पणी की रचना की थी जो शास्त्रार्थ प्रकरण पर प्राप्त और प्रकाशित है। इसमें विशेष स्थलों की व्याख्या की गई है।

तत्त्वार्थ—दीपप्रकाश टिप्पण तत्स्नेह भाजनः—नामक एक विस्तृत व्याख्या भारत मार्तण्ड श्रीगट्टूलालजी द्वारा विरचित है। जो प्रारम्भिक पञ्चम कारिका तक ही प्राप्त और प्रकाशित है, आगे रचना की गई या नहीं कहा नहीं जा सकता।

प्रस्तुत मत्स्नेहभाजन का निर्माण 'दीप' के लिये आवश्यक था, यह सोच कर ग्रन्थकार ने गम्भीरता पूर्वक इसे प्रतिष्ठित किया है। यदि यह ग्रन्थ पूर्ण मिलता तो बड़ा व्यापक विवेचन होता। ग्रन्थकार की उक्ति है—

'तथा विभज्यते मूल सत्ता स्तडो यथा भवेत्
यादिह्रोदस्त्वावरण भगा रत सिद्धयति ।३।
दृष्टु दीपप्रकाशे चेत् याद्व्यार्थो स्तमानुदि
सत्स्नेहभाजन तर्हि पुर कुरुत पडिता ' ।४।

सर्व प्रथम यह मत्स्नेह-भाजन आर्य समुदय नामक मासिक पत्र में बम्बई से प्रकाशित हुआ था, इसके बाद जेठानन्द आसनमल ट्रस्ट बम्बई से।

योजना—श्रीलालभट्टोपनामक श्रीबालकृष्ण भट्ट ने तत्त्वार्थदीप निबन्ध प्रकाश पर योजना नामक ग्रन्थ की रचना की है। आचार्य के निगूढ आशय का योजनार्थ यह प्रयत्न है यह सम्पूर्ण प्रथम प्रकरण पर प्राप्त और प्रकाशित है—जे० आ० ट्रस्ट बम्बई—स० १९९९,

सुलोचना व्रजभाषा टीका—गो० श्रीनीरतनलालजी विरचित और मुकुन्द सेवक व गोकुलनामना शास्त्री द्वारा प्रवर्तित प्रकाशित। निबन्ध के प्रकाश आवरण-भंग टीका के आधार पर इस व्रजभाषा टीका का निर्माण हुआ है। विषम युक्ति पूर्वक सिद्धान्त का प्रतिपादन है। इसका दूसरा नाम निबन्ध-तात्पर्य साधिनी भी है। प्रका० श्रीधर शिवलाल बम्बई। स० १९६८।

शास्त्रार्थ निबन्ध गुर्जरानुवाद—शास्त्री हरिशंकर ओंकारजी द्वारा रचित। इसमें आवरण भंगादि टीकाओं के आधार पर वर्तमान शैली में गुर्जरानुवाद प्रस्तुत किया है जो योजना आवरण-भंग मत्स्नेह भाजन के साथ अन्तिम भाग में जेठा० आ० ट्रस्ट बम्बई में प्रकाशित है। स० १९९९

न्यासादेश:—श्रीवल्लभाचार्य कृत 'न्यासादेश' नाम से एक श्लोक है जिसमें गीता के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस श्लोक के आधार पर उसका संक्षिप्तार्थ ग्रथित किया गया है। यह इस प्रकार है:—

" न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिंचनाधिक्रियोक्ता
कार्पण्यं वांगमुक्तं मदितरभजनापेक्षणं वा व्यपोढम्
दुःखाध्येच्छ्रेयमी वा क्वचिदुपशमितान्यसमेलने वा
यथाक्न्याय उक्तस्तदिह न विहतो धर्मआनादिसिद्धो:"

प्रस्तुत श्लोक उसकी टीकाओं के साथ प्रकाशित है।

इसमें 'न्यासादेशेषु' ऐसा प्रयोग होने के कारण इसे न्यासादेश ग्रन्थ कहा है। गीता के तत्वदीपिकार श्रीवल्लभजी'सर्वधर्मान् परित्यज्य' श्लोक की व्याख्या में लिखते हैं। "एतच्च सर्वं न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतो किंचनाधिक्रियोक्तेति वेदांताचार्य पद्ये निरूपितम्" [तत्वदी० पत्र २०६]

इस कथन से किन्हीं लोगों का ऐसा भी अनुमान है कि यह ग्रंथ वल्लभाचार्य कृत नहीं है। पर शु० सिद्धान्त के कुछ पर कोटि के विद्वान पं० श्रीमन्नलालजी शास्त्री आदि इसे श्रीवल्लभ कृत ही मानते हैं; वेदान्ताचार्य से उनका यही तात्पर्य है। श्रीविट्ठलेश प्रभु चरण ने तथा श्रीपुरुषोत्तमजी ने इस पर विवरण लिखे हैं, अतः यह स्पष्ट है कि यह श्रीवल्लभाचार्य कृत ही है।

इस पर निम्नलिखित व्याख्यान मिलते हैं।

न्यासादेश—विवरण—श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण कृत यह विवरण न्यासादेश पद्य का है। प्रस्तुत श्लोक के गंभीर रहस्य को समझने मे इस टीका की आवश्यकता है। जिसमें पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष—शंका समाधान पूर्वापर-संगति के द्वारा शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार गीता का सारांश भरा गया है। दोनों का तात्पर्य यह है कि—भगवद्भाव की संप्राप्ति के लिये लौकिक वैदिक—साधन नहीं है, उसकी प्राप्ति केवल भगवद्—धर्म प्रपत्ति से—सम्भव है, अतः इनकी साधन रूप आस्था का परित्याग कर भगवच्छरण मे जाना चाहिये। भगवान् केवल भावविषय हैं, और इस प्रकार शरण जाने पर ही

शोक की निवृत्ति हो सकती है, क्योंकि केवल भावलभ्य रस ही उसे निवृत्त कर सकता है।

न्यासादेश विवरण टीका–श्रीपुरुषोत्तमजी विरचित। यह टीका संस्कृत मे न्यासादेश पद्य पर विलखित श्रीप्रभुचरण के विवरण पर है, जो प्रकाशित है—तत्वदी० टीका के साथ। सं० १९६०

न्यासादेश–हिन्दी तात्पर्य—पं० श्रीरमानाथ शास्त्रि कृत यह हिन्दी अनुवाद श्रीप्रभुचरण और श्रीपुरुषोत्तमजी के विवरण के आधार पर किया गया है। श्री बा० शु० पाठशाला बम्बई से प्रकाशित।

न्यासादेशपद्य-प्रासंगिक विवेचनम्–यह संक्षिप्त विवेचन श्रीवल्लभजी दीक्षित ने स्वकीय गीता की तत्वदीपिका टीका 'में सर्व-धर्मान्परित्यज्य' इस श्लोक की कारिका करते समय प्रासंगिक रूप से किया है, और उसमें श्रीप्रभुचरण के न्यासादेश—विवरण का संकेत दिया है, ग्रन्थ के साथ मुद्रित।

'सहजं कर्म कौन्तेय' इत्यस्य विवरणेसर्वधर्मान्परित्यज्य' इत्यस्य व्याख्या—श्रीव्रजभूषणात्मज गिरिधरजी कृत। संस्कृत में यह छोटा सा विवेचन है जो नई दिशा से सर्वधर्मान्परित्यज्य का व्याख्यान करता है। अप्रकाशित। सर० भं० कांकरोली शु० बं० ६२, ४ पर विद्यमान है।

गीता तात्पर्यम्-श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण कृत।

जैसा कि कथन है, गीता का तात्पर्य भक्ति की मर्यादा का निरूपण है। प्रारंभ में ६, और कारिकाओं में मंगलाचरण पूर्वक उपक्रम है और बाद में गद्य के द्वारा विषय का प्रतिपादन। जिसमें शंका समाधान पूर्वक विवेचन है। इसका संक्षिप्तार्थ इसके हिन्दी अनुवाद के परिचय के साथ कहा जायगा। यह ग्रन्थ तत्वदीपिका टीका के साथ सं० १९६० में श्रीमगनलाल शास्त्री द्वारा प्रकाशित हो गया है।

गीता तात्पर्य—हिन्दी अनुवाद पं० श्रीरमानाथ शास्त्रि कृत। यह अनुवाद, प्रभुचरण कृत गीता तात्पर्य का है। बड़ा मन्दिर बम्बई में सं० १९९१ में प्रकाशित।

गीता-तात्पर्य के पूर्व पक्ष सम्बन्ध में कहा गया है कि-गीता का उपक्रम कुछ असमंजस जैसा लगता है ? क्योंकि-प्रारंभ में अभक्त धृतराष्ट्र और दुर्योधन की सैन्य का वर्णन है। उपदेश श्रवण की योग्यता के स्थान पर अर्जुन के शोक, मोह, अशान्ति का उल्लेख है। इन सबसे विदित होता है कि जिस तत्व का उपदेश श्रीहरि स्वयं करने वाले हैं उसकी योग्यता—अधिकारिता-अर्जुन में नहीं है। किसी लौकिक कथा से अर्जुन का समाधान होना उचित था ? उपक्रम की भाँति गीता का उपसंहार भी ठीक नहीं है, कारण कि-भगवान् के उपदेशामृतपान से अर्जुन को वैराग्योदय होकर राज्यादि लौकिक सुख का त्याग होना चाहिये था, पर इसके विपरीत हिंसा जैसे निषिद्धातिनिषिद्ध कर्म में उसकी प्रवृत्ति कही गई है।

इत्यादि उपक्रमोपसंहार की दृष्टि से यह अप्रासंगिक जचता है। एतावता गीता के तात्पर्य के प्रति शंका का सहज उदय होता है कि वह क्या है ? उत्तर पक्ष में प्रभुचरण ने और तदनुसार अनुवादक ने कहा है कि- पार्थ-पाँचों पाडवों-को भगवान् ने अपना भक्त समझ कर भक्तिमार्ग में अंगीकार किया है, जैसा कि समय-समय पर युद्ध के पूर्व उनकी रक्षा करने से प्रकट है। क्षात्र धर्म के अनुसार वे शत्रुओं का संहार कर राजसुख का उपभोग कर सकते थे, पर ऐसा होने पर उस राज्य में भगवत्संबन्ध नहीं हो सकता था। इसके विरुद्ध अर्जुन के शोक, मोह, अशान्ति के कथन से मालुम होता है कि इसमें कुछ अलौकिक कारण अवश्य था। राज्य वैभव के अस्थायी सुख के लिये मानवों का हनन और उसमें भी आप्त स्वजनों का, एक आसुरी लक्षण है। इस विषय में दया आना दैवी गुण है जो भगवदीयता का लक्षण है, और वह भगवदीयता बिना भगवदिच्छा के संभव नहीं। अतः इससे अर्जुन की अन्य की अपेक्षा उत्तमाधिकारिता ही सिद्ध होती है, और इस विश्लेषण के लिये ही प्रारंभ में धृतराष्ट्र और दुर्योधन जैसों का उल्लेख है। जगत् क्षय के लिये प्रयत्न करनेवाले दुर्योधन जैसे दुष्कृतों का विनाश करना ["परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्"] भगवत्कार्य के अनुगुण था। ईश्वरीय कार्य से

विमुख होना एक प्रकार की महती कुमति है, जो जीव के श्रेय की बाधक है। इस कुमति को दूर करना करुणासिंधु परमात्मा अपना कर्तव्य समझते हैं, और समय समय पर उपदेश द्वारा जीव को सावधान किया करते हैं। इसी लक्ष्य की पूर्ति १८ अध्याय गीता का संदेश है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की इस बाधकारिणी अविद्या का नाश किया और उसे मुख्य कर्तव्य में संलग्न कराया। मर्यादामार्ग में वेद शास्त्रोदित कर्म का पालन धर्म है, वह विधशोधित है, और भक्तिमार्ग में विधिनिषेध से परे रहकर भगवदाज्ञा का परिपालन, उनकी इच्छानुसार चलना धर्म है। गीता इसी का एक उदाहरण है। अर्जुन को लक्ष्य कर जीवमात्र को इस मुख्य धर्म की ओर प्रवृत्त करना ही उसका सिद्धान्त है। यह भावना 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस श्लोक में भगवच्छरणागति से अंत में स्पष्ट करदी गई है।

परमभागवत और श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप के परिज्ञाता महात्मा भीष्म ने अपनी स्तुति के कथन में 'कुमतिमहरदात्मविद्यया यः' यह कहकर इसकी पुष्टि की है। अर्जुन का अन्तिम कथन 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' आदि इसी का प्रतिज्ञावाक्य है। अतः अर्जुन का भगवदिच्छानुकूल कार्य में दृढचित्त होकर प्रवृत्त होना, विशिष्ट महत्व पूर्ण कार्य है जो जीव का कल्याण साधन का श्रेष्ठ फल है। गीता के द्वारा सिद्ध होता है कि भगवदिच्छानुसार प्रवृत्ति और निवृत्ति मानना परम कर्तव्य है, भगवदिच्छा होने पर ही भागवतरत्न को स्वकर्तव्य का ज्ञान हो सकता है, अन्य साधनों से नहीं। अर्जुन का अंगीकार पुष्टिमर्यादा भक्ति में है पुष्टिपुष्टि में नहीं है, और इसी कारण वह उपदेश द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान से भगवत्कार्य में प्रवृत्त होता है, स्वतः नहीं।

अतः शास्त्रप्रतिपाद्य विषय के गंभीर चिंतन उपक्रम-उपसंहार और व्याख्यान की संगति से जो रहस्य निकलता है वह मननीय और वास्तविक गीता का तात्पर्य है। यह इस ग्रन्थ में संक्षिप्त रीत्या समझाया गया है। विट्ठलेश प्रभुचरण कृत गीतातात्पर्य में साढ़े आठ श्लोकों में पूर्वपक्ष के बाद आधे श्लोक और शेष गद्य द्वारा उत्तरपक्ष का कथन है।

'गीता तात्पर्य' के हिन्दी अनुवाद में पं० रमानाथशास्त्री ने इसी रहस्य को मौलिक ढंग पर सरल रूप से समझाया है। सं० १६७१ में इसकी रचना हुई है।

गीतार्थ विवरणम्—श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण प्रणीत गीतार्थ विवरण गीता के श्लोकों का अर्थ प्रतिपादन पूर्वक शु० सिद्धान्त का व्याख्यान है जो प्रारम्भिक अध्याय का ही मिलता है। सं० १६६० में श्रीमग्नलाल शास्त्री द्वारा बंबई से 'तत्त्वदीपिका' टीका के साथ प्रकाशित।

ग्रंथ में प्रारंभिक साढ़े चौदह पद्यों द्वारा मंगलाचरण और ग्रन्थ का उपक्रम किया गया है। प्रस्तुत विवरण की रचना के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कथन है—

"भाष्याण्यत्र बहून्येव सन्ति किन्तु हरिप्रिया.
न तैः मुदं समायान्ति सततात्पर्यकुञ्जरैः। ६।
निजबोधसुसिद्धयर्थमर्थतात्पर्यसगती:
कथयिष्यामि यज्ज्ञात्वा कृतार्थो भक्तिमान् भवेत्" । ७।

शास्त्रीय संगति कथन के अनन्तर प्रभुचरण की उक्ति है—यायन्न दृश्यते विज्ञैः गीतामृततरंगिणी। अथ व्याख्या। तत्र प्रथमोऽध्याये अर्जुनस्यार्तत्वं प्रतिपाद्यते'। इस कथन से अनुमान होता है कि—गीता पर पूरा विवरण लिखा गया था, जो सम्प्रति मिलता नहीं है।

इस विवरण मे श्लोकों की संगति और विशेष शब्दों के अर्थ निरूपण के अनन्तर सिद्धान्तों का भी कथन है। इसकी अंतिम पंक्ति इस प्रकार है—"कपिध्वज इति शब्द लाघवं सूचितम्"। इस से यह विदित होता है कि यह विवरण २० श्लोक पर्यन्त ही प्राप्त है।

अमृत तरंगिणी टीका—गो० श्री पुरुषोत्तमजी कृत गीता की सम्पूर्ण टीका है जो काशी में प्रकाशित है। सं० १६४८

इसकी रचना श्रीपुरुषोत्तमजी ने श्रीव्रजरायजी के नाम से की है ऐसा भी प्रसिद्ध है। इसे गीता का शुद्धाद्वैत साम्प्रदायिक भाष्य कहा जा सकता है। प्रस्तुत टीकाकार ग्रन्थार्थ के सम्बन्ध में कहते हैं:—

भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम इस जगत् मे सर्वमुक्त्यर्थ अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने स्वरूप से, चरित्र से, उपदेश से और स्तुति से सभी प्रकार के जीवों का उद्धार किया था। मानव जीवों के उद्धारार्थ

और विशेष कर आगे होने वाले मनुष्य वर्ग के लिये उन्होंने अर्जुन को निमित्त बना कर गीता शास्त्र का उपदेश दिया और उनके लिये कर्तव्य का बोध कराया था। भगवत्प्रोक्त इसी भक्ति उपदेश को महर्षि वेदव्यास ने गीता में ग्रथित किया जो लगभग सातसौ श्लोकों में है, जिसे 'गीतोपनिषद्' 'ब्रह्म विद्या' कहा गया है। गीता का प्रतिपाद्य क्या है? तदर्थ श्रीविट्ठलेश्वर कृत गीता तात्पर्य के अवलोकन का सुझाव देकर टीकाकार ने गीता के प्रस्तुत भाष्य की रचना की है, जो सम्पूर्ण १८ अध्यायों पर मिलता है। अन्य टीकाओं के साथ यह गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई से प्रकाशित है, काशी से भी।

इस संस्कृत टीका में यत्रतत्र अन्य सिद्धान्तों का उल्लेख कर तत्त्वदीप-निबन्ध, सुबोधिनी, अणुभाष्य के आधार पर शुद्धाद्वैत सिद्धान्तानुसार तात्त्विक विवेचन किया गया है।

रसिक रंजिनी टीका—श्रीकल्याण भट्ट कृत, यह संस्कृत टीका गीता के सम्पूर्ण अध्यायों पर उपलब्ध है। अहमदाबाद शुद्धाद्वैत संसद द्वारा प्रकाशित।

इस विवरण में भी शास्त्रीय शैली से गीता के श्लोकों का अभिप्राय व्यक्त करते हुए सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

तत्त्वदीपिका टीका— गो० श्रीवल्लभजी कृत। गीता के १८ अध्यायों पर सम्पूर्ण भक्ति भाव बोधिनी टीका संस्कृत में उपलब्ध है जो प० श्रीमन्नालाल शास्त्री बम्बई द्वारा संपादित होकर प्रकाशित है। सं० १९९०

गीता के अभिप्राय में निबन्धकार का कथन है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने अविवेक से स्वधर्म का त्याग और परधर्म का ग्रहण करने पर सन्नद्ध पंडितमानी भक्त अर्जुन को सांख्य और भक्ति का उपदेश देकर शरणागति में लिया और उपदेश देकर अपने स्वरूप का परिचय कराया था। वह मोहवश परित्यक्त स्वधर्म-जो उसका पारंपरिक कर्तव्य था-क्षत्रिय धर्म में भगवदाज्ञा से प्रवृत्त हुआ, भगवान् ने अनुग्रह कर उसे मोक्ष प्रदान किया। —तत्त्व दी० उपक्रम-

गीता के स्वरूप सम्बन्ध में टीकाकार की उक्ति है—

'यस्यां तर्गतमेव यत्र विमलं ज्ञानं विशुद्धं परम्
साक्षाच्च भ्रीपुरुषोत्तमैक विषयं भक्तिश्च निर्हेतुका।

मर्यादा भुवि पुष्टिरुद्भवमिता गत्या प्रपत्त्यात्मनः
सर्वत्यागत एव सेयममला गीता समुद्भासते ॥ [समाप्ति ६]

प्रस्तुत टीका मे अध्यायार्थ के प्रारभ मे कारिकाओं द्वारा सगति के निरूपण हैं और उसी प्रकार समाप्ति मे उपसहृति । प्रसगोपात्त अन्य मतों का विवेचन करते हुए आचार्य प्रदिष्ट सिद्धान्त समूह का यत्रतत्र निरूपण है । अवशिष्ट प्रमाणत्रय के वाक्यों का समन्वय इसकी विशेषता है ।

गीताभाष्यम्—गोस्वामि श्रीवल्लभदीक्षितात्मज श्रीबालकृष्णजी विरचित सस्कृत गीता भाष्य का नाम मिलता है, जो उपलब्ध नहीं है । इन्होंने स्वरचित तत्वार्थदीप भाष्य [शु० ग्र० ४५, १२ सर० भ०] मे दो बार इसका नाम स्मरण किया है ।

"विस्तरस्तु मत्कृते गीताभाष्ये द्रष्टव्य." पत्र १६
"एतच्चास्माभिर्गीताभाष्ये विततम् ॥" पत्र २०

एतावता इनका रचित गीताभाष्य होना चाहिये । यह ग्रन्थकर्ता श्रीहरिरायजी के अनन्तर हुआ है जैसा कि उसी ग्रन्थ मे लिखा है । "अत्रेदमाहुर्हरिराया " [पत्र ८६] ग्रन्थ की अप्राप्ति से इसका कुछ परिचय नहीं दिया जा सकता ।

भगवद्धर्म बोधिनी व्याख्या—प० श्रीरमानाथजी शास्त्रि कृत हिन्दी मे । बडा मन्दिर बबई से प्रकाशित ।

इसमे प्रासगिक विवेचन के उपरात गीता के श्लोकों का सक्षिप्तार्थ दिया गया है, जो मूल टीका ग्रन्थों के अनुसार है ।

गुजराती टीका—प० श्रीजटाशकर शास्त्रिकृत । यह गुजराती टीका साधारण श्रेणी के जनों के लिये गीताज्ञानार्थ उपादेय है, भक्ति साम्राज्य कार्यालय बडोदा से प्रकाशित ।

गीतासिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थ—

गीतार्थ विचारः—पो० श्रीबालकृष्ण शास्त्रीजी ने सस्कृत मे गीता के अर्थ पर विवेचनात्मक नीचे लिखे निबन्धों की रचना की है । [पु० स० ४० पु० स० ८६ ख]

१. गीताध्यायार्थः—निबन्धकार के अभिप्रायानुसार गीता के अध्यायों का विभाग इस प्रकार है जो पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त की दृष्टि से मननीय है। [पं० सं ४० (ग)

[क] प्रथम अध्याय में अधिकारार्थ की दृष्टि का स्पष्टीकरण है

[ख] द्वि० अ० से लेकर षष्ठाध्याय तक पाँच अध्यायों मे कर्म स्वरूप का प्रतिपादन है। पाँच प्रकार का वैदिक कर्म पंचविध काल के पञ्चविध दोषों का निवर्तक है। यह पञ्चविध दोष सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थ में कहे गये हैं। अतः पाँच अध्याय कर्म के प्रतिपादक है।

[ग] सप्तम अ० से लेकर नवम अध्याय पर्यन्त तीन अध्यायों में आत्मा के त्रिविध भेद "आत्मा, अक्षरब्रह्म एवं परमात्मा" के त्रिविध ज्ञान का प्रतिपादन हुआ है, अत. तीन अध्याय हैं।

इस प्रकार नौ अध्याय कर्म और ज्ञान योग के हैं

[घ] दशम लेकर अष्टादश अध्याय तक ६ अध्याय अक्षर ब्रह्म से--अतीत पूर्ण पुरुषोत्तम की नवविधा भक्ति के प्रतिपादक हैं अतः नौ अध्याय भक्ति स्वरूप-निरूपक हैं।

इस प्रकार गीता के १८ अध्यायों मे तीन प्रकार हैं।

१ कर्मयोग – इसमें ज्ञान भक्ति गौण और कर्म प्रधान है।

२. ज्ञानयोग—इसमें कर्म भक्ति गौण और ज्ञान प्रधान है।

३. भक्तियोग—इसमें कर्म ज्ञान गौण और भक्ति प्रधान है।

कर्मयोग का फल आत्मभाव, ज्ञानयोग का फल ब्रह्मभाव और भक्तियोग का फल पुरुषोत्तम-भाव-रूप पुरुषार्थ का गीता निरूपण करती है। जिससे सभी जीवों का अधिकारानुसार समावेश होता है। ग्रन्थ में इस प्रकार विश्लेषण करके आगे श्लोकों के उद्धरण द्वारा इसका समर्थन किया गया है।

२. गीतोक्त पारिभाषिकाः शब्दाः "इसमें पारिभाषिक शब्दों का संकलन किया गया है। पं० सं० २३ (क)

३. गीता सिद्धान्त-विवेचनम्" इसके द्वारा कतिपय शु० सिद्धान्तों का समर्थन किया गया है। पं० २२ (ख)

४. गुणत्रय स्वरूप-विचारः" गीतोक्त गुणत्रय के स्वरूप निरूपण पर प्रकाश डाला गया है। पं० सं० ३ (क)

४. गायत्रीगीतार्थयोगैकवाक्यता इसमें गायत्री मन्त्र के अर्थ से गीता का साम्य किया गया है। प० स० ८३ (ग)

५. गीता-विषयानुबन्धि-श्लोक-संग्रहः॰॰ इसमें विषय के अनुसार मूल श्लोकों का संग्रह किया गया है। प० स० ४० (क ख)

६. प्रकीर्ण श्लोक-व्याख्यानम् निम्न लिखित श्लोकों पर प्रासंगिक सिद्धान्तानुसार विवेचन किया गया है

क--'सर्वधर्मान्परित्यज्य' इत्यस्य व्याख्या प० स० २५ (ख)

ख--'पत्र पुष्प फल तोयं' इत्यस्य व्याख्या प०स० ४२।१० (ख)

ग--'मा हि पार्थ व्यपाश्रित्य' इत्यत्र व्यपाश्रय शब्दार्थ प०स०७(क)

७ गीता का हिन्दी भावार्थ—इसमें हिन्दी भाषा में गीता के सिद्धांत का निरूपण है। प० स० ८४ (क)

यह सब ग्रन्थ जो कि निबन्धात्मक हैं अप्रकाशित हैं और श्रीबालकृष्ण शास्त्री की हस्तलिखित पञ्जिकाओं में स० ७६(ख) से ४० तक सुरक्षित हैं।

गीता का पृथक् शरण मार्ग-प० श्रीरमानाथजी शास्त्रि कृत यह हिन्दी भाषा में लिखा हुआ निबन्ध है जो पु० युवक परिषद् बम्बई से प्रकाशित है। स० १९९६

प्रस्तुत व्याख्यानात्मक ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने गीता के ऊपर निर्मित शंकराचार्य आदि सभी सिद्धान्तवादियों के व्याख्यानों पर दृष्टि निक्षेप करते हुए उनकी समालोचना की है और गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है? इस पर शंका समाधान और प्रमाणवाक्यो पन्यास पूर्वक शुद्धाद्वैत मतानुसार प्रकाश डाला है। ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि यद्यपि गीता में त्रिविध योग का प्रतिपादन हुआ है तथापि उसका निर्गलितार्थ शरणमार्ग है जो श्रीवल्लभाचार्य की दृष्टि बिन्दु के अनुसार ही है। अन्य सिद्धान्तवादियों ने गीता के अनुसार नहीं प्रत्युत अपने सिद्धान्त के अनुसार गीता की व्याख्या की है, अतः वह समीचीन नहीं है। उपसंहार में जो शास्त्र का मत होता है वही शास्त्र का हृदय है अतः गीता सर्वान्त में परमगुह्य रूप में "सर्वधर्मान्परित्यज्य" का उल्लेख करती है जो एक विलक्षण शरणमार्ग है।

गीता-रहस्यार्थ दर्शन—गो० कठमणि शास्त्रि कृत। हिन्दी भाषा में यह एक विस्तृत निबन्ध है जो नये दृष्टिकोण से गीता पर विचार उपस्थित करता है। अप्रकाशित और ग्रन्थकार के पास सुरक्षित है। रचना काल सं० २०१४

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की विचारसरणी पर इन ग्रन्थों में पृथक् पृथक् निबन्ध लिखे गये हैं। जिनमें प्रकरण, अध्याय, श्लोक इन सबकी पारस्परिक सगति का विचार करते हुए भक्तिमार्गीय दृष्टि से तात्विक विवेचन है, जिसमें जीव ब्रह्म, पुरुषोत्तम, जगत्, ससार विद्या अविद्या कर्म ज्ञान भक्ति पुरुषार्थ आदि सभी विषयों का समावेश होता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा प्रसगोपात्त उपदिष्ट श्रवण, दर्शन, नमन, मनन, युद्ध, आदि के आदेशों का रहस्य सम्यक् विवेचित किया गया है। कर्म ज्ञान की अपेक्षा भक्ति इस मानव-लोक के लिये क्यों अपेक्षित और उपादेय है इसका मौलिक व्यवहारिक व्याख्यान किया गया है—आदि। प्रमाण एवं युक्ति पुरस्सर प्रस्तावित यह ग्रन्थ हिन्दी में शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखता है।

* इति श्रीकृष्ण-वाक्य प्रमाणप्रकरणम् *

शु० पु० संस्कृत वाङ्मय



तृतीय प्रकरण



व्याससूत्रों का स्वरूप परिचय—

वेद-प्रतिपाद्य ब्रह्म के परिज्ञान में ब्रह्मसूत्रों का सबसे अधिक उपयोग है। इन्हें महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने प्रणीत किये हैं। यह उत्तर—मीमांसा, व्याससूत्र, बादरायण सूत्र, ब्रह्म-जिज्ञासा सूत्र तथा चतुर्लक्षणी मीमासा नाम से भी यह प्रख्यात हैं।

जैसा कि लक्षण कहा गया है:—'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखं, अस्तोभमनव द्यंच सूत्रं सूत्रविदो विदुः'। तथा "लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च, सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहु-र्मनीषिणः—रश्मिसार आदि के निर्देशानुसार इन सूत्रों का यही स्वरूप है। सूक्ष्म किंच गंभीर रूप से तात्त्विक निर्देश करना इनका मुख्य प्रयोजन है। इनकी रचना के सम्बन्ध में स्कंद पुराण में कहा है-कि भगवान् नारायण के द्वारा सस्थापित कृतयुग का ज्ञान त्रेता में कुछ और द्वापर में पूर्ण विकृत हो गया, जिसका कारण जीवों की बुद्धि का भ्रम और अल्पज्ञता थी। गौतम ऋषि के शाप से ज्ञान अज्ञान रूप में परिणत होगया, देवगण संकीर्ण बुद्धि वाले होजाने के कारण ब्रह्मा और रुद्र को साथ लेकर परमात्मा की शरण में गये, शरण्य भगवान् विष्णु ने उन्हें आश्वासन दिया और कुछ काल के बाद वे पराशर से सत्यवती में व्यासरूप से अवतीर्ण हुए।

भगवान् वेदव्यास ने उत्सन्न वेदों का उद्धार किया, उनका एकधा, द्वादशधा, चतुर्विंशतिधा, तथा शतधा और सहस्रधा विभाग किया। शिष्यवर्ग को शाखा-भेद से वेदाध्ययन कराया। इसके अनन्तर वेदार्थ के सम्यगवबोध के लिये उन्होंने ब्रह्मसूत्रों की रचना की।

जिनसे वेदप्रतिपादित सिद्धांत का निर्णय होता है। व्यास जी ने ब्रह्मसूत्रों की रचना द्वारा ब्रह्मा रुद्रादि देवों और मनुष्य पितर आदि में ज्ञान की संस्थापना की। इस प्रकार भगवान् श्रीपुरुषोत्तम जगत् में ज्ञान स्वरूप से क्रीडा करते हैं।

अणुभाष्य-प्रकाश की रश्मिनामक टीकाकार श्रीगोपेश्वरजी ने इस प्रकार का अवतरण देकर ब्रह्मसूत्र-रचना का प्रयोजन बताया है। कहने का तात्पर्य यह है कि —शास्त्रीय पचांग अधिकरण की दृष्टि से इस उत्तर मीमांसा से ब्रह्म सम्बन्धी की समस्त जिज्ञासा की पूर्ति और श्रुति के संदेहों का समाधान होता है। इसी महत्त्व के कारण शुद्धाद्वैत सिद्धांत के संस्थापक श्रीवल्लभाचार्य ने स्वकीय प्रमाण-चतुष्टय की गणना में इन्हें तृतीय प्रस्थान के रूप में स्वीकारा है। इन व्याससूत्रों में उठने वाले सन्देहों का निरास करने के लिये श्रीमहाप्रभु ने भागवत शास्त्रों को अंगीकार किया है। फलतः वेद का प्रत्यक्ष संशय-निरसन व्याससूत्रों की दिशा से भी किया जाता है सो सयुक्तिक और सहेतुक है। गीता में इन्हें हेतुमान् विशेषण दिया गया है। "ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ." [अ० १३, ४]

महर्षि वेदव्यास उत्तरमीमांसा द्वारा निःसन्दिग्ध। श्रुतियों के निरापद अर्थ का प्रतिपादन करते चले जाते हैं पर जहाँ उन्हें अन्य पूर्ववर्ती या समकालीन समर्थ आचार्यों के मत में विभिन्नता दीखती है, ब्रह्मसूत्रों में नामनिर्देश पूर्वक उनके मत का उल्लेख करते हैं, जो इस प्रकार है —

१.	जैमिनि	प्र० अ० २, ५८	तथा अन्यत्र
२.	आश्मरथ्य	प्र० अ० २, २६	
३.	बादरि	प्र० अ० २, ३०	
४.	औडुलोमि	प्र० अ० ४, २१	
५.	काशकृत्स्न	प्र० अ० ४, २२	
६.	कार्ष्णाजिनि	तृ० अ० १, ६	
७.	आत्रेय	तृ० अ० ४, ४३	

उक्त ऋषियों के सम्बन्ध में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है— "नानामिन्नार्थं चत्वार ऋषयो वेदार्थ चिन्तकाः प्रकारभेदेन। तत्र केवलं

शब्दबल विचारका आचार्यो बादरायण शब्दार्थयो जैमिनि। आश्मरथ्यस्तु शब्दोपसर्जनेनार्थ विचारक। केवलार्थ विचारको बादरि"
प्र० प्र० २, २८

अर्थात् परमाप्त वाक्य वेद के केवल शब्दबल विचारक आचार्य बादरायण शब्द और अर्थ दोनों को सामने रखकर विचार करने वाले जैमिनि हैं। आश्मरथ्य शब्दोपसर्जन से विचार करते हैं और बादरि केवल अर्थ पर ध्यान देकर। आचार्य बादरायण की विशेषता यह है कि वे वेद को ब्रह्म रूप और शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध होने से उसका अर्थ स्वत ही उसके साथ सम्बद्ध है ऐसा मानते हैं। वेद, प्रमत्त प्रलाप तो है नहीं, वह तो दिव्य अर्थ का प्रतिपादक है। हाँ, उसके अर्थावबोध के लिये शास्त्रीय पञ्चाङ्ग की और उसके विषय को स्पष्ट करने वाले अन्य प्रस्थानों के वाक्यों की अपेक्षा होती है जिससे समन्वय द्वारा श्रुति वचनों म विरोध न आने और आता है तो उसका परिहार किया जा सके। इसी दृष्टि को सामने रखकर श्रीवल्लभाचार्य का कथन है—"वेदाः शब्द एव प्रमाणं तत्रायलौकिक ज्ञापकमेव तत्स्वत सिद्ध प्रमाणभाव प्रमाणम्।" और 'वेदश्च परमातोक्तमात्रमप्यन्यथा न वदति, अन्यथा सर्वत्रैव तदविश्वासप्रसगात्।" आदि।

शुद्धाद्वैत की दृष्टि मे ब्रह्मसूत्र उत्तरमीमासा के चार अध्याय और प्रत्येक अध्याय मे चार चार पाद हैं। साभिप्राय चार अध्याय होने के कारण इस को चतुर्लक्षिणी मीमासा भी कहते हैं। अध्याय पाद क्रमानुसार इसके अधिकरण और सूत्र सख्या यह है।

* प्रथमाध्याय—समन्वयाध्याय

प्रथम पाद—१० अधिकरण ३० सूत्र। इसमे विचार शास्त्र समर्थनपूर्वक शब्दगत सन्देहों का निराकरण है।

द्वितीय पाद—८ अधिकरण ३२ सूत्र। इसमे अन्तर्यामिस्वरूप विचार नामधेय स्वरूप का सन्देह निराकरण है।

---

* प्रकाशानुसारी मतान्तरसमेत ब्रह्म सूत्र पाठ। प्रकाशक गुजराती न्यूज मुद्रण बम्बई।

तृतीय पाद—१० अधिकरण ४३ सूत्र। इसमें उपास्य स्वरूप का विचार नामाधार स्वरूप का सन्देह निवारण है।

चतुर्थाध्याय—८ अधिकरण २८ सूत्र। इसमें मतान्तर श्रौततात्पर्य जनक प्रकीर्ण वाक्यार्थों का विचार है।

द्वितीयाध्याय—अविरोधाध्याय

प्रथम पाद—१२ अधिकरण ३७ सूत्र। इसमें स्मृति का विचार है।

द्वितीय पाद—८ अधिकरण ४५ सूत्र। इसमें तर्क का विचार है।

तृतीय पाद—१६ अधिकरण ५३ सूत्र। इसमें वियदादि शब्दों का विचार है।

चतुर्थ पाद—१० अधिकरण २२ सूत्र। इसमें प्राणादि शब्दों का विचार है।

तृतीयाध्याय—साधनाध्याय

प्रथम पाद—८ अधिकरण २७ सूत्र। इसमें अधिकारी के जन्म निर्धारण विचार है।

द्वितीय पाद—११ अधिकरण ४१ सूत्र। इसमें विषय की अवधृति का निरूपण है।

तृतीय पाद—२५ अधिकरण ६६ सूत्र। इसमें गुणोपसंहार का वर्णन है।

चतुर्थ पाद—१६ अधिकरण ५१ सूत्र। इसमें कर्मोपसंहार का वर्णन है।

चतुर्थाध्याय—फलाध्याय

प्रथम पाद—७ अधिकरण १६ सूत्र। इसमें फल का विचार है।

द्वितीय पाद—७ अधिकरण २१ सूत्र। इसमें म्रियमाण के फल का विचार है।

तृतीय पाद—५ अधिकरण १७ सूत्र। इसमें गतिशील साधक के फल का विचार है।

चतुर्थ पाद—५ अधिकरण २२ सूत्र। इसमें प्राप्त फल सिद्ध पुरुष के फल का विचार है।

इस प्रकार ब्रह्म-मीमांसा के चारों अध्यायों के १६ पादों मे संकलित रूपेण इस प्रकार अधिकरण और सूत्र संख्या है:—

प्रथमाध्याय	...३४ अधिकरण	१३३ सूत्र
द्वितीयाध्याय	...४६ अधिकरण	१५७ सूत्र
तृतीयाध्याय	...५३ अधिकरण	१८५ सूत्र
चतुर्थाध्याय	...२४ अधिकरण	७६ सूत्र
	१५७	५५४

इस संख्या निर्देश का तात्पर्य अन्य सिद्धान्तवादियों की परिगणना से है। श्रीशंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क भास्कर, भिक्षु आदि आचार्य जिन्होंने इन सूत्रों पर भाष्य रचना की है, जहां सूत्रों में पाठान्तर मानते हैं वहाँ योग-विभाग मे कई सूत्रों के पृथक् पृथक् रूप भी स्वीकार करते हैं। किन्हीं का अन्तर्भाव भी लेकर हैं, अधिकरणों का भेद भी।

शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार सूत्रों का व्याख्यान करने वाले, इच्छाराम निर्भयराम आदि भी कहीं-कहीं पाठान्तर के अनुसार व्याख्या करते हैं। जैसा कि गीता में कहा है—ब्रह्म-सूत्र हेतुमान् हैं अतः श्रीवल्लभाचार्य सिद्धान्त सूत्र के साथ हेतु को संयुक्त ही स्वीकार करते हैं। अन्य और हेतु अलग हों, यह बात दूसरी है, पर अन्य आचार्यों ने इसका कोई आग्रह नहीं रक्खा। दृष्टान्त रूप मे "जन्माद्यस्य यतः"—शास्त्रयोनित्वात्।" यह दो सूत्र माने गये हैं और वल्लभ मत में एक ही। अस्तु, इस पद्धति में अणुभाष्य-प्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजी का प्रकार अधिक ग्राह्य है। शुद्धाद्वैत सिद्धान्तानुसार व्याख्याओं में विभिन्न अधिकरण भेद भी दृष्टिगोचर होते हैं।

अधिकरण-संख्या-विचार—ब्रह्म सूत्रों पर अणुभाष्य के अनुसार अधिकरणों की संख्या पर श्रीबालकृष्णशास्त्रीजी ने [स्वरचित पञ्जिका सं० १७, क-२५, क तथा ३०, ख मे] विशद विचार व्यक्त किये हैं जो मौलिक और शास्त्रीय आधार पर निर्धारित हैं। अप्रकाशित है।

प्रस्तुत ग्रंथ में भाष्य के अनुसार संक्षिप्तार्थ का संकेत कर प्रत्येक पाद की सूत्र संख्या अधिकरण संख्या अथच उस संख्या 'का' अभिप्राय

र्किमूलक है यह निर्णीत किया है। अध्यायार्थ का पादार्थ के साथ और उन दोनों का सूत्रों के अधिकरणों की संख्या के साथ क्या सम्बन्ध है? यह विषय एक मौलिक विचार है। इसमें अणुभाष्य की विचार पद्धति का स्वारस्य विदित होता है। यह कहा जा सकता है कि अणुभाष्य की शैली में यह एक वैज्ञानिक विमर्शप्रणाली है, जो बहुत कम विद्वानों ने अपनाई है। आचार्यचरण की यह प्रणाली सुबोधिनी सप्तार्थ विवेचन रूप में मिलती है। जहाँ प्रकरणों की, अध्यायों की और श्लोकों की संख्या का समन्वय प्रतिपाद्य विषय के साथ किया गया है।

ब्रह्मसूत्राधिकरण-गणना :—

श्रीबालकृष्ण शास्त्रीजी की इस परिगणना से सूत्र और अधिकरणों का योग इस प्रकार निश्चित होता है —

प्र० अ०	१ पाद	३१ सूत्र	१० अधिकरण
	२ पाद	३२ सूत्र	७ अधिकरण
	३ पाद	४३ सूत्र	१३ अधिकरण
	४ पाद	२८ सूत्र	८ अधिकरण
द्वि० अ०	१ पाद	३७ सूत्र	१३ अधिकरण
	२ पाद	४५ सूत्र	८ अधिकरण
	३ पाद	५३ सूत्र	१७ अधिकरण
	४ पाद	२२ सूत्र	९ अधिकरण
तृ० अ०	१ पाद	२७ सूत्र	६ अधिकरण
	२ पाद	४१ सूत्र	८ अधिकरण
	३ पाद	६६ सूत्र	३६ अधिकरण
	४ पाद	५२ सूत्र	१७ अधिकरण
च० अ०	१ पाद	१९ सूत्र	१४ अधिकरण
	२ पाद	२१ सूत्र	११ अधिकरण
	३ पाद	१६ सूत्र	६ अधिकरण
	४ पाद	२० सूत्र	७ अधिकरण
४	१६	५५५	१८०

अधिकरणों का संक्षिप्त अभिप्राय इस प्रकार है।

(१) प्र०अध्याय समन्वयाध्याय है, इसमें "सर्वं ब्रह्म" इस प्रकार का

शब्द ही प्रमाण है। अत इसकी शब्द की प्रमाणिकता से सम्बन्ध होने से यह प्रमाणाध्याय माना जाता है।

प्र० पाद में जीव जड की ब्रह्मोपादानता का कथन है, अत पाणिनीय व्याकरणानुसार शब्द की दशविधता से १० अधिकरण हैं। अथवा नाम रूप शब्द लिंग भेद से त्रिविध है। आख्यात भी पुरुषभेद या कालिभेद से त्रिविध है। उपसर्ग और निपात यह दो, तथा वाक्य और महावाक्य रूप इस प्रकार शब्द १० विध माना गया है।तदर्थ शब्दसन्देह के निराकरणार्थ यहाँ १० अधिकरण हैं।

द्वि० पाद में आधेय रूप ब्रह्म का प्रतिपादन है, ब्रह्म आधार और जीव उसके आधेय हैं, जीव सप्त लोकस्थ हैं इस कारण अथवा द्विविध कर्मी, द्विविध ज्ञानी और त्रिविध भक्त इस प्रकार सप्त विधि जीवों के कारण से यहाँ ७ अधिकरण है।

तृ० पाद में आधार रूप से ब्रह्म का वर्णन है। १३ अधिकरणों में जड पुरस्सर सन्देह निराकरण है। जडवर्ग त्रयोदश विध है। ५ भूत, ५ इन्द्रियाँ १ मन, १ बुद्धि, १ प्राण। अत यहाँ १३ अधिकरण हैं।

च० पाद में जीव जड़ उभय पुरस्सर उसके धर्मी का अन्तर्यामी में भान रूप सन्देह निराकरण है, त्रिविध गुण, प्रकृति, महत्तत्व, अहकार, माया और पुरुष यह आठ हैं और तदर्थ यहाँ ८ अधि-करण हैं।

इस प्रकार प्रमाण सज्ञक, समन्वयाख्य प्रथमाध्याय के एकत्र ३८ अधिकरण होते हैं।

(२) द्वि० अध्याय में अविरोध द्वारा प्रमेय में श्रद्धा का दृढीकरण किया गया है, अत यह प्रमेयाध्याय श्रद्धाध्याय है। प्रमेय के अतिरिक्त अन्यत्र अश्रद्धा का प्रतिपादन है।

प्रथम पाद में शब्द और अर्थ म स्मृति प्रमाण नहीं है। वेद के आनुगुण्य से उसे स्वीकार किया जाता है, तदर्थ १३ अधिकरण है शब्द पूर्वोक्त १० विध है और अर्थ जड, जीव, ईश्वर रूप त्रिविध,इस प्रकार दोनों को मिला कर १३ होते हैं। यह १३ स्मृत्युक्त प्रमाण नहीं अत स्मृति में अश्रद्धा और वेद में श्रद्धा का प्रतिपादन है।

द्वि० पाद में युक्ति भी अप्रमाणिक होने से अश्रद्धेय है, इसका प्रतिपादन है। न्याय के पञ्च अवयव, त्रिविध हेत्वाभास, इस प्रकार आठ के कारण इसमें ८ अधिकरण हैं।

तृ० पाद में जड, जीव, में अश्रद्धा और अन्तर्यामी का स्वरूप वर्णित है। इसमें १७ अधिकरण हैं। जड जीव में अश्रद्धा और अन्-

र्यामी में श्रद्धा। जड़ एकादश विध है। तीन गुण, अष्ट विध प्रकृति। आत्मा द्विविध है—जीवात्मा परमात्मा। काल, कर्म, स्वभाव, अक्षर और पुरुषोत्तम का एक रूप इस प्रकार इसमें १७ अधिकरण हैं।

च० पाद में प्राण इन्द्रियादि अध्यात्म स्वरूप का प्रतिपादन है, इसमें ६ अधिकरण हैं। अध्यात्म नव विध है—प्राण, अपान, बुद्धि मन, पंच ज्ञानेन्द्रिय। इस प्रकार अध्यात्म भी अश्रद्धेय है, अधिदैव श्रद्धेय है।

इस प्रकार प्रमेय संज्ञक, वेद श्रद्धाभिध, अविरोधापर नामक द्वितीय अध्याय के ४७ अधिकरण होते हैं।

(३) तृ० अध्याय साधनाध्याय है, जिसमें परम गति के लिये जीव के अनुष्ठेय कर्म, ज्ञान, भक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

प्र० पाद में अधिकारिदेह विषयक ६ अधिकरण हैं—ब्रह्म, क्षत्रिय वैश्य—वेदाधिकार रहित शूद्र के सिवा त्रिधा वर्ण का अथवा गृहस्थ व्यतिरिक्त त्रिधा आश्रमस्थ पुरुषों में प्रत्येक के अर्चिरादि और धूमादि मार्ग के भेद से ६ अधिकरण हैं।

द्वि० पाद में कर्म रूप साधन का कथन है, जिसमें ८ अधिकरण हैं। वैदिक और स्मार्त कर्म प्रत्येक नित्य नैमित्तिक काम्य भेद रूप त्रिविधता के कारण ६ प्रकार का है, और योग तथा तन्त्रोक्त यह द्विविध और मिलाने पर आठ प्रकार का होता है। अत. कर्म के प्रकार भेद के कारण यहाँ ८ अधिकरण हैं।

तृ० पाद में ज्ञान रूप साधन का कथन है। इसमें सबसे अधिक ३६ अधिकरण हैं।

ज्ञान के अठारह साधन हैं जो गीता में "अमानित्वमदम्भित्व आदि से लेकर अरतिर्जन—संसदि" पर्यन्त कहे गये हैं। यह अष्टा-विध ज्ञान प्रत्येक अध्यात्मज्ञान और तत्वज्ञान रूप से द्विविध होने के कारण ३६ प्रकार का होता है। अध्यात्म ज्ञान उपनिषद् से अविरुद्ध सांख्य योग द्वारा तथाच तत्वज्ञान उपनिषदों से प्राप्त होता है, एतदर्थं ३६ अधिकरण हैं—इसी को शास्त्रों में "वदन्ति तत्तत्व विदस्तत्व यज्ज्ञानमद्वयं" इस रूप में तत्वज्ञान अथच "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादि रूप में आत्मज्ञान रूप है।

च० पाद में भक्ति रूप साधन का उल्लेख है। जिसके १७ अधिकरण हैं। भक्ति मर्यादा और पुष्टि भेद द्विविध होने पर अवान्तर भेद से प्रत्येक नव विधा होने से अठारह प्रकार की होनी चाहिये, पर मर्यादा में सख्य का और पुष्टि में दास्य का अभाव माना जाता है अतः १६ प्रकार की होती है। एक निर्गुण भक्ति को मिलाने पर १७ भेद होते हैं अतः यहाँ १७ अधिकरण हैं।

इस प्रकार साधनापर नामक न में ज्ञान भक्ति निरूपक तृतीय अध्याय में एकत्र ६७ अधिकरण होते हैं।

(४) च० अध्याय फलाध्याय है। पुरुषार्थ द्वय रूप में दुःखाभाव और सुख रूप में अंगीकार किया जाता है। दुःखाभाव रूप पुरुषार्थ कर्म और ज्ञान से अधिगत होता है, सुख भक्ति से।

प्र० पाद में १४ अधिकरण हैं। जिसमें चतुर्दश विध दुःखाभाव का कथन है। १० इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि चित्त, अहंकार इस चतुर्विध अन्तःकरण, एकत्र १४ प्रकार के दुःख की विनिवृत्ति कर्म के द्वारा सत्व प्रादुर्भाव से होती है तदर्थं १४ अधिकरण हैं। अथवा पंच महाभूत पंच इन्द्रिय और चतुर्विध अन्तःकरण इनके एकत्रित चतुर्दश विध दुःख की निवृत्ति इसमें वर्णित है।

द्वि० पाद में ११ अधिकरण हैं। आत्मा एकादश इन्द्रिय माह्य होने के कारण उसको उनके ससर्ग से एकादश विध दुःख की संभावना रहती है जिसकी निवृत्ति आत्मज्ञान साधन से होती है, और यह स्थिति उनके संसर्गाभाव से प्राप्त होती है। तदर्थ ११ अधिकरण है। आत्मा को इसी अस्पृष्टता के लिये मांडूक्योपनिषद् में 'अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्य' आदि १२ विशेषणों से स्मरण किया गया है। इस प्रकार आदि में दो पादों से कर्म ज्ञान के भेद से दुःखाभाव का समर्थन किया गया है।

तृ० पाद में सुखात्मक फल, भक्ति से अधिगत होता है तदर्थं ६ अधिकरण हैं, ब्रह्म इन्द्रियादि से परे षष्ठ है। जैसा कि "इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वं" में कहा गया है। इसलिये उन-उन करणों से विलक्षण षड् विध करणों का सुख उसे अधिगत होता है, जैसा कि 'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' आदि के द्वारा कहा जाता है।

च० पाद में ७ अधिकरण हैं—भगवान् षड्गुण सहित षड्विध धर्म स्वरूप और धर्मी पुरुषोत्तम रूप से आनन्दमय होकर सप्त रूप हैं, अतः भगवद्रूपात्मक आनन्द–सुख–फल रूप में भक्ति से प्राप्त होता है। अतः यहाँ ७ अधिकरणों का होना संगत है।

इस प्रकार अन्तिम पाद द्वय से आत्मानन्द ब्रह्मानन्दात्मक सुख या फल रूप में निरूपण किया गया है।

और इस प्रकार फलनामक चतुर्थाध्याय के एकत्र ३८ अधिकरण होते हैं।

इस दृष्टि से व्यास सूत्रों के अधिकरण संख्या का विचार करने पर यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि श्रीवल्लभाचार्य की भाष्य परंपरा में जो अधिकरण विभाग निर्धारित किया गया है यह कितना युक्ति-संगत और वैज्ञानिक है, और इसे श्रद्धेय श्रीबालकृष्ण शास्त्रीजी ने प्रकट किया है। अन्य किसी सिद्धान्तवादी ने ऐसा विवेचन प्रस्तुत नहीं किया है।

व्याससूत्रों की संख्या के सम्बन्ध में प्रारंभ से मतभेद चला आता है। अनेक आचार्य अपने अपने अभिप्रायानुसार योग विभाग के द्वारा उन्हें पृथक् और संयुक्त मानते चले आए हैं—प्रो० गोविंदलाल भट्ट ने गुजराती अणुभाष्य की भूमिका में इसका निर्देश किया है। जो इस प्रकार है--

नाम	*सूत्र संख्या*
श्री शङ्कराचार्य	५५५
श्री भास्कराचार्य	५४७
श्री रामानुजाचार्य	५४५
श्री निम्बार्काचार्य	५४९
श्री मध्वाचार्य	५६२
श्री कंठाचार्य	५४५
श्री वल्लभाचार्य	५५४
श्री विज्ञानभिक्षु	५५६
श्रीबलदेव	५५६

प्रत्येक भाष्यकार की विभिन्न परंपरा होने के कारण ऐसा मानना

स्वाभाविक है। इसी प्रकार पाठ भेद का समाधान भी किया जा सकता है और इसी कारण अधिकरणों में भी संकोच विस्तार दीखता है।

श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धांत के अनुसार व्याससूत्र अथवा अणु-भाष्य पर व्याख्या करने वालों में सूत्र संख्या में १, २ का ही अन्तर आता है, कोई ५५४ मानते हैं तो कोई ५५५। अधिकरणों की संख्या में भी यही बात है, कुछ विवरणकार १६२ और कुछ १६३ मानते हैं। प्रदीपकार १५६ अधिकरण स्वीकार करते हैं। इसके साथ यह तो निर्विवाद है कि न तो वल्लभाचार्य के मतानुवर्तियों ने और न अन्य मतानुवर्तियों ने व्याससूत्रों में से प्रक्षिप्त माना है।

जैसा कि वैदिक साहित्य प्रकरण में कहा गया है वेद के दो कांड हैं—१ पूर्वकाण्ड जिसमें यज्ञ का प्रतिपादन है, २ उत्तरकाण्ड जिसमें ब्रह्म का प्रतिपादन है, इन्हें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड भी कहा जाता है। इस धर्म कर्म रूप यज्ञात्मक पूर्व काण्ड का विचार महर्षि जैमिनि ने अपनी पूर्व मीमांसा में और ब्रह्मज्ञान रूप उत्तरकाण्ड का विचार महर्षि व्यास ने उत्तर मीमांसा में किया है। एतावता ब्रह्मसूत्र ब्रह्म के स्वरूप, लक्षण प्रतिपादक श्रुतियों के अर्थावबोध के लिये निर्मित हुए हैं यह सिद्ध होता है।

भारत मार्तण्ड श्रीगट्टूलाल जी ब्रह्मसूत्रों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कहते हैं—

'सूत्रैरुभयरूपत्वं वाक्यशेषत्वमुच्यते'...१५.
वेदस्य दुर्ज्ञेयार्थत्वाच्छास्त्रं सन्देह वारकम्।
व्यासेनाविष्कृतं सूत्रमयं ब्रह्म निरूपकम्" १६।
तच्छिष्यो जैमिनिरपि वेदेर्थसं व्यचारयत्।
एवं कृत्स्नोपि वेदार्थो मीमांसातोवसीयते...१७।
व्यासो निर्णीतवान् ब्रह्म स्वरूपं साधनं फले।
श्रुतितः स्मृतितः शास्त्रे न्यवेधत्तदसम्मतम्...१८।
'ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'।
प्रामाण्यमिति गीतासु तस्य भागवतेपि च...१९ (वेदान्त चि०२)

व्यासस्त्रों पर शु० सां० साहित्य—

व्यास सूत्रों पर शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से निम्न लिखित ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। इसका प्रारम्भ इसके संस्थापक श्रीवल्लभाचार्य के द्वारा होता है। आचार्य ने प्रस्थान चतुष्टय में से ब्रह्मसूत्र और भागवत इन दो पर ही विवरण लिखे हैं, शास्त्रार्थ प्रकरण में प्रमाण चतुष्टय का प्रासंगिक कथन करते हुए उन्होंने कहा है:—"श्रुतिसूत्राण्येका कोटि', गीता भागवतं चेत्यपरा" अर्थात् इस सिद्धान्त में वेद और व्यास प्रणीत उत्तर मीमांसान्तर्गत सूत्रों की गणना एक कोटि, और श्रीकृष्णवाक्य (गीता) तथा भागवत की समाधिभाषा यह दूसरी कोटि है। प्रमाण चतुष्टय को जहाँ एक दृष्टि में हम युगल रूप मे रखते हुए भगवदुपदिष्ट और गुरूपदिष्ट इन दो श्रेणियो मे विभाजित कर सकते हैं, वहाँ ब्रह्म के परोक्ष प्रतिपादन और प्रत्यक्ष प्रतिपादन रूप अन्य दृष्टिकोण का भी उसमें समावेश कर सकते हैं। भगवदुपदिष्ट रूप मे हम वेद और गीता को गिन लेते हैं तो गुरूपदिष्ट रूप में हम व्याससूत्र और भागवत को। इधर परोक्ष ब्रह्म प्रतिपादन मे जहाँ वेदों का साक्षात् सम्बन्ध है वहाँ व्याससूत्र भी इसी प्रकार के हैं। प्रत्यक्ष ब्रह्म प्रतिपादन में जहाँ श्रीकृष्णवाक्यो की प्रधानता है वहाँ श्री भागवत भी इसी प्रकार से परिगणित होती है। अत: आचार्य का यह कथन कि—श्रुति सूत्र एक कोटि के हैं परोक्ष ब्रह्म प्रतिपादन के रूप में बहुत ठीक है, यद्यपि प्रमाण चतुष्टय की गणना मे गीता के बाद व्यास सूत्रों का क्रम आता है।

आचार्य के इस कथन का टिप्पणीकार और आवरण भंगकार ने शब्दान्तर से इसी अभिप्राय में प्रतिपादन किया है। टिप्पणीकार कहते हैं कि श्रुत्यर्थ को लेकर सूत्रों का निर्माण होने से इन दोनो की एक कोटि और गीतार्थ को लेकर भागवत का निर्माण होने से उन दोनो की एक कोटि स्वीकृत की गई है। आवरणभंगकार धर्म-धर्मि-निरूपण भेद को लेकर ऐसी कोटि रखने का रहस्य बतलाते हैं। वे कहते हैं कि वेद और ब्रह्म सूत्रों में धर्म रूप से और गीता तथा भागवत में धर्मी रूप मे परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है, अत: इन दो की अलग अलग कोटि है।" इन दोनों के कथनातिरिक्त मेरी यह दृष्टि भी है कि भगवदुपदिष्ट और गुरूपदिष्ट इन दो भावों से भी ऐसा विभाग किया जा सकता है। अस्तु

तात्पर्य यह कि-प्रमाण चतुष्टय में उत्तरोत्तर पूर्वपूर्व सन्देहवारकता होने से ब्रह्मसूत्र भगवद्वाक्यों के सन्देहापकरण के लिये महत्वपूर्ण उपकरण हैं, यद्यपि वे श्रुतिगत सन्दिग्ध स्थलों का स्पष्टीकरण भी उतने ही रूप से करते हैं।

व्याससूत्र—[उत्तर मीमांसा] पर वर्गीकरण रूप में निम्नलिखित शु० सा० साहित्य का निर्माण हुआ है—

१. *बृहद्भाष्यम्*—श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रणीत व्याससूत्रों पर संस्कृत में यह भाष्य आंशिक रूप में उपलब्ध होता है जो अप्रकाशित और सर० भ० कांकरोली में शु० व० ४५, २४ पर विद्यमान है। यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं है और इसकी अन्य प्रति कहाँ है, पता नहीं लगा। प्रस्तुत प्रति नि० गो० श्रीबालकृष्ण लालजी महाराज के समय कहीं से लिखाई गई थी जैसा कि ऊपरी पत्र में लिखा है। वर्तमान प्रति में बृहद् भाष्य का निम्न लिखित अंश है—

(१) प्रथम पत्र से लेकर ७ पत्र पर्यन्त जिसमें प्र० अ० के प्र० पादीय प्रथम सूत्र से भाष्य का प्रारम्भ होता है और जो उसी सूत्र के कुछ अंश तक है। अणुभाष्य से मिलान करने पर विदित होता है कि अणुभाष्य में जहाँ 'तथाहि न तावद् धर्मविचारानन्तर्यम्, विपर्यय सम्भवात्" यह पंक्ति है, वहाँ तक इस भाष्य का अंश मिलता है।

(२) तृतीय अध्याय के प्रथम पादीय प्रारंभिक सूत्र से द्वि० पाद के बारहवें सूत्र तक कुछ अंश में है। २७ वें पत्र पर प्रतिलिपि समाप्त है, अन्त की कोई पुष्पिका नहीं मिलती। तृतीयाध्याय के प्रथम पाद समाप्ति की पुष्पिका इस प्रकार लिखी है—

'इतिश्रीमत्कृष्ण द्वैपायन मतवर्ति श्रीवल्लभाचार्य-विरचिते ब्रह्म सूत्र श्रीमद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथम पादः'। (पत्र १३)

इससे ऐसा माना जा सकता है कि प्रारम्भिक स्थिति में इसी भाष्य की रचना हुई थी और बाद में "अणुभाष्य' के नाम से उसका संक्षिप्तीकरण किया गया, जैसा कि आगे उद्धरण किया जायगा। यह निर्विवाद है कि "अणुभाष्य' की अपेक्षा यह भाष्य विस्तृत है।

इस भाष्य का वर्ण्य विषय "अणुभाष्य' के परिचय में दिया जायगा क्योंकि यह अपूर्ण है और इसकी तथा अणुभाष्य की प्रतिपाद्य विषय शैली और सिद्धान्त एक ही हैं।

बृहद्भाष्य और अणुभाष्य—

प्रस्तुत "बृहद् भाष्य" और "अणुभाष्य म कितना साम्य और विस्तार है यह दोनो के उद्धरण मे निश्चित हो जायगा जो विस्तृत रूप में है

बृहद्भाष्य का उद्धरण।

अथात्र विचार्यते, वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति। ननु अयुक्तोयं विषयोपन्यास, अतौचत्यात्, किंतत्? ब्रह्म-जिज्ञासा कार्या न वा, ब्रह्म जिज्ञास्यं न वेति युक्त मितिचेद् उच्यते। यदि तथैवापन्यस्यत तर्हि तप कुतो नोपदिष्टम्? तपसा। ब्रह्म यजिज्ञासि इति श्रुते वेदान्त-वाक्यानि किमिति विचार्यन्ते? इति माशंकीपत अथैवमुपन्यासेस्याधीतवेदवेदार्थ निश्चयं प्रति वेदान्त विज्ञान हेतु वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितार्था इति श्रुते तस्य च विचारसाध्यत्वात् शकानुदयान्युक्त।

अथवा कृष्णद्वैपायन-प्रवृत्तिहेतु बोधनार्थ. सच सर्वेषा श्रेयोर्थं प्रवृत्त, 'एष प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजा' इति जिज्ञासितमधीत च ब्रह्म यद्यत्सनातन इति देवर्षिणा ब्रह्म विचारात प्रयत्नस्या कृतार्थत्व बोधितम्, तत्र च वेदार्थ निश्चयो वेदान्तविचार विना न भविष्यतीति सूचितम्। अग्रे वेदान्तवाक्यै रेव ब्रह्म विचारितम्। ब्रह्म सर्ववेदार्थ इति वक्ष्यमाणसूत्रेषु निरूपणीयत्वाच्च। अतो विचार आवश्यक न चासौत्रत्व दोष शेषपष्ठ्यन्तब्रह्म-पदात् परिहरिष्यते।

अथोच्यते। ब्रह्मविचारान्तेकृतेरकृतार्थत्वबोधने विचार-नैष्फल्य इति अत्र प्रतिविधास्याम। श्रीभागवतानुसार-व्याख्याने तथात्वा भावात्सार्थक। करुणार्णवो भगवान् बादरायणो मामबोधि 'श्रीभाग वतानुसारेण सूत्राणि व्याख्याहीति'। अतोऽत्र तदनुसारि व्याख्यास्यते [बृ० भा० पत्र १]

अणुभाष्य का उद्धरण—*इदमत्र विचार्यते वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति।* किंतावत् प्राप्त 'नारम्भणीय इति' कुत?'सांगोध्येय स्तथा ज्ञेयो। वेद 'शब्दाश्च बोधका' नि सन्दिग्ध तदर्थाश्च लोकवद् व्याकृते स्फुटा 'अर्थज्ञानार्थं विचार आरम्भणीय' तस्य च ब्रह्मरूपत्वात् तज्ज्ञाने पुरुषार्थो भवतीति न मन्तव्यम्। विचार विनापि वेदादेव साङ्गादर्थ

प्रतीते ' नचार्थ ज्ञानमविहितं अविचारिताश्च शब्दा नार्थं प्रत्याययन्ति इति वाच्यम्, ज्ञेयस्चेति विधानात् [प्रारंभिक अंश]

कुछ मध्य का अंश'''

बृहद् भाष्य का उद्धरण—कृतात्यये नुशयनादिति '' [तृ॰ अ॰ प्र॰ पाद् ८] *प्रथमाहुति- सफला विचारिता । द्वितीयां विचारयितु मधिकरणारम्भः । सोमस्य पर्जन्यहोमे वृष्टित्वमिति । सोमानन्तरं वृष्टिभावे रूपरसा. दीनां हीनतया प्रतीयमानत्वात् । यागस्यावान्तरफलं तत्र उक्तम् इति सोम राजानं जुहति, तस्याहुतेर्वर्षं संभवति इति श्रुत्या न निश्चितम् । तत्र संशयः' किं सर्वमेवान्तरफलं तत्र भुंक्ते आहोस्विदनुशयवान् वृष्टिर्भवतीति । अनुशयो नाम शेष अनु पश्चात् शेते भोगानन्तर तिष्ठतीति योगात् ' 'एतद्विचारप्रयोजन तु सद्वासनयामिमजन्मनि सदाचारयुक्तस्य स्यादिति ।'*

[बृ॰ भा॰ पत्र ७ तृ॰ अ॰]

अणुभाष्य का उद्धरण—कृतात्ययेऽनुशयवान् 'इति सूत्र' *प्रथमाहुतिः सफला विचारिता, द्वितीया विचारयितुमधिकरणारभः । सोमस्य पर्जन्य होमे वृष्टित्वमिति । सोमाद् वृष्टिभावे रूपरसादीनां हीनतया प्रतीयमानत्वात् यागस्यावान्तरफल तत्र भुंक्ते इति निश्चितम् । तत्र संशयः किम् सर्वमेवान्तरफल तत्र भुक्ते ? आहोस्विदनुशयवान् वृष्टिर्भवतीति । सद्वासनयामिमजन्मनि सदाचार युक्त एव स्यादिति '*

[प्रकाशित अणु॰ तृ॰ अ॰ प्र॰ पाद ८ सूत्र]

इत्यादिक उद्धरणों से जहां दोनों के साम्य मे एककर्तृ प्रतीत होता है वहां विस्तार और संक्षिप्त लेखन का भी परिचय मिलता है। अतः यह निःसन्दिग्ध है कि दोनों मे बृहत्व और लघुत्व का ही भेद है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि-आचार्यकृत यह ''बृहद् भाष्य'' न तो इतना प्रसिद्ध ही हुआ है। और न अधिक प्रतियों के रूप मे उपलब्ध ही है ? समाधान रूपमें किन्हीं लोगो का कथन है कि-श्रीवल्लभाचार्य के अनन्तर उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथजी की पत्नी गृहकलह के कारण श्रीविट्ठलनाथजी की अल्पवयस्कता मे दक्षिण देश चली गई और जो भी साहित्य मिला वे अपने साथ ले गई, जिसके परिणाम में वयस्य होने पर श्रीविट्ठलनाथजी को पुन आचार्यों का साहित्य बड़ी

कठिनता से सचित करना पड़ा, और इसी अव्यवस्था में इस भाष्य का अथ च सुबोधिनी का बहुत सा अंश अप्राप्य हो गया। अस्तु—

यह एक समस्या है। इधर स्वाध्याय करने पर और वृहद्भाष्य का परिचय लिखने पर विदित हुआ कि इसमें एक और भी आश्चर्य है—

वृहद्भाष्य और प्रकाश—

जैसा कि आगे परिचय दिया जायगा, श्रीपुरुषोत्तमजी ने अणुभाष्य पर 'प्रकाश' नामक विवरण लिखा है, जो भाष्य के गभीर अर्थ को समर्थ ढग से प्रकाशित करता है। इसी प्रकाश टीका पर श्रीगोपेश्वर जी ने 'प्रकाश–रश्मि' नामक टीका लिखी है, जो प्रकाशित हो चुकी है। यह एक अध्ययनात्मक अन्वेषण है कि–श्रीवल्लभाचार्यकृत 'वृहद् भाष्य' और श्रीपुरुषोत्तमजी कृत 'अणुभाष्य-प्रकाश' टीका एक ही है। प्रकाश की रचना के समय वृहद्भाष्य का सम्मुख होना अत्यधिक सत्य है। कारण कि श्रीपुरुषोत्तमजी ने स्वकीय पांडित्य के कारण वृहद्भाष्य की वाक्यावली को और भी अधिक विस्तृत किया है, प्रमाणवाक्यों को पूर्ण रूप म लिखा है, विभक्ति-विपरिणाम और क्रियाओं का प्रयोगान्तर किया है। अन्यथा वृहद् भाष्य और प्रकाश की शब्दावली, भाव शैली और साम्य मे कोई ऐसा अन्तर नहीं विदित होता जो दोनो स्वतन्त्र सिद्ध हो सके? यह तो निश्चित् है कि 'वृहद्भाष्य के नाम से मिलने वाला ग्रन्थ पुरुषोत्तमजी कृत 'प्रकाश' ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि जहाँ पुरुषोत्तमजीकृत प्रकाश में अणुभाष्य की प्रतीक हैं वह वृहद्भाष्य मे नहीं और वृहद्भाष्य और अणुभाष्य की वर्णन शैली में गौरव लाघव के सिवा कोई अन्तर नहीं।

जैसा कि कहा जारहा है—श्रीवल्लभाचार्य कृत 'वृहद्भाष्य' का वाक्यविन्यास ही 'प्रकाश' नामक व्याख्यान है, और यह कथन निर्मूल नहीं है, सप्रमाण है—

प्रथम प्रकाशित—'*अथात्र विचार्यतेवेदान्तानां विचार आरभणीयो न वेति*' इस आभास पर पुरुषोत्तमजी का प्रकाश इस प्रकार है जो वृहद्भाष्य का साधारण रूपान्तर है···

वेदान्तानामित्यादि—नन्वत्राय *विषयाद्युपन्यासो न युक्त'*

असीम्रत्वात्, किंतु ब्रह्म-जिज्ञासा कार्यो न.वा ब्रह्म-जिज्ञास्यं न वा, इत्येवं सूत्रानुसरणात् युक्त इति चेन् ? न तथोपन्यासे तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व इति श्रुत्या तपस एवोपदेशात् तदिहाय व्यासपादैः किमिति वेदान्तवाक्यानि विचार्यन्ते, तपः कुतो नोपदिश्यते ? इत्याशंका स्यात् । श्रुतिविरुद्धत्वं च भायात् 'एवमुपन्यासे त्वधीतवेदस्य' वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति श्रुतिस्फुरणात् अस्यां च श्रुतौ अर्थनिश्चयं प्रति वेदान्त विज्ञानस्य हेतुत्वा कथनात् तस्य च विचारसाध्यत्वात तत्स्फूर्त्यांशकानुदयात् युक्त इति''''' "किंच व्याम प्रवृत्ति बीजनोधनार्थत्वेनापि युक्तः । तथाहि प्रथम स्कन्धे चतुर्थाध्याये 'द्वापरे समनुप्राप्ते इत्यारम्य एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः 'इत्यन्तेन सर्वेषां श्रेयोर्थंप्रवृत्ति व्यासचरणानामुक्ता [इत्यादि प्रकाशित 'प्रकाश' प्र० प्र० पाद १ सूत्र]

शुद्ध मध्य में बृहद्भाष्य और प्रकाश का साम्य '''

बृहद्भाष्य '''[तृ० अ० प्र० पाद १ सूत्र '''पत्र १ '']

ब्रह्मविदाप्नोति परमिति परप्राप्ति–साधना—भूतज्ञानस्या-परोक्षत्वापेक्षत्वेन तस्य च शुद्धयधीनत्वेन जन्मना कर्मणा शुद्धे साधन सहिते पुरुषे विद्यां जनयन्ति मर्यादायाम् । उत केवल साधनशून्ये वरण-मात्रविषये पुष्टभक्तो जनयंति, इति । यथायोगे, 'जन्मकर्मानदातत्राभानेऽपि केवलमन.शोधके पुंसि जनयन्ति ।

[वृ० भा० पत्र १ तृ० अ० ''']

इसी सूत्र पर प्रकाशित पुरुषोत्तमजी कृत प्रकाश '''

'स साधन इत्यादि ब्रह्म विदाप्नोति परमिति परप्राप्तिसाधनतया यज्ज्ञानमुक्तं तदपरोक्षमेव विवक्षितम् '' ''' अतो हेतोः जन्मना कर्मणा शुचौ विचारस्प साधन महिते पुरुषे विद्यां जनयन्ति, वा अथवा केवले जन्मकर्मानदाततत्वाभावेऽपि वरणमात्रविषये । 'तत्र दृष्टान्तः यथा योगे । अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा इति श्रुतेर्जन्मादि शुद्धि-राहित्येऽपि केवले वरणविषये मनः शोधनपरे च पुरुषे जनयन्ति,''' इत्यादि [प्रकाशित प्रकाश]

इन उद्धरणों से यदि स्पष्ट पूछा जाय कि श्रीवल्लभाचार्य कृत 'बृहद् भाष्य कहाँ गया ? तो कहा जा सकता है कि वह श्रीपुरुषोत्तमजी के प्रकाश में अन्तर्लीन हो गया है । यद्यपि यह कथन कटु लगेगा पर है सत्य । सौम्य रूप में यह कहा जा सकता है कि

श्रीवल्लभाचार्य कृत बृहद् भाष्य नष्ट नहीं हुआ है, वह प्रकाश के अन्तर्गत सुरक्षित है। उसके स्वतन्त्रतया विलुप्त हो जाने से भी कोई महती हानि नहीं है। वह सम्पूर्ण उपलब्ध भी होता तो अणुभाष्य और उसके प्रकाश साहचर्य से वह गतार्थक ही सिद्ध होता।

इससे यह निर्विवाद हो जाता है कि आचार्य ने 'बृहद् भाष्य' का प्रणयन अवश्य किया था और वह सम्प्रति यत्किंचत् रूप में ही नहीं 'प्रकाश' में समवेत रूप से सम्प्राप्त है।

प्रो० जेठालाल गोवर्द्धन शाह एम० ए० ने जिन्होंने अणुभाष्य का गुजराती अनुवाद किया है, भूमिका में बृहद्भाष्य के रचयिता के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है, उन्होंने सिद्ध किया है कि "बृहद् भाष्य' नामक किसी भाष्य की रचना श्रीवल्लभाचार्य ने नहीं की। उन्होंने तो जैसा कि-प्रसिद्ध है 'अणुभाष्य' का उतना ही अंश बनाया है जो विदित है। बृहद्भाष्य नाम से जो अंश मिलता है वह श्रीपुरुषोत्तमजी के गुरु श्रीकृष्णचन्द्रजी का निर्मित है"। इसके प्रमाण में, प्रो० शाह गुणोपसंहार पाद [तृ० अ० तृ० पाद] के उस अंश को उपस्थित करते हैं जो रश्मि के साथ प्रकाशित हुआ है। और पुरुषोत्तमजी के प्रकाश में जैसा का तैसा मिलता है। इस अंश पर तैलीवालाने जो नोट दिया है, उसमें यह श्रीकृष्णचन्द्र की कृति बताई जाती है।

पर मित्रवर 'शाह' यह भूल जाते हैं कि मूल ग्रन्थ और उसके टीका ग्रन्थ में अन्तर होता है, मूल ग्रन्थ में आभास प्रतीक नहीं होती और टीका में वे स्थान-स्थान पर रहती हैं। विद्याविभाग कांकरोली में विद्यमान बृहद् भाष्य के लेख में कहीं भी प्रतीक नहीं है, और इसके विपरीत श्रीकृष्णचन्द्र जी के उस लेख में वे स्थान-स्थान पर विद्यमान हैं। जो अणुभाष्य और बृहद्भाष्य दोनों की ही है। श्रीशाह को इसके विपरीत तो यह कहने का सौकर्य होना चाहिये था कि 'बृहद् भाष्य' और कुछ नहीं श्रीपुरुषोत्तम जी के निर्मित प्रकाश का ही विशाल रूप है अतएव वह उन्हीं का है।

मेरा तो कथन है कि 'बृहद्भाष्य बृहद् भाष्य है और वह श्रीवल्लभाचार्य कृत है, न तो वह श्रीकृष्णचन्द्र कृत है न श्रीपुरुषोत्तमजी कृत। दोनों ने ही बृहद् भाष्य को रूपान्तरित किया है, वह व्यापक रूप में

'प्रकाश' में मिलता है और तथाकथित श्रीकृष्णचन्द्र कृत उस अंश में भी जो 'गुणोपसंहार भाष्य-विवरण' नाम से मंडित किया गया है " इसके प्रमाण में अनेक स्थलों पर प्रकाश और बृहद्भाष्य के अंशों का सम्वाद किया जा सकता है, जैसा कि कुछ उद्धरणों से प्रकट हुआ है। 'बृहद्भाष्य' के मध्य प्रचलित अणुभाष्य की प्रतीकें देकर और उसमें थोड़ा सा शाब्दिक रूपान्तर कर उसे 'प्रकाश' का नाम दिया गया है। 'प्रकाश' नामक कोई व्याख्या पुरुषोत्तमजी ने निर्मित नहीं की ऐसा मेरा कथन नहीं है, उन्होंने उसे बनाया है पर जहाँ भी हो सका है उन्होंने 'बृहद्भाष्य' के अंशों को 'प्रकाश' के सांचे में ढाल लिया है।

व्याससूत्रभाष्य का नामकरण

श्रीवल्लभाचार्य ने व्यासप्रणीत सूत्रों पर जो भाष्य रचा है, उसके नामकरण के सम्बन्ध में भी विद्वद्वर्ग में विचार-वैचित्र्य चलता है। यद्यपि भाष्य की पुष्पिका में "इतिश्री वेदव्यास-मतवर्ति श्रीवल्लभाचार्य विरचिते श्रीब्रह्मसूत्राणुभाष्य" ऐसा लेख मिलता है, तथापि इसका यह वास्तविक नाम है या नहीं ? यह शंका होती है।

ऐसा कहा जाता है कि-आचार्य ने जिस प्रकार भागवत के लिये दो टीकाओं की रचना की एक 'सूक्ष्म टीका' दूसरी 'सुबोधिनी' नामक बड़ी टीका, इसी प्रकार उन्होंने दो भाष्य भी रचे थे। १. अणुभाष्य, २. बृहद् भाष्य।

यहाँ विशेषणतया 'अणु' और 'बृहद्' दोनों शब्द सापेक्ष हैं, और इनके लिये पूर्वापर का क्रम निर्धार करना सर्वसंमत नहीं हो सकता। यदि दो में से किसी एक को प्राथमिक रचना मानी जाय तो रचना के समय यह तो मानना ही पड़ेगा कि ग्रन्थकर्ता के मानसिक क्षेत्र में रचनाद्वय का बीज विद्यमान था, पर यह एक क्लिष्ट-कल्पना जैसी बात है।

इसके विपरीत यह अधिक संभव है कि-किसी ग्रन्थकार ने कोई ग्रंथ प्रारंभ किया हो ? विस्तृत हो जाने के कारण समयाभाव से उसकी पूर्ति होते न देख उसने उसे रूपान्तर में मंक्षिप्त कर दिया हो, और ऐसी अवस्था में प्रथम रचित अपूर्ण ग्रन्थ—की अपेक्षा संक्षिप्त ग्रन्थ की पूर्ति हो गई और आगे चलकर वह स्वतः 'अणु' या 'सूक्ष्म' नामधारी बन गया हो।

जैसा कि आचार्य-चरित्र में प्रकट है। उन्हें ग्रन्थरचना का पर्याप्त समय नहीं मिला, वे पर्यटन, प्रचार और साम्प्रदायिक प्रतिष्ठान में अधिक व्यस्त रहे। एवं निश्चित स्थिति के अभाव में वे सम्पूर्ण भागवत का व्याख्यान भी पूरा न कर सके, वह अधूरा ही रह गया। संभव है इसी क्रम में वे तत्त्वसूत्रों पर जिस रूप में भाष्य लिख रहे थे, लिख न सके और उसे उन्हें संक्षिप्त करना पड़ा। दो ग्रन्थों के सम्बन्ध में जो एक ही विषय को लेकर रचे गये हों ? ऐसी परिस्थिति में स्वभावतः उनके परिचय के लिये किन्हीं निरपेक्ष विशेषणों की आवश्यकता होती है और ऐसी अवस्था उन्हें 'बृहद्' या 'अणु' नाम से सम्बोधित किया जा सकता है।

'बृहद् भाष्य' के परिचय में अणुभाष्य के अंश को उद्धृत करते हुए बताया गया है कि अणुभाष्य उसका संक्षिप्तीकरण है। जैसा—कि प्राय: होता है किसी लेख में से अधिक विस्तृत अंश निकाल दिया जा कर संक्षिप्त बना दिया जाता है। यही पद्धति अणुभाष्य के लिये अपनाई गई है और एक ही ग्रन्थ के १ बृहद्.२ अणु दो संस्करण हो गये हैं। यद्यपि सूक्ष्म को बृहद् बनाने के लिये भी ऐसा हो सकता है तथापि इसकी बहुत कम संभावना है।

इस ऊहापोह से में यह कहने को बाध्य हूँ कि श्रीवल्लभाचार्य ने व्याससूत्रों पर जो भाष्य रचा था उसका नाम 'तत्त्वसूत्र भाष्य' था। जैसा कि सर्वप्रथम श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण ने सर्वोत्तम स्तोत्र में 'तत्त्वसूत्र भाष्य' 'प्रदर्शक' रूप में आचार्य का नाम स्मरण किया है। जैसा कि आचार्य कृत पूर्व मीमांसा भाष्य की पूर्ति समयाभाव से न हो सकी, उपक्रान्त विस्तृत तत्त्वसूत्रभाष्य की भी सम्पूर्ति न हो सकी और उन्होंने उसे संक्षिप्त कर दिया, यह ग्रन्थ दो रूप में विख्यात हो गया — १ बृहद्भाष्य २ अणुभाष्य। पर समयाभाव से जैसे तथाकथित 'बृहद् भाष्य' पूरा न हो सका अणुभाष्य भी, जिसे आगे चलकर श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण ने पूर्ण किया था।

यह बृहद्भाष्य किस अंश तक रचा जा चुका था, कहा नहीं जा सकता तथापि जैसा उसके परिचय में कहा गया है यह प्रथमाध्याय के प्रथमपादीय प्रथम सूत्र के कुछ अंश तक और बाद में तृ० अ० के

३० पाद···प्रारंभ: से लेकर १८ वे सूत्र के यत्किंचित् अंश तक तो मिलता है। मध्य का और अन्त का भाग अनुपलब्ध है। इधर यह भी विचारणीय है कि इसी के समकक्ष 'अणुभाष्य' भी तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के ३३ वे सूत्र तक ही है, समयाभाव के कारण आचार्य द्वारा जब न तो उपक्रान्त 'बृहद् भाष्य ही पूरा हो सका और न संक्षिप्त संस्करण रूप अणुभाष्य···ही, तब उनके अनन्तर सम्प्रदाय का भार संभालने पर श्रीविट्ठलेश्वर ने संक्षिप्त अणुभाष्य की तो पूर्ति कर दी, पर बृहद्भाष्य जैसा का तैसा रह गया। या तो वह अनुपलब्ध-सा था या अपूर्ण, चरितार्थ अतएव उपेक्षित-सा। सम्प्रदाय में अणुभाष्य की ही प्रसिद्धि हुई और उसकी कई प्रतिलिपियाँ हो गई। इससे प्रस्थान चतुष्टय का कार्य निरोध चलने लगा। तत्वसूत्र भाष्य अणुभाष्य के रूप में सामने आ गया।

आगे चल कर ग्रन्थकारों ने अणुभाष्य पर विवरण लिखना प्रारंभ किया, और उसका साहित्य विस्तृत हो गया। इसी बीच भाष्य पर समर्थ विवरणकार उद्भट विद्वान लक्षावधि ग्रन्थकर्ता श्रीपुरुषोत्तमजी हुए और उन्होंने उस उपेक्षित बृहद्भाष्य के अंश को बड़े आदर और श्रद्धा के साथ स्वकीय भाष्य-प्रकाश में प्रतिष्ठित किया, अन्तर्हित कर लिया। 'बृहद्भाष्य' और 'अणुभाष्य का सम्वाद करते हुए उन्होंने आवश्यक स्थलों पर भाष्य की प्रतीक" (आभास) देकर 'प्रकाश' को धारावाहिक रूप प्रदान किया। स्वकीय प्रकाश में श्रीपुरुषोत्तमजी ने ऐसे भी विपुल सन्दर्भ लिखे हैं जो उनके स्वयं के मौलिक हैं, पर जब तक 'बृहद्भाष्य' और 'प्रकाश' का सहपाठ न किया जाय, यह विभेद प्रकट नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ कुछ अंश बृहद्भाष्य के परिचय में दिये गये हैं। बृहद्भाष्य के नाम से उपलब्ध अंश जो विद्याविभाग कांकरोली में सुरक्षित है, बृहद्भाष्य के नाम से नहीं है उस पर 'श्रीमद्भाष्य' नाम लिखा है. अणुभाष्य की उपलब्धि में तो इसे निर्विशेष संज्ञा से ही सम्बोधित करना चाहिये।

श्रीपुरुषोत्तमजी ने (ज० सं० १७१४) 'प्रकाश' के मंगलाचरणमें 'आचार्यवाचः प्रणमामि भाष्य-सुधोधिनीस्थान.' इतना ही कहा है। 'अणुभाष्य' नाम के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं है इसी प्रकार 'तंव्यासाशय गोचरं प्रकटितुं यै र्भाष्यमासादितम्' (४) यहां भी उसी प्रकार स्मरण

किया है। इनके बहुत समय बाद रश्मिकार श्रीगोपेश्वरजी ने [ज० सं० १८३६] भी भूमिका में 'भाष्य-प्रकाशे विवेनोमि रश्मिम्' ऐसा ही उल्लेख किया है।

श्रीपुरुषोत्तमजी के समसामयिक भाष्य के 'गूढार्थदीपिका'-टीकाकार श्रीलालूभट्ट (बालकृष्णभट्ट) ने भी 'अणुभाष्य' नामका निर्देश नहीं किया है। वे उपक्रम में कहते हैं।

श्रुति गीता *ब्रह्मसूत्र* श्रीमद्‌भागवतस्थितं, *तत्वार्थं* योवदद् भाष्ये तं श्रीवल्लभमाश्रये" ३

इस प्रसंग में विस्तृत उद्धरण न देकर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि–श्रीपुरुषोत्तमजी की 'प्रकाश'-रचना के समय तक इस आचार्यकृत तत्वसूत्र व्याख्यान का नाम 'भाष्य' ही मिलता है" सभव है श्रीगुसांईजी के कथनानुसार इसकी संज्ञा तत्वसूत्रभाष्य भी हो? पर पुरुषोत्तमजी के अनन्तर प्रायः सभी व्याख्याकारों ने उसे 'अणुभाष्य' नाम से पुकारा है। जो उन-उन टीकाओं की उपक्रमणिका से भासित हो सकेगा। अतः यह प्रमाणित-सा हो जाता है कि–अपूर्ण खंडित बृहद्‌भाष्य की श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा 'प्रकाश' में सुरक्षा कर लिये जाने पर 'अणुभाष्य' नाम प्रख्यात हुआ। इसके अतिरिक्त जब यत्रतत्र सग्रहालयों में भाष्य का पृथक् विस्तृत रूप भी मिला तो वह 'बृहद्‌भाष्य' के नाम से अभिहित हो गया। एतावता यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि–श्रीमद् व्याससूत्र विवरणात्मक एक ही ग्रन्थ वल्लभाचार्य ने रचा, जिसका संक्षिप्त रूप अणुभाष्य है, और प्रारंभिक रूप बृहद्‌भाष्य।

यह सब कथोपकथन 'अणु' शब्द के संक्षिप्तार्थ को लेकर है, यदि श्रीवल्लभाचार्य का तात्पर्य 'अणु' से जीवका संकेत है तो बात दूसरी, पर इसके लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। श्रीशंकराचार्य के अनुकरण में शारीरिक भाष्य की तरह अणु जीव भाष्य रखने की तो कोई अपेक्षा नहीं, इसकी प्रतियोगिता में तो वल्लभाचार्य इसका नाम 'ब्रह्मभाष्य' रख सकते थे, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा ही इसका प्रशान्त प्रतिपाद्य विषय है। अस्तु–

अणुभाष्य नाम के सम्बन्ध में श्रीगोविन्दलाल भट्ट का यह भी अनुमान है कि—यह नाम श्रीमध्वाचार्य कृत व्याससूत्र के भाष्य अणु-भाष्य की संज्ञा को लेकर रक्खा गया है। इसके प्रमाण में वे कहते हैं कि

व्याससूत्र (२, १, १) के अणुभाष्य में जो श्लोक दीखते हैं, वे थोड़े ही परिवर्तन के साथ भागवत (१०-८४-२५) की सुबोधिनी में भी विद्यमान हैं, और श्रीमध्वाचार्य कृत अणुभाष्य नामक ग्रन्थ से लिये गये हैं। म ाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर तीन प्रकार का व्याख्यान किया है, १ भाष्य २ अनुव्याख्यान ३ अणुभाष्य । अतः यह अणुभाष्य नाम श्रीवल्लभाचार्य का स्वयं रचा नहीं है, ऐसा श्रीभट्टका मत है।

अणुभाष्यम्, श्रीवल्लभाचार्य विरचित 'प्रकाशित

व्यास सूत्रों पर श्रीवल्लभाचार्य विरचित भाष्य अणुभाष्य नाम से प्रख्यात है। कई लोगों का मत है कि-जिस प्रकार शंकराचार्य कृत भाष्य शरीरी 'जीवात्मा' को अधिकृत कर बनाए जाने के कारण शारीरिक भाष्य कहलाता है, उसी प्रकार अणुजीव को अधिकृत करके बनाए जाने के कारण इसका 'अणुभाष्य' नाम पड़ा है। कतिपयों का यह भी अभिप्राय है कि-आचार्यकृत व्याससूत्रों पर एक बृहद्भाष्य था और उसके संक्षिप्तीकरण रूप में यह अणुभाष्य है बृहद्भाष्य का कुछ अंश मिलता भी है, जिस पर पहिले विचार किया जा चुका है ।

आचार्यचरण ने प्रस्तुत अणुभाष्य की रचना प्रारंभ से लेकर तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद के ३४ वें सूत्र तक की है, शेष अंश की पूर्ति उनके द्वितीय आत्मज प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथ जी ने। भाष्य प्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजी तथा रश्मिकार श्रीयोगी गोपेश्वरजी उक्त स्थान पर इसका स्पष्ट उल्लेख करते हैं। भाष्य समाप्ति के अंतिम श्लोक 'भाष्यपुष्पांजलिः श्रीमदाचार्य-चरणाबुजे, निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा' से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

इस अणुभाष्य की रचना जैसा कि प्र० स्कन्ध [अ० १० श्लोक ५४ और तृ० स्कन्ध अ०११ श्लोक ४१] द० स्क० १४, ४४ की सुबोधिनी से निदित है सुबोधिनी-रचना के पूर्व होचुकी थी, इसी प्रकार शास्त्रार्थ और सर्वनिर्णय निबन्ध की रचना के पूर्व भी इसका प्रणयन हो चुका था [शा० नि० कारिका ६८ तथा सर्वनि० का० १८२ का प्रकाश]।

प्रस्तुत भाष्य में आचार्यो ने सभी आचार्यों के मत की समीक्षा करते हुए ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो अंतिम है, और जिसके बाद ब्रह्मसूत्रों पर किसी नवीन दृष्टिकोण से विचार करने का अभी तक

प्रसंग नहीं आया। जैसा कि-अध्ययन से विदित है, व्यासद्वारा विस्तृत वेद, महाभारत के अन्तः ग्रथित गीता और समाधि में अनुभूत भागवत अथवा ब्रह्मसूत्र इन सभी के निश्चित तत्वार्थों में कोई अन्तर नहीं आ पाया है। चारो मानो एक ही स्वर में उस अचिन्त्यानन्तशक्ति परब्रह्म परमात्मा का लीला का यशोगान करते है उनमे कोई विरसता नहीं, कोई तरतम भाव नहीं।

जैसा कि-प्रथम कहा गया है व्याससूत्र चार अध्याय और प्रत्येक अध्याय के चार-चार पादो के रूप से विभक्त है। इन पादो में कई अधिकरण हैं जो प्रासंगिक विवेचन को लेकर चलते हैं। समन्वय, अविरोध, साधन और फल नामक चार अध्यायो मे आचार्य ने व्यापक दृष्टि के व्याख्यान द्वारा व्यास के अभिमत की पुष्टि करते हुए अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। जहाँ तक श्रीवल्लभाचार्य की रचना का प्रश्न है, उनकी रचना मे प्रामाणिक शास्त्रीयता और व्यापक पाण्डित्य परिलक्षित होता है, वे शास्त्रोक्ति के अनुसार भाव का निष्कर्ष निकालते हैं, पर इधर जहाँ श्रीविट्ठलेश्वर की रचना का प्रसंग आता है, वे भी उसी पद्धति को अपनाते हुए भावनिष्पत्ति के अनुसार शास्त्र का निष्कर्ष निकालते हैं, दोनों 'पिता पुत्रो' के लेख में यह अन्तर स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। साधनाध्याय और फलाध्याय के कतिपय सूत्रो मे यह दृष्टिकोण स्पष्ट झलकता है। जिसके कारण व्याख्याकारो ने दोनों के लेखो का पार्थक्य अनुभूत किया है।

यह विदित नहीं हो सका कि आचार्यचरण इस ग्रन्थ को समयाभाव से पूर्ण नहीं कर सके ? या उसका इतना अंश लुप्त हो गया ? जो कुछ वर्षों के अनन्तर उनके आत्मज के द्वारा पूर्ण हो पाया।

इस भाष्य की रचना के अनन्तर साम्प्रदाय के कई विद्वानो ने उस पर विवरण, वृत्तियाँ, टीकाएँ लिखी, जिनमे कतिपय स्वतन्त्र व्याख्यान और कुछ व्याख्याओ की विवेचना रूप हैं।

अणुभाष्य पर साहित्य---

अणुभाष्य-प्रकाशः—व्याख्याता श्रीपुरुषोत्तमजी। प्रकाशित। सं० १९६१ [चौ० स० सीरिज काशी]

भाष्य का लक्षण जैसा कि-शास्त्रों में कहा गया है···

" सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः" [भरत]

आचार्यचरण ने व्याससूत्रों पर इसी दृष्टि से भाष्य रचना की है। गम्भीरार्थक होने के कारण उसके आन्तरिक रहस्य को समझने के लिये किसी व्याख्या की आवश्यकता रहती है, कहना पड़ेगा श्रीपुरुषोत्तम जी ने इसको सर्वांश में पूर्ण किया है। व्यास-सूत्रों के अनुसार श्रीवल्लभदृत्त उसका भाष्य भी संक्षिप्त शब्दों में ही प्रतिपाद्य विषय का व्याख्यान करता है। तदर्थ अणुभाष्य के अर्थावबोध के लिये प्रकाश नामक टीका सन्नद्ध की गई है।

"प्रकाश-रचना के प्रति श्रीबालकृष्ण प्रभु से प्रार्थना करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी ने उपसंहार में लिखा है" भाष्यार्थं योतिगूढं प्रकटितम-करोत् सम्प्रदाये निवृत्ते" [तृ० अ० ४ पाद समाप्ति श्लोक १]। अर्थात् सम्प्रदाय के निवृत्त हो जाने पर श्रीबालकृष्ण प्रभु ने मेरे मन में प्रेरणा कर इस अतिगूढ़ भाष्यार्थ को प्रकट कराया उन्हें प्रमुदित होकर मैं प्रणाम करता हूँ। 'सम्प्रदाये निवृत्ते' का अर्थ करते हुए रश्मिकार श्रीगोपेश्वर जी कहते हैं कि-सम्प्रति श्रवणादि सरणि रूप साधन के होने पर भी निःसन्देह साधन की निवृत्ति हो जाने से निःसन्देह साधन सहित सम्प्रदाय की निवृत्ति हो गई है'।

ऐसा अनुमान होता है कि श्रीपुरुषोत्तमजी के समय भाष्यार्थ के समझने के लिये अध्ययन-अध्यापन आदि की प्रवृत्ति सम्प्रदाय में से लुप्त होगई थी, भाष्य के गंभीराध्ययन की ओर कोई लक्ष्य नहीं रहा था। अतः तदर्थ विशदीकरण के लिये उन को 'प्रकाश' जैसी समर्थ टीका रचनी पड़ी, जिससे आगे यह प्रणाली उच्छिन्न न हो जाय।

'प्रकाश' में भाष्य का व्याख्यान करते हुए प्रमाणपुरस्सर शास्त्रीय दृष्टि को अपनाया गया है, जिसमें भूमिका प्रतिपादन पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और अन्य मतों की समालोचना, खंडन-मंडन पद्धति में लिखी गई है। वेदानुकूल तर्क एवं अन्य शास्त्रों के प्रमाणोद्धरण से ग्रन्थकार का सर्वतोमुखी वैदुष्य परिज्ञात होता है।

भाष्य-प्रकाश में शंकर रामानुज, वाचस्पति मिश्र, मध्व भिक्षु भास्करा, प्रभाकार और शैव आदि व्याससूत्र पर प्रणीत भाष्य-सिद्धान्तों की कस कर समालोचना की गई है। शैव सिद्धान्त को तो 'मतचौर' के विशेषण से स्मरण किया गया है। ब्रह्मसूत्रों में जहां अन्य आचार्य अधिकरण भेद-मानते हैं, श्रीपुरुषोत्तमजी उसका उल्लेख करते हैं और श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार ही उनकी गणना करते हैं।

प्रकाश की रचना ग्रन्थकार ने स्वरचित तत्वार्थ-दीप-निबन्ध की आवरण-भंग के अनन्तर की है। [शा० तत्व० नि० ८७ कारिका आवरण भंग]।

जैसा कि बृहद्भाष्य के अध्ययन में लिखा है; पुरुषोत्तमजी विरचित 'प्रकाश' वल्लभाचार्य के 'बृहद्भाष्य' का ही विस्तार है।

भाष्य-प्रकाश-रश्मिः—श्री गो० गोपेश्वरजी ने श्रीपुरुषोत्तमजी विरचित भाष्य प्रकाश पर 'रश्मि' नाम से विवरण लिखा है। तैलीवाला के मित्र मंडल बंबई द्वारा सं० १९८५ से १९९५ तक कई खण्डों में प्रकाशित।

प्रस्तुत 'रश्मि' नामक विस्तृत टीका में मूलग्रन्थ अणुभाष्य, उसके व्याख्यान 'प्रकाश' दोनों के विशदीकरण का उद्देश्य रक्खा है। रचनाकार का कथन है कि ...

"यदि भाष्य-प्रकाशीय रहस्य वेत्तुमिच्छथ।
तदा पश्यत विद्वांसो 'रश्मि' स्वाष्टचमत्कृतिम्" [उपक्रम]

रश्मि के लेखन और रचना के सम्बन्ध में वहाँ इस प्रकार उद्धरण दिया गया है "समाप्तोयमध्याः समाप्तश्च रश्मिः सेवानन्तरे दैवीजीव याचनार्थमय ग्रन्थः स्वयं गोपेश्वरेण लिखितः श्रीगोवर्द्धन नाथद्वारे श्रीरस्तु। मिति चैत्र शुक्ल १२ सवत् १८९७ मंगलवासरे। लेखकपाठकयो-दीर्घायुर्मंगलमस्तु। एतावतो ग्रन्थस्य श्लोकसंख्या ८४०४ अध्याय-चतुष्टयस्य श्लोक संख्या ४२६६६ श्रीकृष्णार्पणमस्तु"

कहने का तात्पर्य यह कि-ग्रन्थकार ने लगभग अणुभाष्य प्रकाश के विवरण रूप में ४२ सहस्र श्लोक लिखने का महान् प्रयत्न किया है।

जैसा कि विद्वद्वर्ग में प्रसिद्ध है श्रीगोपेश्वरजी योगी और सर्व वेत्ता की सम्मानोपाधि से अलंकृत थे। यह नाथद्वारा में निवास करते

हुए श्रीनाथजी गोवर्द्धनोद्धरण की प्रत्यह सेवा करते थे, जिसमें दिवस का अधिकांश भाग निकल जाता है। फिर भी सेवा के अनवसर में किसी एक ग्रन्थ पर इतना विवेचन स्वयं अपने हाथ से लिखना एक महान चमत्कार सा है। ग्रन्थ के परिशीलन से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि-यह जैसे सर्वानुभवी थे वैसे ही सर्ववेत्ता। 'रश्मि' नामक व्याख्यान पर इनकी लेखिनी जिस अविरभस के साथ चलती है वह दर्शनीय है। प्रसंगोपात्त अन्य शास्त्रों के प्रमाणोपन्यास और उनकी संगति को देख कर तो कहना पड़ता है,कि-यह वास्तव में सर्ववेत्ता थे।

'रश्मि' टीका में इन्होंने अणुभाष्य और उसके विवरण प्रकाश का आशय बड़े अच्छे ढंग से प्रकट किया है श्रुति-स्मृति-पुराण आदि के वचनों से प्रतिपादित सिद्धान्त का दिग्दर्शन अध्ययन की वस्तु है, और सच ही इसके अध्येता के लिये तलस्पर्शी पांडित्य अपेक्षित है। वे स्वयं कहते हैं...

श्रीविट्ठलेश-पादाब्ज-प्रसादवर-लाभतः।
रश्मि प्रकाशे व्यतनोत् सत्वमत्र्वतिमीश्वरः ॥१॥
पौनःपुन्यं च रभसो प्रमादिः क्रीडया कृतः।
सोढव्यः कृपया सद्भिः, गूढस्वारस्येश्वरादपि ॥२॥
महान्तः कृतकृत्यश्च हृदीश्वरश्च एव च।
कृतार्थश्च प्रमाणश्चास्तत्वति ज्ञातुपश्यत।३। [उपसंहार " रश्मि]

वैयास-दर्शन न्याय-माला—गो० श्रीरघुनाथात्मज व्रजनाथ जी विरचित। प्रकाशित। इसका प्रारम्भ इस प्रकार है—

नमामि कृष्णवागीशसन्वभि-जलजद्वयम्।
यत्प्रसादाद् बलिनः स्वेप्सितं साधयन्ति हि ... १
नुमस्तातं गिरिधरं यत्कृपादृष्टितो वय।
जाताः श्रीमथुराधीश-पाद-पद्म रसालयाः ...२...
श्रीवल्लभं गुरू नत्वा तत्कृपातोणुमाप्यतः।
वैयासदर्शने न्यायमाला समथ्यते मया ... ४...

सरस्वती भं० कांकरोली [शु० चं० सं० ४४, १०] में विद्यमान प्रति और नारायणदास आसनकल ट्रस्ट बंबई द्वारा प्रकाशित प्रति में एक सा ही मंगलाचरण है,पर प्रकाशित ग्रन्थ के 'श्रीरघुनाथात्मज

व्रजनाथ' विरचित शब्द छपा है, जब कि वि० विभाग की प्रति में केवल मंगलाचरण के अनुसार पितृनाम गिरिधर जी मिलता है, ग्रन्थकार का नाम नहीं। ग्रन्थ दोनों एक ही हैं पर कुछ शब्दों का पाठभेद अवश्य है।

वि० विभाग की हस्तलिखित प्रति प्र० अ० के तृतीय पाद के १५ सूत्र पर्यन्त है, पर प्रकाशित ग्रन्थ प्र० अ० के द्वितीय पाद समाप्ति पर्यन्त ही है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के विषय में लिखा है—

न्यायांग-पंचकं चात्र विषयादि-क्रमादहं।
कारिकाभिः प्रवक्ष्यामि सूत्रार्थं च यथामति ।६।

कहने का तात्पर्य यह कि ग्रन्थकार ने कारिकाओं के द्वारा पंचाग का वर्णन कर पद्य में व्याससूत्रों का संक्षिप्तार्थ वर्णन किया है जो अणुभाष्यानुसार है। इसके द्वारा शु० सां० दृष्टि से सूत्रों का अर्थ स्पष्टतः समझ में आ जाता है।

वि० विभाग में विद्यमान प्रति व्रजभूषणजी के स्वामित्व की है, अतः तत्पूर्व इसकी रचना हुई है। कुछ लोग इस ग्रन्थ को इन्हीं की कृति मानते हैं।

वेदान्ताधिकरण-माला—गो० श्रीपुरुषोत्तमजी विरचित। तेलीवाला बंबई द्वारा प्रकाशित है।

व्याससूत्रों पर कई अन्यमतावलंबी आचार्यों के भाष्य हैं, जिन्होंने सूत्रों के वर्गीकरण के लिये अधिकरणों को पृथक्-पृथक् रूप में माना है। श्रीपुरुषोत्तमजी ने प्रमाणिक एवं युक्ति पूर्वक अणुभाष्य में स्वीकृत अधिकरणों को ही स्वाभाविक सिद्ध किया है। उनकी परस्पर क्या संगति है ? और अमुक संख्या में अधिकरणों की क्या रहस्यमय स्थिति है ? इसे स्पष्ट किया है। शु० सं० के सिद्धान्त में व्याससूत्रों पर अधिकरण पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने में इस ग्रन्थ की प्राथमिकता है।

अधिकरण-माला—योगि श्रीगोपेश्वर जी विरचित। ब्रह्मसूत्रों पर भाष्यानुसारी अधिकरण माला केवल चतुर्थाध्याय पर उपलब्ध है। प्रकाशित।

अधिकरण-संग्रहः—श्री निर्भयराम द्वारा विनिर्मित। अणुभाष्य के अनुकूल व्याससूत्रों के अधिकरणों का विचार। प्रकाशित।

अणुभाष्याधिकरणार्थ–कारिका–श्रीव्रजनाथ भट्ट वागरोदि कृत। अप्रकाशित। (प्रो० जेठालाल शाह द्वारा अणुभाष्य भूमिका में सूचित)

आनन्द–निधि–मीमांसा— सविशेष प्रथम परिच्छेद — श्रीरणछोडभट्टात्मज श्रीगोकुलकृष्णभट्ट कृत। यह ग्रन्थ पूर्ण मिलता है जो अप्रकाशित है। म० मडार वि० विभाग म [शु० व० ७६, ८६ पर] विद्यमान

ऐसा विदित होता है कि ग्रन्थकार ने इस नाम का ग्रन्थ किसी विशेष आकार में बनाया होगा या वह बना रहा होगा जिसका यह केवल प्रथम परिच्छेद है। इसकी पुष्पिका म लिखा है—

"इति श्रीवल्लभ–चरणकमल–परायण रणछोडभट्टात्मज गोकुल कृष्णकृतौ आनन्दनिधिमीमांसायां सविशेषपरिच्छेद प्रथम। 'प्रारभ में कहा है–

'तस्यानन्दनिधे शास्त्र विशिष्ट सर्ववर्त्मनाम्
आनन्द निधि-मीमांसा तत्र एषा निरूप्यते २

परमात्मा आनन्दमय है या नहीं, श्रुतियों में उसका ऐसा स्वरूप निरूपण कैसे किया गया ? इस प्रकार शका कर ग्रन्थकार ने श्रुति वचनों और 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्र के आधार पर अन्य प्रमाणों के उद्धरण पूर्वक सिद्धांत की स्थापना की है जो श्रीवल्लभाचार्य के मतानुकूल है। ग्रन्थ म प्रसगोपात्त अन्य मतो का भी खडन कर ब्रह्म के स्वरूप जगत्कर्तृत्वादि का सक्षिप्त विवेचन किया गया है।

अणुभाष्य विवृति —गो० श्रीविट्ठलेशात्मज वल्लभ गोस्वामि विनिर्मित। अप्रकाशित। सर० स० काकरोली में [शु० व० म० ४४,७ पर] विद्यमान। यह काकरोलीस्थ श्रीव्रजभूषणजी की स्वामित्व की प्रति है। इसकी अन्य प्रति नहीं मिली।

प्रस्तुत भाष्य टिप्पणी अणुभाष्य के प्रथमाध्याय से लेकर चतुर्थाध्याय के चतुर्थ पादीय द्वादश सूत्र–द्वादशाहवदुभय– तक मिलती है जो अणुभाष्य की 'तदमेव द्वादशाहेति' प्रतीक पर्यन्त है। अभिम ग्रन्थ अप्राप्य या खडित है। पत्र म० ७३ पर समाप्ति नहीं है प्रारभ में कोई कारिका मगलाचरण आदि नहीं है। मध्य म भी पाद समाप्ति का कोई सकेत नहीं है, केवल सूत्र म पता चलता है।

इस ग्रन्थ में अणुभाष्य का आभास देकर उसका आवश्यक संक्षिप्त विवरण लिखा गया है। प्रथमाध्याय की समाप्ति पर इस प्रकार पुष्पिका है:—

'इति श्रीब्रह्मसूत्राणुभाष्य विवृतौ प्रथमोध्याय समाप्त :'
ग्रन्थ-लेखन के अनन्तर पाद अध्याय समाप्ति का संकेताक्षरों में परिचय लिखा मिलता है। 'इसमें केवल १० अन्तिम सूत्रों का आभास विवरण और मिल जाता तो ग्रन्थ पूर्ण हो जाता, ऐसा विदित होता है कि यह प्रति कहीं की प्राचीन प्रतिलिपि से उतारी गई है, क्योंकि अन्तिम ७२ वे पत्र पर एक पंक्ति ही लिखी गई है शेष स्थान छूटा हुआ है।

प्रसाद वागीश्वर—श्रीवल्लभ दीक्षितात्मज श्रीबालकृष्ण जी द्वारा विरचित। अप्रकाशित। सर० भं० काकरौली में [शु० बं० ४५, १४, १५, पर] विद्यमान।

[इस ग्रन्थ में प्रारंभ में लेखक-भ्रम से १ से लेकर १४ पत्र तक श्रीवल्लभाचार्य कृत अणुभाष्य की प्रतिलिपि कर दी गई है। जो चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद के १४ वे सूत्र तक की है]

इसके अनन्तर प्रसादवागीश्वर नामक भाष्य विवरण पत्र सं० १४ से २३ तक लिखा गया है। यह 'प्रसाद वागीश्वर' नामक विवरण प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद के १५ वें सूत्र तक है। इसमें स्थान स्थान पर अणुभाष्य की प्रतीक देकर उनका आशय लिखा गया है। द्वि० पाद समाप्ति पर इस प्रकार पुष्पिका लिखी गई है।

"इति श्रीमवल्लभाचार्य-चरण-रजोमात्रार्थिना श्रीवल्लभदीक्षितात्मज बालकृष्णेन विरचिते प्रसाद वागीश्वर नाम्नि भाष्य विवरणे प्रथमाध्याय द्वितीय पाद-विवरणम्।"

यह ग्रन्थ समग्र नहीं मिलता। अन्यत्र भी अभी तक इसकी अन्य प्रति का पता नहीं चला।

तत्वार्णव-भाष्यम्। [आनन्दमयाधिकरण नामक प्रकरण मात्र का भाव] श्रीवल्लभ दीक्षितात्मज श्रीबालकृष्णजी विरचित। सर० भ० काकरौली में [शु० बं० सं० ४५, १३ पर] विद्यमान, अप्रकाशित तथा अन्यत्र अनुपलब्ध है।

प्रस्तुत ग्रंथ पत्र सं० ६ से ८८ तक अपूर्ण है दूसरा प्रारंभिक अंश नहीं मिलता। समाप्ति के पद्य इस प्रकार हैं—

अयं यत्नादात्तश्रुति-गण-परामत्व विभवा-
दनर्वाचीनानां मतकल न च कौतूहलधरः।
धरी कर्तुं प्राचा वचसि मतिवैशद्यमभित.
कृतो दीप्त युक्तं यदि तदिह वागीश-विभवः ?
पंचाशद्विपपचकार्णक महा श्रीमन्त्रराजं जपन्
ध्यायन् पादसरोरुहद्वयमहोरात्रं तु गोपीपतेः
शप्यादेशविशेषमस्तविपदादोपैकहेतुं हरे.
गायन् कार्यमशेषकल्मषहर यत्नार्थितो लेखने ?

"इति श्रीवल्लभाचार्य-पादारविन्दाश्रय श्रीवल्लभदीक्षात्मज बालकृष्णकृतं तत्त्वार्णवभाष्यं समाप्तम्। श्रीरस्तु-सं० १७६१ वर्षे पौष वदि १० भौमवारे लिखितम्"।

एतावता इसकी रचना का काल सं० १७६१ के पूर्व है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वतंत्र रूप से व्याससूत्र के आनन्दमयाधिकरण पर विचार किया गया है। व्याससूत्र, श्रुतिवचन और अन्य प्रमाणों के उद्धरण में सिद्धांत की स्थापना की गई है। एक स्थल पर लिखा है [पत्र २७ पं० ३] 'एवं यथामति विभाव्याहृत. यस्य विशेषजिज्ञासा तर्हि यथा सम्प्रदायानुसारि श्रीमद्भाष्यं द्रष्टव्यम्' अतएव ऐसा मानना पड़ता है, कि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ है जो प्रारंभ में खंडित है।

ग्रन्थ में दो चार स्थानों में ग्रन्थकार ने लिखा है—

'ब्रह्मजीवभेदसाधनं चास्मत्कृते अविद्याखंडने द्रष्टव्यम्' [पत्र ६]
'विस्तरस्तु मत्कृते गीताभाष्ये द्रष्टव्यम्' [पत्र १६]
'एतच्चास्माभिः गीताभाष्ये निरूतम्' [पत्र २०]
'विस्तरस्तु खंडने अस्मत्कृते द्रष्टव्यः' [पत्र २२]
'अत्रेदमाहुर्द्दिराया : [पत्र २६]

इस कथन से दो बातों का पता चलता है।

(१) तत्त्वार्णव भाष्यकर्ता ने गीताभाष्य की रचना की है जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। अविद्या खंडन नामक कोई ग्रन्थ या प्रसंगोपात्त किसी ग्रन्थ में कोई अंश ग्रंथकार का होना चाहिये। जिसका कुछ परिचय नहीं मिलता।

(७) ग्रन्थकार श्रीहरिरायजी से अर्वाचीन है।*

अणुभाष्य-टीका—श्रीगिरीशधर जी कृत। इस नाम की टीका सुनी जाती है जो अनुपलब्ध, अप्रकाशित है। अणुभाष्य के गुजराती अनुवादक श्री जे० गो० शाह ने स्वकीय भूमिका में और तेलीवाला ने भी रश्मि की भूमिका में इसका नामोल्लेख किया है।

अप्राप्त होने के कारण इसका परिचय देना असंभव है।

अणुभाष्य टीका—श्रीरामनारायण कृत। इस टीका का भी पता चलता है जिसे श्री जे० गो० शाह ने और तेलीवाला ने लिखा है। 'अप्राप्त' है।

अणुभाष्य-तत्वम्—यह सुना जाता है कि कोटा के श्रीमथुरेशजी के पुस्तक संग्रहालय में विद्यमान है, पर देखने का अवसर किसी को नहीं आया। श्रीशाह और श्रीतेलीवाला ने भी केवल इसका नाम निर्देश किया है।

वेदान्त कौमुदी नामक अणुभाष्य का विवरण। किसी वल्लभदेव नामक विद्वान द्वारा रचित। यह भी अप्राप्त और अप्रकाशित है। परिचय नहीं दिया जा सकता।

अणुभाष्य प्रकाशः—नाम्नी टीका संस्कृत टीका गो० श्रीमथुरानाथजी विरचित सुनी जाती है जो सम्प्रति अप्रकाशित और अप्राप्त है। इसका नाम रणछोडदास पटवारी ने अपनी प्रकाशित सूची में दिया है।

अणुभाष्य-सिद्धान्त टीका—नाम्नी संस्कृत टीका किसी अज्ञात ग्रन्थकार की रची कही जाती है। यह देखने में नहीं आई और न कहीं प्रकाशित हुई है अप्राप्त है। रणछोडदास पटवारी ने अपनी प्रकाशित सूची में इसका नामोल्लेख किया है।

अणुभाष्य-टीका—इस नाम की एक टीका संस्कृत में भट्ट

---

*संभवतः प्रसाद वागीश्वर और तत्वार्णव भाष्य इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता एक ही हों, पर इसके परिज्ञान का कोई साधन नहीं मिला।

श्रीगंगाधर शास्त्री की रचा हुई सुनी जाती है अप्राप्त होने से परिचय नहीं दिया जा सका। रणछोड़दास पटवारी ने स्वप्रकाशित सूची में इसका नाम निर्देश किया है।

अणुभाष्य-प्रभा व्याख्या...गो० श्रीमुरलीधरजी विरचित। उपलब्ध। इसका त्रिसूत्री परिमित भाग पाँच टीकाओं के साथ प० श्रीरमानाथजी शास्त्री ने बम्बई से प्रकाशित किया है। सं० १६७८

यह अणुभाष्यार्थ के विशदीकरण के लिये निर्मित हुई है। व्याख्याकार ब्रह्मसूत्र निर्माण का प्रयोजन बताते हुए भाष्य-रचना के सम्बन्ध में कहते हैं।

'ततश्च भाष्यकार. सूत्राकार-सर्वज्ञता ख्यापयितुं जिज्ञासापद-सूचिते सन्देहप्रयोजने च दृढीकर्तुमादौ तत्कृत जिज्ञासापदवाच्य विचार आदि

अणुभाष्य-विवरणम्...भाष्य-व्याख्या काशीस्थ गो० श्रीगिरिधर जी महाराज—विरचित। त्रिसूत्री परिमित भाग में पंच टीकाओं के साथ, और स्वतन्त्र रूप में जेठा० आसन० ट्रस्ट बम्बई द्वारा इसका प्रथमाध्याय सं० १६६६ में और द्वितीयाध्याय सं० २००७ में प्रकाशित किया गया है।

श्रीगिरिधरजी कृत विवरण अणुभाष्य के लिये उतना ही उपयोगी और विशेषार्थ-प्रतिपादक है जितना पुरुषोत्तमजी विरचित प्रकाश। इसमें मौलिक विचारधारा को लेकर व्यापक रूप में भाष्य का विवरण प्रस्तुत किया गया है। भूमिका में कहा गया है

'श्रीकृष्णस्य कृपाप्राप्तगुरो गिरिधर सुधी '
कुर्वे विवरणं श्रीमदणुभाष्य यथामति २०

अणुभाष्य-गूढार्थदीपिका टीका...श्रीलालभट्टोपनामक भानाल कृष्ण भट्ट द्वारा रचित त्रिसूत्री परिमित भाग पाँच टीकाओं के साथ बम्बई से प्रकाशित। प्रस्तुत ग्रन्थ का अवशिष्ट भाग हमारे देखने में नहीं आया।

प्रस्तुत टीका में अन्य टीकाओं के अनुसार ही अणुभाष्य का प्रतिपाद्य अर्थ विशद किया गया है।

उपक्रम में व्याख्याकार की उक्ति है:—

'श्रुति-गीता-ब्रह्मसूत्र श्रीमद्भागवतस्थितम्।
तत्वार्थं योवदद् भाष्ये तं श्रीवल्लभमाश्रये ...।२ ...

वेदान्त-चन्द्रिका—वेदान्त-सिद्धान्त चन्द्रिका भी नाम से प्रसिद्ध है। श्रीरघुनाथात्मज श्रीव्रजनाथजी द्वारा रचित है ऐसा श्रीगोविन्दलाल भट्ट का कथन है। इनके गुरु का नाम श्रीवल्लभ है। वि० विभाग कांकरोली में जो प्रति है उस पर श्रीरघुनाथात्मज देवकीनन्दनजी का नाम कर्तृत्वेन लिखा है जिनका जन्म सं. १६८४ है। जिसकी परिमित भाग में इस टीका के कर्ता का नाम नहीं दिया गया है। पर ऐसा विदित और प्रमाणित होता है कि-यह रघुनाथात्मज श्रीव्रजनाथ जी की ही कृति है जिनके अन्य भी ग्रन्थ हैं।

प्रस्तुत टीका में अन्य टीकाओं के अनुसार ही अणुभाष्य का विवरण लिखा गया है। इन्होंने उपक्रम में लिखा है।

'तात श्रीरघुनाथाख्यं वन्देहं कृष्णरासदम् ।४।
श्रीमद्रघुकुले रत्न गुरुं 'श्रीवल्लभाभिधम्
नत्वाणुभाष्य-विवृतिं प्रभो विस्तारयाम्यहम् ।५।

अणुभाष्यपद-प्रदीप—यह विवरण श्रीइच्छाराम भट्ट ने निर्मित किया है जो समग्र अणुभाष्य पर विद्यमान और प्रकाशित है। प० श्रीमगनलाल शास्त्री बंबई द्वारा प्रकाशित। सं० १६८०

भूमिका में ग्रन्थकार का कथन है—

'प्रदीपमणुभाष्यीयपदानाविवृणोम्यहम्' ।२।
चक्षुष्मता प्रकाशाय भाष्यार्थस्य निशाश्रमम्
इच्छारामःकरोतीय दीपं दिव्य सुखावहम् ।४।

अणुभाष्य के अर्थानुसन्धान के लिये विचार करने पर प्रकाश, विवरण और गूढार्थदीपिका के बाद इस प्रदीप का ही क्रम आता है। इच्छाराम भट्ट ने अपने पूर्ववर्ती सभी टीकाकारों का मन्तव्य लेकर इस विवरण को प्रस्तुत किया है, अतः यह सहज में कहा जा सकता है, कि इसमें अधिकांश विद्वानों के अभिप्राय का समावेश है। और सचमुच बिना श्रम के भाष्यार्थ का अवगाहन किया जा सकता है।

ग्रन्थकार ने इसकी रचना अपने गुरु श्रीगोपालजी के नाम पर की है या यों कहें कि उन्हें यह ग्रन्थ समर्पित किया है।

अणुभाष्य-टिप्पणी—पंच श्रीगट्टूलालजी द्वारा रचित अप्रकाशित

भावप्रकाशिका ब्रह्मसूत्रवृत्तिः—गोस्वामी श्रीव्रजनाथात्मज श्रीकृष्णचन्द्र विरचित। उपलब्ध और प्रकाशित तेलीवाला बंबई द्वारा सं० १६७६.

व्याससूत्रों पर प्रस्तुत यह वृत्ति अणुभाष्य के सिद्धांतानुसार बनाई गई है। इसमें संक्षेप में भाष्य के अभिप्राय को लेकर सूत्रार्थ समझाया गया है, यद्यपि इसका नाम वृत्ति है तथापि इसे संक्षिप्त विवरण भी कहा जा सकता है।

किन्हीं विद्वानों का कथन है कि इसके रचयिता गो० श्रीपुरुषोत्तम जी हैं जिन्होंने अपने गुरु चरण के नाम से इसका निर्माण किया है। उपसंहार में ग्रन्थकार का यह कथन है कि—

इति श्रीवल्लभाचार्य चरणाब्जरजोधनः
कृष्णचन्द्रस्तत्त्व-सूत्र वृत्तिं तत्पदयोर्न्यधात् ?.

इससे स्पष्ट होता है कि इसके कर्ता श्रीकृष्णचन्द्रजी ही हैं। अन्यथा कल्पना करने पर तो सर्वत्र ही ऐसा विसंवाद खड़ा हो जायगा।

श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीपुरुषोत्तमजी के काका और दीक्षागुरु थे।

मरीचिका ब्रह्मसूत्र-वृत्ति—श्रीव्रजनाथभट्ट विरचित। यह संक्षिप्त वृत्ति अणुभाष्य के अर्थानुसन्धान पर निर्मित की गई है। तेलीवाला बंबई द्वारा प्रकाशित

इस मरीचिका की रचना राणा जयसिंहजी की आज्ञा से की गई ऐसा उल्लेख है। गोपेश्वरजी ने स्वकीय रश्मि टीका में भी [१, ४, १७, ब्रह्म०] इसका नाम लिया है, फलतः व्रजनाथभट्ट श्रीगोपेश्वरजी से प्राचीन हैं।

ब्रह्मसूत्रार्थ-कारिका—गो० श्रीदेवकीनन्दन जी द्वारा रचित कारिकाएँ हैं जो अणुभाष्य के आधार पर ब्रह्मसूत्रों के अर्थ का स्पष्टीकरण करती हैं।

यह ग्रंथ मेरे देखने में नहीं आया। जहाँ गद्य में ब्रह्मसूत्रों का अर्थ कई विद्वानों ने स्पष्ट किया है वहाँ पद्य में भी उसको चरितार्थ करने का यह प्रयत्न है।

ब्रह्मसूत्र वृत्तिः—गो० श्री जीवनाचार्य (गोकुलोत्सवात्मज) रचित। प्रकाशित। त्रिसूत्री परिमित भाग। या शु. पुस्तकालय बम्बई द्वारा।

ब्रह्मसूत्रार्थ-वर्णनकारिका—किसी अज्ञात ग्रन्थकार की उपलब्ध होती है जो स० कॉकरोली में [शु० बं० ६७ पर] विद्यमान है। अप्रकाशित।

यह कहा नहीं जा सकता कि उपर्युक्त ग्रन्थ और यह ग्रन्थ एक ही है या पृथक् पृथक्। जबतक कि दोनों का सवाद न किया जाय।

गुणोपसंहार पादभाष्य-विवरणम्—गोस्वामी श्रीव्रजनाथात्मज कृष्ण चन्द्र विरचित उपलब्ध है जो अणुभाष्य के तृ० अ० पाद के ३५ वे सूत्र तक मिलता है। यह रश्मि नामक टीका के परिशिष्ट में प्रकाशित किया गया है।

तेलीवाला ने रश्मि का सम्पादन करते समय मूल प्रति के अवलोकन से निर्णीत किया है कि यह विवरण श्रीकृष्णचन्द्र जी रचित है। इसे इस अ० के इसी पाद के प्रकाश मे समाविष्ट कर लिया है, जिस से इसका पार्थक्य जाता रहा है।

तेली वाला का यह भी कथन है कि यह श्रीकृष्णचन्द्र जी तृ० पुत्र श्रीबालकृष्णजी के द्वि० पुत्र श्रीव्रजनाथजी के पुत्र हैं और इनका जन्म स० १६५५ आ० कृ० ७ है।

गो० श्रीबालकृष्ण शास्त्रीजी ने अणुभाष्य पर कुछ मौलिक साहित्य का प्रणयन किया है जो अप्रकाशित है और तदात्मज गो० कण्ठमणि शास्त्री के पास संग्रहीत है। यद्यपि यह अपूर्ण है, तथापि ग्रन्थकार के स्वहस्त लेख रूप में विद्यमान होने और नये व्यापक सिद्धान्तानुसार विचार होने से माननीय है। यह इस प्रकार है।

(क) अणु वृत्ति—अणुभाष्य के अनुसार व्यास-सूत्रों पर संक्षिप्त किन्तु रहस्यप्रकाशक वृत्ति है, जो प्रथमाध्याय के १, २, ३, पादों पर समग्र और चतुर्थ पाद पर अपूर्ण है—रचनाकाल स० १९६४ [पंजिका सं० ३०, क और ३०, ख]

(ख) अणुभाष्य सार अथवा अणुवृत्ति सार—इसी प्रकार का भाष्यार्थ बोधक अपूर्ण ग्रन्थ है, जो इसी समय रचित हुआ है, और अणुवृत्ति नामक ग्रन्थ से अलग है। [पंजिका सं० ६,ग और ३०,क]

(ग) ब्रह्मसूत्र–प्रकीर्ण विचारः—व्याससूत्रों पर अणुभाष्य की छाया लेते हुए एक विचारधारा है, जो प्रथमाध्याय के द्वितीयाध्याय के पञ्चमाधिकरण पर्यन्त विरचित है [पं० सं० १, क और ख ३७, क]

(घ) ब्रह्म सूत्रीय पारिभाषिक शब्दार्थः—व्यास सूत्रों में आने वाले विशिष्टार्थ बोधक शब्दों का अर्थ अणुभाष्य के अनुसार संकलित किया गया है। [पं० सं० १, क]

(ङ) अधिकरण संख्या विचारः—*ब्रह्म सूत्रों पर भाष्य के अनुसार अधिकरणों की संख्या और तात्पर्य पर विचार।

अप्रकाशित। [पं० सं० १७ क, २५ क तथा ३० ख]

अणुभाष्य-बाल बोधिनी टीका—श्रीधर त्र्यंबक पाठक पूना द्वारा विरचित। भांडारकर पूना द्वारा प्रकाशित।

इस ग्रंथ में अणुभाष्य के अभिप्राय को सरल भाषा में संस्कृत मे प्रतिपादित किया गया है, इस टीकाकार ने वास्तव में अणुभाष्य द्वारा व्याससूत्र की विवेचित शैली पर मुग्ध होकर स्वतंत्र व्याख्या की है। जो इस सम्प्रदायानुयायी भी न होकर भी इसके सिद्धान्त को पुष्ट करती है, इसमें पूर्व प्रकाशित सभी उपयुक्त व्याख्या विवरणों का सारांश लिया गया है, और उसे अपनी भाषा में कहा गया है। इसके अधिकरण, विषय प्रयोजन पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष आदि सभी शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार हैं। जहाँ तक बना है ग्रन्थकार ने इसे संक्षिप्त और छात्रोपयोगी बनाने का मुख्य प्रयत्न किया है।

अणुभाष्य—हिन्दी भाषानुवाद—प० श्री जगन्नाथ शास्त्री जी प्रतापगढ़ द्वारा विरचित। प्रथमाध्याय के प्रथम पाद पर्यन्त। अप्रकाशित र. सं० २०१४। इसकी रचना द्वितीय पीठाधीश श्री गिरधर लाल जी महाराज, इन्दोर ने अपने पितृचरण नि० श्रीकृष्णराय जी के स्मारक रूप से करना प्रारम्भ किया था, पर न जाने किस मंत्रणा से यह कार्य स्थगित करा दिया गया। यह यदि पूर्ण हो जाता तो अणुभाष्य के हिन्दी अनुवाद की समस्या हल होगई होती। जब कि अणुभाष्य के गुजराती दो-दो अनुवाद प्रकाशित हैं।

प्रस्तुत अनुवाद में रोचक शैली से अणुभाष्य का अभिप्राय

---

*इसका विशेष परिचय 'व्याससूत्रों का स्वरूप परिचय' में लिखा जा चुका है।

गुम्फित किया गया है, और विद्वान लेखक ने अपने व्यापक पाण्डित्य का उपयोग किया है।

अणुभाष्य स्वार्थ दर्शन–हिन्दी अनुवाद–पो० श्रीरत्नमणि शास्त्री विरचित अप्रकाशित और अपूर्ण [प्र० अ० प्रथम पाद । र० स० १६८०]

यह अनुवाद कोटास्थ प्र० पीठाधीश गो० श्रीगिरिधर लाल जी महाराज, (श्री द्वारकेश लाल जी) की आज्ञा से लेखक ने स्वकीय अध्ययन काल में किया था, पर जो प्रेरकों की अप्रेरणा और अन्य कार्य समारम्भ के कारण अपूर्ण है।

अणुभाष्य गुर्जर–भाषानुवाद—प्रो. श्री जेठालाल, गोवर्धनदास शाह द्वारा विरचित। अहमदाबाद से लल्लूभाई छ० द्वारा प्रकाशित। स० १६८३। दो भाग।

प्रस्तुत ग्रंथ श्रीवल्लभाचार्य के अणुभाष्य का गुजराती अनुवाद है। इसमें मूल का अक्षरश: अनुवाद है जो प्रकाश प्रदीप आदि संस्कृत टीकाओं के आधार पर है जहाँ तहाँ विषय के स्पष्टीकरणार्थ परमतों का भी उपन्यास और टिप्पण है। विस्तृत विवेचन और उपोद्घात में प्रासंगिक विवेचना में इस साहित्य पर अच्छा प्रकाश डालते हुए शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के सिद्धान्त की सप्रमाण रूप रेखा खींची गई है। अणुभाष्य का यह सर्वप्रथम भाषानुवाद है।

अणुभाष्यानुवाद (गुजराती)–प्रो० श्रीगोविन्दलाल, हरगोविन्द भट्ट द्वारा रचित। जेठानन्द आसन ट्रस्ट बंबई से प्रकाशित स० २००१

श्रीवल्लभाचार्य चरण रचित अणुभाष्य के गुर्जरानुवाद की दूसरी कड़ी है। जो सम्प्रति प्र० अध्याय के रूप में ही प्रकाशित हुई है। श्री गोविंदलाल भट्ट का साम्प्रदायिक तत्वज्ञान गंभीर और तल स्पर्शी है अत इस अनुवाद में सर्वापेक्षया मौलिकता सारल्य और गाम्भीर्य का होना अनिवार्य है। पूर्व के गुर्जरानुवाद की अपेक्षा इसको अधिक स्पष्ट किया गया है। अनुवादक ने उपोद्घात में प्रासंगिक विषय पर जैन साहित्य और सिद्धान्त पर मननीय विचार व्यक्त किये हैं। अणुभाष्य का अंग्रेजी अनुवाद भी किया जा रहा है।

इति ब्रह्मसूत्र प्रमाण प्रकरणम्—

शु० पु० संस्कृत वाङ्मय

★

समाधिभाषा श्रीमद्भागवत....

★

स्वरूप परिचय—

परम कारुणिक सच्चिदानन्दमय श्रीहरि के ज्ञानावतार कृष्ण द्वैपायन महर्षि वेदव्यास प्रणीत श्रीमद्भागवत महापुराण अष्टादश साहस्री संहिता है। जो स्वकीय गौरव के कारण सर्वशास्त्रों में अनुपम और सर्वविध जीवों के श्रेयश्रय का साधक प्रत्यक्ष नामरूप से भगवद्रूप है।

यह वेद तो नहीं पर वेदवत् है। यदि इसे "इतिहास पुराणंच पञ्चमो वेद उच्यते" के अनुसार वेद माना जाय तो इसके स्वरूपोत्कर्ष की अपेक्षा स्वरूप हानि का प्रसङ्ग आता है। जहाँ वेद केवल त्रैवर्णिक के अधिकार को लेकर पुरुषार्थ के प्रवर्तक हैं वहाँ भागवत त्रैवर्णिक के साथ ही बिना भेदभाव के स्त्री शूद्रादि के लिये भी उतनी उपादेय है, और सच तो यह है कि भगवद्वाणी रूप वेद की इस संकुचित भावना को हटाने, उसी के अभिप्राय को भाष्य रूप में व्यक्त करने और उन्मुक्त हस्त से कल्याण वितरण के लिये ही इसका आविर्भाव हुआ है, जो साक्षात् परमात्मा की उस दैवी इच्छा का प्रतिफल है जिसके भीतर यावन्मात्र जगत के संरक्षण, संवर्द्धन और सारूप्य प्रदान करने की निष्ठा निहित है।

श्रीवल्लभाचार्य इसे वेद के समान पूज्य मानते हुए भी वेदवत् मानते हैं। वे इसमें वेद धर्म का अतिदेश बतलाते हैं। जैसा कि "कोश में अतिदेश शब्द का अर्थ कहा गया है, निगमों में प्रतिपादित सभी धर्मों का इसमें रूपान्तर से विवृत प्रवचन है जो मानव मात्र के लिये अमृतवत् सग्राह्य अथच पेय है।

पुरुषार्थ और भक्ति—

जिस प्रकार वेद में नित्य और काम्य, प्राकृत और वैकृत— दो प्रकार के धर्मों का निरूपण है, भागवत में भी पुरुषार्थों का निरूपण है। मानव के यह उपादेय प्रयत्न प्राचीन पद्धति में चार प्रकार के माने गये हैं पर नवीन अन्वेषण और तात्विक विज्ञान से पाँच प्रकार के सिद्ध होते हैं। १ धर्म, २ अर्थ, ३ काम, ४ मोक्ष, ५ भक्ति (स्नेह, प्रीति) प्रथम तीन त्रिवर्ग और चारों को मिलाकर चतुर्वर्ग कहा गया है। भक्ति मानसिक वृत्ति या इच्छा नहीं है, क्योंकि इच्छा तो प्रत्येक पुरुषार्थ की होती है। वृत्ति भी नहीं है क्योंकि यह साधन होते हुए भी फल रूप है।

जिस प्रकार अन्य पुरुषार्थ साधन रूप होकर भी फलात्मक आनन्द को प्रदान करते हैं, चाहे वे लौकिक हों चाहे अलौकिक ? उसी प्रकार भक्ति भी परमानन्दात्मक फल प्रदान करती है, साधन और साध्य दोनों है। पर-एक के प्रति अनन्य निष्ठा में जिस प्रकार पूर्व के प्रति विराग और उपेक्षा वृत्ति जागृत होती है उसी प्रकार भक्ति में भी। भक्तिमान् या भक्तीच्छु पुरुष अनन्य निष्ठा में शेष का उसी प्रकार त्याग कर देता है जिस प्रकार अर्थी और कामी अन्य का। अतः भक्ति शास्त्र भक्ति को स्वतन्त्र पुरुषार्थ ही नहीं परम पुरुषार्थ मानता है, और इसका फल अलौकिक परमानन्द-प्राप्ति। शास्त्रों में कई उदाहरणों का वर्णन है कि जिस प्रकार मुमुक्षु त्रिवर्ग की उपेक्षा (त्याग) कर देता है उसी प्रकार भक्तीच्छु मोक्ष तक का तिरस्कार।

जहाँ अर्थ और काम स्वरूपानुसार सभी प्राणियों में विद्यमान हैं, वहाँ मानव में धर्म के साहचर्य से उनकी प्रतिष्ठा मानी जाती है और इसीलिये इन्हें पुरुषार्थ कहा जाता है, पर भक्ति (स्नेह प्रेम) जहाँ यावन्मात्र प्राणियों में विराजमान है वहाँ अन्य अवशिष्ट पुरुषार्थों के साथ यह महामानव का भूषण है। अतः निःसन्दिग्ध भक्ति एक स्वतंत्र पुरुषार्थ है, और सर्वोत्कृष्ट अपरिहार्य कर्तव्य।

भक्ति और भागवत—

श्रीभागवत भक्तिजनित सात्वत-संहिता है, इसका मुख्यतम प्रयोजन अङ्गोपागों के साथ भक्ति की प्रतिष्ठा करना है। यह सब उस

महापुराण के माहात्म्य में सुविस्तर वर्णित है। दयामय परमात्मा के स्वरूप प्रीति (आनन्दमयता) के एक-एक कण को लेकर ही तो यह विश्व प्रतिष्ठित है 'अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' 'आनन्दाद्धेय खल्विमानि भूतानि जायन्ते' आदि श्रुति वचन इसी की पुष्टि करते हैं। यह प्रीति (भक्ति स्नेह) प्रसरणशील है, आधार पात्र के अनुसार संकुचित और विस्तृत दोनों रूप धारण करती है। यह जहाँ भौतिक पदार्थ में सीमित हो जाती है, एकांगी, क्षुद्र विकृत रूप लेती है, जिसे मूलतः असंपृक्त हो जाने के कारण विनाश का भय बना रहता है। एक धारा जो मूल स्रोत से छूट गई हैं, अपावन, अहितकर, अथच उद्वेजक हो जाने से विनाशक बन जाती है, पर जहाँ व्यापकता से उसका निर्बाध, नित्य अविरल संबंध बना रहता है वह तृप्ति, सन्तोष और परमपावनता को लेकर कल्याण-साधिका भगवती गङ्गा के रूप में जगद्वन्द्य बन जाती है, उसमें कल्मषनाशन के साथ पावनता का भी समावेश हो जाता है।

परमात्म-विषयक भक्ति—जिसे शास्त्रों में "सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह" कहा जाता है, इसी प्रकार की है; लौकिकता से दूर दिव्य स्वरूप है। और इसी का भागवत में प्रतिपादन, संस्थापन है। अतः भागवत का अनुभवैकवेद्य अनिर्वचनीय ही माहात्म्य है। यह अपने दिव्य स्वरूप को लेकर लोक और परलोक दोनों को जीवन प्रदान करती है।

भक्ति, निःस्वार्थ प्रेम, स्नेह—जो भौतिक पदार्थों की परिधि से कर अध्यात्मिक और आधिदैविक रूप में आत्मरूप व्यष्टि और परमात्मरूप समष्टि में होता है निर्गुण भक्ति कहलाता है।

इस प्रकार की अहेतुकी अव्यवहित भक्ति का ही निरूपण श्रीमद्भागवत में किया गया है।

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्च परिकीर्त्यते। सर्वत्रेव पुराणेषु।

इत्यादि मत्स्यपुराण के कथनानुसार सभी पुराणों में चतुर्वर्ग का परिकीर्तन है। 'पुराण-सार' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि पुराण भक्ति के दर्शन हैं। एतावता उनकी पद्धति के अनुसार भागवत में भी पञ्च पुरुषार्थों का वर्णन और विवरण अधिगत होता है। यह पाँच पुरुषार्थ नित्य काम्य भेद से दो-दो प्रकार के हैं:—

१. धर्म—अतिथि पूजन सत्कार आदि नित्य। पयोव्रत आदि काम्य।
२. काम—स्वस्त्री में ऋतुगमनादि नित्य। आग्नीध्र का पूर्वचित्ति के अनुसार काम, काम्य।
३. अर्थ—ब्राह्मण का कुसूलधान्यादि संग्रह नित्य। इला के समान पुरुषत्व का अर्थ, काम्य अर्थ।
४. मोक्ष—सायुज्य नित्य मोक्ष। सालोक्य प्राप्ति काम्य मोक्ष।
५. भक्ति—शास्त्रोक्त स्वाभाविक भक्ति का अनुष्ठान नित्य। कामनार्थ कृत भक्ति काम्य।

इस परिभाषा के अनुसार भागवत में सभी प्रकारों का वर्णन है।

श्रीवल्लभाचार्य ने 'सर्वनिर्णय' आदि स्वसिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थों में कहा है कि—पुराण अनन्त हैं और वे सात्विक, राजस, तामस, भेद से त्रिविध गिने जाते हैं। श्वेतवाराह कल्प के जीव त्रिविध हैं, अतः उनके अधिकार परत्वेन त्रिविध प्रकारक पुराण उपलब्ध हैं। वेदव्यास ने उनके प्रापन्य फलों का उल्लेख कर उन उन पुराणों का विस्तार किया है। यद्यपि सभी पुराणों का फल मुक्ति-प्रतिपादन है और वे फलश्रुति में ऐसा ही कहते हैं, तथापि मुक्ति सात्विक पुराणों के द्वारा ही सम्प्राप्त होती है।

सभी पुराणों में मुक्ति निरूपण का एक रहस्य है। प्राकृतिक गुणों का परित्याग कर निर्गुण अवस्था प्राप्त करना ही मोक्ष है जिसमें बन्धन-विमोक्ष का अर्थ छिपा हुआ है। गीता के अनुसार गुण ही बन्धन कर्ता है--[अ० १४] यह गुण सहसा विनिवृत्त नहीं हो जाते। साधनों के द्वारा-जो कि स्वाधिकारानुसार शास्त्राचरण से होते हैं—क्रमश इनका विलय होता है। तम रज में, रज सत्व में, सत्व निर्गुणता में विलय को प्राप्त होता है, अत. जिस प्रकार तामसी जीव तामस पुराणोक्त साधनानुष्ठान से राजसिकता को मोक्षरूप में प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अन्य भी। वे अन्ततोगत्वा सात्विक पुराणों के प्रतिपादित साधनों के द्वारा निर्गुणता को प्राप्त कर लेते हैं। और क्योंकि "हरिर्हिनिर्गुणः साक्षात् पुरुष. प्रकृते. पर." "त भजन्निर्गुणो भवेत्"–[भाग०] आदि वचनों से भगवान् श्रीहरि प्रकृति से परात्पर, अक्षर से पर निर्गुण है, उनकी सेवा करने वाला भी गुणों का अति-

क्रमशः कर निर्गुणता को प्राप्त हो जाता है। श्रीभागवत इसी प्रकार का निर्गुणता-साधक सर्वोत्कृष्ट शास्त्र है, और उसमें अन्ततोगत्वा सभी के परमानन्दात्मक मोक्ष का प्रतिपादन पदपद पर किया गया है। श्रीभागवत के सतत अभ्यास, मनन और एकान्तभाव श्रवण से भी उक्त उद्देश्य की सिद्धि होती है, अनुग्रहकातर परमात्मा शीघ्र ही ऐसे साधक श्रोता के हृदय में निविष्ट होते हैं, कहा है—

धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमोनिर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तुशिवदं तापत्रयोन्मूलनं
श्रीमद्भागवते महामुनि कृते किंवा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्। भा० १, १, २.

भागवत और पुराण—

वेदों के शाखा प्रशाखा रूप विस्तार, गीता के प्रवचन और उत्तर मीमांसा के निर्माण तथा महाभारत प्रथन के अनन्तर भी जब महर्षि कृष्णद्वैपायन को आत्मसन्तोष नहीं हुआ, तब उन्होंने भगवत्प्रेरणया समागत देवर्षि नारद के उपदेश से समाधि में भगवत्स्वरूप के दर्शन कर भागवत रूप भगवच्चरित्र का गान किया और निवृत्ति निरत, परमहंस, रागीय आत्मज, भगवान् शुकदेव को इसका अध्ययन कराया। उन्होंने भवतापदग्ध महाराजा परीक्षित को सप्ताह में श्रवण करा कर इसके प्रत्यक्ष चमत्कार का परिदर्शन कराया, तबसे यह महापुराण सांसारिक जीवों के सकलदुःखपनाशन के लिये उद्घोषणा करता चला आया है। उसके द्वारा आराधकों का अनुपम क्षेम होता है।

भागवत की गणना पुराणों में की जाती है। पुराण के प्रति श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है—'पुराणं वेदवत् पूर्वसिद्धं सर्वोपयोगि तत्' [सर्व० नि० ४८] अर्थात् जैसा कि श्रुतिवचन हैं पुराण पञ्चम वेद है, ये वेद के समान ही पूर्वसिद्ध हैं। वेद की अपेक्षा इसमें विशेषता है कि—यह द्विज और द्विजेतर स्त्री शूद्रादि सभी के लिये उपयोगी है।

चारों पुरुषार्थ दो प्रकार के हैं—१ ईश्वर विचारित, २. जीव विचारित। ईश्वर विचारित वैदिक और जीव विचारित पौराणिक पुरुषार्थ कहलाते हैं। वेद में ईश्वर विचारित ही पुमर्थ हैं और पुराण में दोनों प्रकार के पुमर्थों का आख्यान है। अतः वे इस रूप से भी सर्वोप-

योगी माने गये हैं। जिस प्रकार आत्मा के लिये देह गेह और उपकरण उपादेय होते हैं, उसी प्रकार धर्म के लिये भी तीनों स्थिति-स्थापकतया अपेक्षित हैं।

१. धर्मरूप आत्मा के लिये देहस्थानीय श्रौत धर्म है,
२. गेह स्थानीय स्मार्त धर्म, और
३. उपकरण स्थानीय पौराणिक धर्म है।

उपकरण के बिना जैसे गेह और देह दोनों अकिंचित्कर हैं उसी प्रकार धर्म भी स्मार्त और पौराणिक धर्म के बिना अनुपयोगी-सा रह जाता है।

सभी प्रकार के पुरुषार्थों और नित्यकाम्य कर्मों का यथावत् स्वरूप पुराणों के बिना समझ में नहीं आ सकता। तदनुसार 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' जैसे वचन चरितार्थ होते हैं। 'पुराणं हृदयं स्मृतं' का भी ऐसा ही रहस्य है। धर्मस्वरूप परमेश्वर का श्रुति-स्मृति नेत्रयुगल और पुराण हृदय है। तात्पर्य यह है कि—पुराणों के सहयोग से ही कर्तव्याकर्तव्य का परिज्ञान हो सकता है और श्रीभागवत इन सब में मूर्धन्य होने के कारण विशेष प्रभावशाली है।

शास्त्ररूप में जैसे वेद अनन्त हैं, पुराण भी। कल्पभेद और त्रिविध जीवों के अधिकार-निरूपण के कारण इनकी संख्या १८ मानी गई है। समस्त पुराणों का सार श्रीमद्भागवत है, एतावता अष्टादश साहस्री इस संहिता में अठारहों पुराणों का समावेश सा है। यह विभाग मत्स्य पुराण के अन्तिमाध्याय में, श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रणीत 'सर्व-निर्णय निबन्ध' की (४८ से ६१) कारिकाओं और उसके आवरण-भंग टीका में बताये गये हैं। स्थान संकोच से उनका निर्देश यहाँ नहीं किया है। इन महापुराणों के उपपुराणों का परिचय भी वहीं से मिल सकता है।

पुराणों के लक्षण पुराणों में ही प्रसंगोपात्त कहे गये हैं।

" सर्गोस्याथ विसर्गश्च वृत्तीरक्षान्तराणि च
वंशो वंशानुचरितं तस्था हेतुरपाश्रयः।
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदोविदुः
केचित्पञ्चविधं प्राहुर्महदल्प-व्यवस्थया॥"

इस कथन में दश लक्षण लक्षित महापुराण और पञ्च लक्षण समन्वित उपपुराण कहलाते हैं। भागवत दश लक्षणों के सविस्तर

कथन से महापुराण कहलाता है, इसकी श्लोक संख्या १८००० है। स्कन्ध पुराण में कहा है—

> यथोष्टादश साहस्त्रो द्वादशस्कंध संयुत
> हयग्रीव ब्रह्म विद्या यत्र वृत्रवधस्तथा।
> गायत्र्या च समारभस्तद्वै भागवत विदु ।

इस विषय मे पद्मपुराण में कहा है—

> इद भगवता प्रोक्त चतु श्लोक्या स्वयभुवे ।
> नारदाय स वै मह्य मवोचन्मुनये ह्यहम् ।
> शुकाय महाराताय स तु राज्ञे मन्यवे ।
> शुकोक्त विष्णु राताय सदसि ब्रम्हवादिनाम्
> श्रीमद् भागवत नाम सुनधा तमस. परम् ।

श्री भागवत का मूल और सार चतुश्लोकी भागवत है, जिसे सबसे प्रथम भगवान् प्रपितामह ने नारद को उपदेश दिया था। यह चतुश्लोकी भागवत में द्वि० स्क० ६ अ० ३१ से ३३ श्लोक तक मानी जाती है।

आचार्यश्री ने भागवत के सम्बन्ध म 'यत्राधिकृत्य गायत्री वर्ण्यते धर्मविस्तर वृत्रासुरवधोनपेत तद् भागवतमिष्यते" लक्षण कह कर उसके स्वरूप का निदर्शन कराया है।

जैसा कि महापुराण का स्वरूप लक्षण है, श्रीभागवत म वह पूर्ण अनुस्यूत है। स्वय वहाँ कहा है—

> " अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थान पोषण भूतय
> मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रय "

श्रीभागवत में द्वादश स्कध श्रीवल्लभाचार्य के मत से ३३५ और अन्य के मत से ३३५ अध्याय तथा अठारह हजार श्लोक हैं, जिनमे उवाच और अध्यायान्त की पुष्पिका भी सम्मिलित है। प्रचलित पाठों मे कई स्थानों पर आवश्यक 'उवाचों' की न्यूनता है।

भागवत का वैशिष्टय—

श्रीवेदव्यास कृत भागवत में जिस धर्म का प्रतिपादन है, वह बड़ा ही व्यापक सार्वजनिक और निष्पक्ष है। इससे ही वास्तविक

वेद का परिज्ञान होता है। श्रीवल्लभाचार्य ने अन्य धर्मों के साथ भागवतोक्त धर्म की तुलना करते हुए कहा है कि अन्यत्र सभी धर्मों में चापट्य की प्रतीति है, जो भागवत में नहीं होती।

उदाहरणार्थ:—

१ वैदिक धर्म यज्ञादि के स्वर्ग फल से भ्रम होता है कि 'स्वर्ग' लोक है या आत्मसुख। क्योंकि स्वर्ग दोनों का नाम है।

२. स्मार्त धर्म आचारादि है, इनमें प्रवृत्ति सङ्कोचनार्थ वस्तुओं के गुण दोषादि का कथन है, जैसे 'शुद्ध्यशुद्धी विधियेते समानेष्वपि वस्तुषु'।

३. सत्यादिक भी धर्म है, पर इनमें व्यवहारार्थ व्यवस्था है, जैसे कहा है "स्त्रीषु नर्म विवाहे च वृत्त्यर्थे प्राण सङ्कटे गो ब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृत स्याज्जुगुप्सितम्"।

४. तपश्चर्यादि योग धर्म हैं। परन्तु "कर्षयन्त: शरीरस्थं भूतग्राममचेतस" आदि वाक्यों से इसकी उत्तमता में भ्रम होता है।

तात्पर्य यह कि जहाँ भी विधि निषेध का सम्बन्ध है, वहीं चापट्य की सम्भावना है। परन्तु भागवत प्रोक्त श्रवण कीर्तन आदि भागवत धर्म में कहीं भी ऐसा नहीं है। अधिकारी प्रयोजन साधन और फल इन चारों दृष्टियों से यह प्रोज्झितकैतव धर्म सबके लिये समान रूप से अनुष्ठेय है। यह भागवत धर्म, भगवत्प्रेम, भगवत्सेवा और भगवत्साक्षात्कार के लिये किया जाने वाला कोई भी प्रयत्न कहलाता है। इसमें—

१ अधिकारि रूप में मानव, दानव, सुर, असुर, पशु, पक्षी आदि कोई भी सचेतन प्रयत्नशील इसका अनुष्ठाता हो सकता है।

२. प्रयोजन रूप में सकाम, निष्काम सभी प्रकारों का इसमें अङ्गीकार है।

३. साधन रूप में न केवल शास्त्रोक्त आचरण अपितु निषिद्ध मानसिक भाव काम, क्रोधमय द्वेष आदि की भी उपादेयता सम्मिलित की गई है जिसके कई उदाहरण विद्यमान हैं।

४ फल रूप में भगवत्साक्षात्कार भगवदानन्द सभी को निरतिशय रूप में समप्राप्त होता है।

एतावता इस प्रकार के विशुद्ध सर्वतो मधुर भागवत धर्म का प्रतिपादक श्रीमद्भागवत शास्त्र अपनी आप उपमा है। इसका वर्चस्व ही निराला है। जैसा कि कहा गया है, इसमें चतुर्विध विशेषताएँ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं—

(क) निर्मत्सर सत्पुरुषों के प्राज्झित कैतव धर्म का इसमें प्रतिपादन होने से इसमें प्रतिपाद्य विषय कृत वैशिष्ट्य है।

(ख) तापत्रय का उन्मूलक वास्तविक वेद्य वस्तु का निरूपण किया जाने से इसमें ज्ञान सम्बन्धिनी विशेषता है

(ग) महामुनि वेदव्यास कृत—समाधि म अनुभूत—होने से इसम कर्तृकृत महत्व विद्यमान है। और—

(घ) इसके अध्ययन पाठ श्रवणादि से वक्ता श्रोता के हृदय मे सद्य ही परमात्मअवस्थिति हो जाने के कारण इसमें फल सम्बन्धिनी विशेषता का साक्षात्कार होता है।

समस्त वेद पुराण शास्त्र आदि की अपेक्षा भागवत मे रूपा तर से मुहु मुहु पानेच्छा को जागरित करने और रुचि उपन्न करते रहने की सबसे अधिक चमत्कृति है। कहा गया है—

'आदि मध्यावसानेषु वैराग्याख्यान संयुतम्।
हरिलीला कथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम्।' भा द्वा १३, ११

अर्थात् वैराग्य के कड़वे घूँट को इसमें हरि कथामृत की मधुरिमा ने ऐसा सुस्वादु बना रक्खा है कि जिससे आदि मध्य अवसान सभी में श्रवण विरक्ति नहीं होती और लालसा ही उत्पन्न होती जाती है। इसे पीने के लिये स्वर्गवासी देव भी लालायित रहते हैं। राजा परीक्षित के लिये जीवन देने में इसका रञ्च मात्र भी विनिमय नहीं किया गया।

अ य पुराणों की अपेक्षा इसमें एक अद्भुत प्रसग है जो इस रूप म कहा है।

"कलिमल-सहति कालनोऽखिलेशो
हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम्।
इह तु पुनर्भगवानशेष मूर्ति
परिपठितानुपद कथा प्रसगै।" भा० द्वा० १२ ६५

मानव जीवन के उद्धार के लिये धर्माचरण की परम आवश्यकता है। इसके लिये अन्य सहयोगियों की भी अनुकूल उपस्थिति कारण मानी जाती है, जैसा कि गीता में निर्दिष्ट है, देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्म प्रकार इन छः की निर्दोषता से आचरित धर्म फलदायक होता है, इसमें से एक के भी विषम या असमीचीन होने पर अपेक्षित कामना सिद्धि नहीं होती। पर कलिकाल में यह सब निर्दुष्ट नहीं मिल सकते। श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है—

कालादि धर्म-हेतूनामभावात् साम्प्रत किल
वेदस्मृति पुराणानामर्था सर्वहि बाधिता।

यथावत् अनुष्ठान का परिज्ञान न होने से मुख्य पुरुषार्थ की ससिद्धि में अन्तराय आजाता है, एतावता किसी ऐसे प्रमेय बल से परिपुष्ट हो। ऐसे प्रबल प्रमाण की आवश्यकता है, जो असहायशूर होकर मानवमात्र का समुद्धार कर सके। भागवत में वर्णित महात्म्य के अनुसार यही एक ऐसा शास्त्र है जो कलिकालादि सभी की उपेक्षा कर प्रयोजन की पूर्ति करा सकता है। कारण कि इसमें प्रमेय स्वरूप श्रीप्रभु का स्वरूप तेज अधिष्ठित है। कर्म और ज्ञान के लिये असामयिक इस कलि में तो प्रस्तुत सात्वतसंहिता का ही बोलबाला है। इसकी कथा सुन कर तो ज्ञान वैराग्य भक्ति का त्रिक भी तरुण हो गया था। स्वधाम में पधारते समय भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धव की प्रार्थना पर अपना तेज इस शास्त्र में प्रतिष्ठित किया था।

श्रीभागवत सर्व वेदों का सार है, रस है, यह निगम कल्पतरु का परिपक्व फल है और शुक के मुख से सस्पृष्ट हो जाने के कारण तो भक्ति रस से सराबोर होकर अमृत को तिरस्कृत कर देने वाला हो गया है। इसके अनुशीलनानन्द के आगे तो निर्वाण लवण जैसा खार लगता है। श्रीवल्लभाचार्य का कथन है कि— 'निगम कल्पतरोर्गलित फल" कहने में काव्य के अनुसार यहां रूपक का वर्णन नहीं किया गया है, प्रत्युत अक्षरात्मक व्यापि वैकुण्ठ में प्रणव बीज से उत्पन्न वेदरूप पादप है। व्याम रूप में जब भगवदवतार हुआ अथवा आदि नारायण का प्राकट्य हुआ तब मूर्तिमान् यह उसका रसात्मक फल इसलिये भूतल पर लाया गया कि इससे यावन्मात्र जनों का कल्याण हो। रसात्मक

वेद प्रतिपाद्य भगवान का रस भागवत में प्रकट हुआ है, यह निर्वीज दाडिम बीज के समान रस ही है, इसमें हेय अंश कुछ भी नहीं है।

भागवत का त्रिविध स्वरूप—

• परमात्मा द्वारा रचित सृष्टि दो प्रकार की है, एक रूप सृष्टि दूसरी नाम सृष्टि। जिस प्रकार भगवान का स्वरूप सौंदर्य सर्वत्र ब्रह्मांड में लक्षित होता है, फिर भी उसकी पराकाष्ठा श्रीकृष्णावतार में ही उनके श्रीविग्रह से ही मूर्तिमान हुई थी, उसी प्रकार सर्व शास्त्रों में विप्र-कीर्ण होने पर भी नामसृष्टि के सौंदर्य की ऐकान्तिक परमावधि भागवत शास्त्र में ही दृष्टिगोचर होती है। भगवन्नामात्मक श्रीभागवत का स्वरूप तीन प्रकार का है:—

१ आधिभौतिक स्वरूप—अठारह हजार श्लोक, द्वादश स्कंध और ३३२ अध्यायात्मक होकर जो शास्त्र स्वरूप है। इसकी दशम स्कंध की १२ वीं, १३ वीं और १४ वीं अध्याय प्रक्षिप्त मानी गई है, वैसे ३३५ अध्याय हैं। अधिकांश आचार्य इसी रूप में इसे परिगृहीत करते हैं। आधिभौतिक पुस्तक रूप में दैवी भावना के साथ इसका पूजन होता है, जो कल्याणप्रद है।

२. आध्यात्मिक स्वरूप— जिसका 'निगम कल्पतरो' इस श्लोक से प्रतिपादन है और जो सर्ग विसर्ग आदि दशविध भगवल्लीलाओं का वर्णनात्मक आधार है। गायत्री इसका बीज, वेद वृक्ष और स्वयं फल है।

३. आधिदैविक स्वरूप—भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात् तेज स्वरूप श्रीअङ्ग, जिसके द्वादश स्कंध १२ अङ्ग है। प्रति दो-दो स्कंधों में भगवान के ६ गुणों का वर्णन होने से धर्म रूप और स्वयं साक्षात् धर्मी रूप है।

(भागवत के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि वह लोक दृष्टि से एक शास्त्र है, ग्रन्थ है। पौराणिक की दृष्टि में महापुराण है, वेदान्तियों की दृष्टि में परमहंस संहिता है, भक्तों की दृष्टि में सात्वत-संहिता है तो तत्वज्ञों की दृष्टि में समाधिभाषा है और वैष्णवों की दृष्टि में भगवान

द्वादश अङ्गों के रूप में दर्शन करते हैं। इस भावना से निम्नलिखित स्पष्टीकरण होता है:—

स्कन्ध	लीला	श्रीअङ्ग का अभिधेय
प्रथम	अधिकार	दक्षिण चरण
द्वितीय	ज्ञान	वाम चरण
तृतीय	सर्ग १	दक्षिण बाहु
चतुर्थ	विसर्ग २	वाम बाहु
पञ्चम	स्थिति ३	दक्षिण सक्थि
षष्ठ	पोषण ४	वाम सक्थि
सप्तम	ऊति ५	दक्षिण हस्त
अष्टम	मन्वतंर ६	दक्षिण स्तन
नवम	ईशानुकथा ७	वाम स्तन
दशम	निरोध ८	हृदय
एकादश	मुक्ति ९	मस्तक
द्वादश	आश्रय १०	वाम हस्त

इस प्रकार श्रीअङ्ग-विन्यास का दर्शन श्रीनाथद्वारा में विराजमान श्रीगोवर्द्धनोद्धरण के स्वरूप में आज भी होते हैं। एतावता श्रीआचार्य वल्लभ "इतीदं द्वादश स्कन्ध पुराणं हरिरेव स." यह कर उन दोनों के स्वरूप की एकाकारता दिखलाते हैं। (भाग० त० नि० कारिका ६ से ९....)

प्रामाण्य—

शुद्धाद्वैत सिद्धांत की शाब्दिक प्रमाण-गणना में श्रीभागवत को तुरीयता प्राप्त है। श्रीवल्लभाचार्य ने जैसा प्रथम कहा जा चुका है प्रमाण चतुष्टय में वेद, श्रीकृष्णवाक्य, व्याससूत्र के बाद भागवत की समाधि भाषा को स्वीकार किया है। इस प्रकार भागवत को यद्यपि चतुर्थता मिली है फिर भी वह अद्वितीय है। कारण कि उक्त प्रमाणचतुष्टय में पूर्व-पूर्व की सन्देह-विनिवृत्ति के लिये उत्तरोत्तर को गौरव दिया गया है, और इस प्रकार भागवत को सर्व सन्देह वारकता प्राप्त हो जाने से यह सर्वशास्त्र मूर्धन्य और परम प्रमाण रूप में सबसे आगे प्रतिष्ठित होजाती है। वैष्णवता की दृष्टि से तो यही सब कुछ है।

आर्य-संस्कृति में वेदानुयायियों में यद्यपि सभी सिद्धान्तवादियों की भागवत के प्रति वही निष्ठा है जो परम भागवतों की है, तथापि श्रीवल्लभाचार्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रस्थान-ग्रन्थों में इसका उद्घोष नहीं करते। ज्ञान के ऊपर भी एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने वाली भक्ति से या तो वे भय खाते हैं, या भागवत के समन्वयात्मक रूप को वे भूले हुए हैं। इसमें प्रथम हेतु ही अधिक उपयुक्त जंचता है। श्रीवल्लभाचार्य ने भागवत को परम आप्त वाक्य मान कर जो निष्ठा प्रकट की है, वह सर्वोपरि है, जैसा कि अन्यत्र कथित उद्धरणों से व्यक्त होगा।

श्रीवल्लभाचार्य ने तात्त्विक परिज्ञान और ब्रह्म-स्वरूप के अवगाहन में श्रीभागवत की समाधिभाषा को प्रमाण माना है। भागवत में तीन भाषाएँ हैं। (१) लौकिक भाषा, (२) परमत भाषा और (३) समाधि भाषा। लौकिक भाषा में लोक सामान्य वर्णन होने के कारण उससे चमत्कृति या काव्य-रस पुष्टि के सिवाय और कुछ तत्त्व सिद्ध नहीं होता, वह स्वतः परमुखापेक्षी हो जाती है। परमत भाषा तो स्पष्ट ही अन्य मतों का व्याख्यान करने के कारण एकदेशीय मत है, व्यास का अभिप्रेत मत नहीं। अतः पारिशेष्यात् समाधि भाषा ही-जिसमें महामुनि ने यथार्थ दर्शन किया है—प्रमाण सिद्धि होती है। फलतः निःस्वार्थ, निर्बाध सर्वार्थपरिबृंहित होने से भागवत पूर्णरीत्या प्रमाण मानी जाती है।

आचार्य ने कहा है—

"वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।
उत्तर पूर्व सन्देह वारकं परिकीर्तितम्।" शा० नि० तत्व०

प्रस्तुत कारिका के तत्त्वदीप-प्रकाश, आवरण भङ्ग अथच योजना के सामञ्जस्य से यह जाना जा सकता है, कि-भागवत के किसी एक अंश को ही आचार्य प्रमाण नहीं मानते प्रत्युत समग्र भागवत को ही। भागवत-निबन्ध में स्वयं ही उन्होंने कहा है—"तत्रोत्सर्गतः सर्वासमाधिभाषेति" इसका आशय इस प्रकार है। "सम्पूर्ण भागवत जिस तत्त्व का परिकीर्तन करती है, वह सब प्रमेय व्यास ने स्वयं

समाधि में अधिगत किया है। उसका साक्षात् दर्शन किया है। "अपश्यत् पुरुष पूर्णम्" इत्यादि वाक्यों से इसका उल्लेख है। पूर्ण-पुरुषोत्तम के दर्शन के अनन्तर सर्वपदार्थ विषयक यथावत् ज्ञान व्यास को हो गया। जैसा कि श्रुति में कहा है—"यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवतीति"। तब समस्त पदार्थावबोध हो जाने पर जो प्रमाण लोकरीति सिद्ध और परमत सिद्ध था उसका भी उन्होंने समाधि में अनुभव किया था। अत: समाधि में अनुभूत होने के कारण सभी भागवत समाधिभाषा हैं। इसके बीच में लौकिक और परमत रूप से जितने अंश का उन्हें अनुभव हुआ, उतना अंश 'लौकिक' और 'परमत' कहा जाता है।"

"फिर भी स्वयं व्यास के—भाषास्तु त्रिविधा प्रोक्ता" इस कथन से कुछ भाग विशेष समाधि-भाषा का सिद्ध होता है। यह तीनों भाषाएँ प्रमाण गणना में आती हैं, क्योंकि यह भी मिथ्यार्थ का प्रतिपादन नहीं करती। ब्रह्म नानावादानुरोधि है, और लोक उसका लीला-क्षेत्र है। प्रमाण की जहाँ परिभाषा है वहाँ कहा जाता है कि—वह अबाधित और अनधिगत अर्थ का प्रतिपादक होना चाहिये" इस हिसाब से लौकिक और परमत दोनों भाषाओं में यह लक्षण घटित नहीं होता। क्योंकि लौकिक भाषा लोकरीति से ही और परमत भाषा पर रीति से ही अभिप्राय व्यक्त करती है, उसमें कुछ मौलिकता नहीं होती। यह दोनों भाषाएँ समाधिभाषा की पोषिकाएँ हैं, अत मुख्य प्रामाण्य होने से कोई इनका महत्व सिद्ध नहीं होता।

मान्यता—

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में भागवत के लिये किस प्रकार की मान्यता प्रचलित है, इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—श्रीवल्लभाचार्य ने स्वकीय ग्रन्थों में कहा है—

१ विचार और चिंतन के बिना भी श्रीभागवत के श्रवण मात्र से ईश्वर हृदयारूढ हो जाता है, इससे भागवत सर्वोत्कृष्ट है। [भा० प्र० १, ५ सुबो०]

२ भागवत साक्षात् निगम कल्पतरु का परिपक्व फल है, इसके अमृत को भी तुच्छ कर देने वाले भक्तिरस का सदा पान करना

चाहिये। यह शुक के मुख सस्पर्श से और भी अधिक मधुर हो गया है। [भा० प्र० १, ३, सु०]

३ भागवत का स्वरूपोत्कर्ष निम्न चार बातों से सिद्ध है:—

(क) प्रमेय रूप से--जिस प्रकार भगवान् स्वभक्तों के प्रति असाधारण अनुभाव रखते हैं, भागवत भी स्वकीय चिन्तकों के प्रति उसी प्रकार अनुभावमय है, क्योंकि वह भगवद्रूप है।

(ख) प्रमाण रूप से-यह निखिल निगमागम का सार है, जिस प्रकार सर्वप्रमाण मूर्धन्य वेद परमात्मा का प्रतिपादन करता है उसी प्रकार भागवत भी प्रमेय-साधक प्रमाण है।

(ग) असाधारणता से-भागवत जैसा रस अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होगा।

(घ) साधनोत्तमता से—भागवत अध्यात्मदीप है। अन्य साधनों में तो परावलम्बी भाव होता है, यह दीप होने के कारण स्वयं आत्म परमात्म तत्त्व का प्रकाशक है, सर्व सुलभ है।

४ सर्वभय का निरर्थक सायुज्य, वैदिक या भागवत प्रकार से ही अधिगत हो सकता है। पर वैदिक प्रकार तो त्रैवर्णिक मात्र से ही उपादेय है, उन्हीं तक सीमित है, भागवत प्रकार से सायुज्य सबके लिये सुलभ है। [भा० द्वि० १, ७, सु०]

५ विशेषत कलि मे धर्म के साधक छै अङ्ग—देश, काल, द्रव्य आदि शुद्धतया दुर्लभ हो गये हैं, अत धर्माचरण से सिद्धि यद्यपि असभव है तथापि धर्म शास्त्र के अनुसार ही आचरण करना आवश्यक है, इसम भी यदि भागवत का आश्रय लिया जाय तो उद्धार और सफलता अवश्य मिलती है-["सर्व नि० नि० कारिका -२४]

६ वेद और गीता में जिस धर्म का वर्णन है उसी को वेदव्यास ने सर्व निर्णय पूर्वक भागवत में कहा है। समाधि से अनुभूत ज्ञान होने के कारण और इसम भक्ति के सम्मिश्रण से उस धर्म का आचरण करने पर पतित होने का भय नहीं है, क्योंकि इसमें सर्वभय मोचक और विश्वोद्धार-परायण श्रीहरि का अनुपम प्रसङ्ग वर्णित है। वर्णाश्रम धर्म आदि की अपेक्षा भागवत धर्म निरापद है। [सर्व० नि० नि० -३७, ३४]

७. नित्य श्री भागवत के पाठ से श्रीप्रभु की भक्ति सिद्ध होती है जो सर्वमनोरथ साधक है। [सर्व० नि० नि० वा० २४४]

८. श्रीभागवत का वृत्ति के लिये उपयोग नहीं करना चाहिए। यह आग्रह इस प्रकार का होना चाहिये कि प्राण सङ्कट में हों तो भी एतदर्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। सद्भावना से श्रवण कराने पर वह स्वयं वृत्ति की परिपूर्ति कर देती है। [सर्व० नि० नि० २६६, ६६७]

साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः।" [सर्व० नि० २२५]

निष्काम और निर्दम्भ भागवतानुष्ठान परमोत्कृष्ट भगवत्प्राप्ति का साधन है।

९. भागवत के द्वारा प्राप्त होने वाले फल का क्रम एक प्रकार से यह है--सर्वसन्देह राहित्य, सर्वत्र निर्भयता, परम प्रेम, भगवत्कृपा, और साक्षात् भगवत्प्रवेश--[भाग० नि० २२]

१०. भगवान् श्रीकृष्ण जब तक भूमंडल पर व्यक्तरूप में लीला करते रहे, उनके स्वरूप सामर्थ्य से ही सबका उद्धार होता रहा। उस समय साधन की परमावश्यकता नहीं थी। पर जब वे स्वधाम पधारे तब जीवों का संसारभय से त्राता कोई नहीं रहा, एतदर्थ उनके नामात्मक श्रीभागवत का प्रादुर्भाव हुआ, कृपा कर उन्होंने श्रीभागवत में स्वकीय तेज प्रतिष्ठित किया और तब से भागवत द्वारा उद्धार का मार्ग खुला। सर्व प्रथम इसका उदाहरण राजा परीक्षित का प्रसङ्ग है- (भाग० नि० का० ८९)

११. जगतीतल में द्विविध जीव हैं, एक निवृत्तिपरायण दूसरे प्रवृत्तिपरायण। प्रथम कोटि के जीव तो स्वत. भगवच्चरित्र-श्रवण में संलग्न रहते हैं, क्योंकि भगवान् का स्वरूप ही इसी प्रकार का है। कहा गया है--

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे
कुर्वन्त्यहेतुकीं भक्ति मित्थम्भूत गुणो हरिः। [भा०....]

परन्तु प्रवृत्ति परायण जीव भगवान के प्रति आकृष्ट न होकर

विषयों के प्रति आकृष्ट होते हैं। उन्हें जो विषय रुचता है, जहाँ उन्हें अधिक स्वाद आता है उसी ओर उनका रिझान होने लगता है। वे हीन विषय का परित्याग कर उत्कृष्ट की तरफ खिंचने लगते हैं। इसी धारणा को लेकर श्रीभागवत में विषय रूप से भगवच्चरित्र प्रतिपादित किया गया है, और मोक्ष को उसका प्रयोजन नहीं बताया गया है। जीवन्मुक्त व्यास, नारद, शुक आदि की भी इसी ओर सहज प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। अतः यह भागवत निवृत्तिपरायण और प्रवृत्ति परायण दोनों प्रकार के जीवों के आकर्षण का सहज मार्ग है—(भा०नि० प्र० ८१, ८३)

१२. भागवत भगवान् द्वारा ही आविर्भूत की गई है। क्योंकि उनका स्वरूप वे ही जान सकते हैं। जैसा कि गीता में कहा गया है—'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम''। इस धारणा को लेकर ''भगवत' इदं भागवतम्'' इस व्युत्पत्ति के साथ ''भगवताप्रोक्त'' ऐसी भी इसकी व्युत्पत्ति होती है। यद्यपि गीता भी भगवत्प्रोक्त है पर वह उपदेश है, पुराण नहीं है। भागवत साक्षात्स्वरूप प्रतिपादक पुराण है, इसमें भगवत्प्रोक्त उपदेश भी हैं। (भा० नि० तृ० स्क का० ४४ ..) आदि।

समाधिभाषा–[भागवत] पर शु० साहित्य —

शुद्धाद्वैत की सैद्धान्तिक दृष्टि को समझने के लिये भागवत पर निम्नलिखित ग्रंथों का प्रणयन किया गया है—

१. भागवतार्थ निबन्ध—यह ग्रन्थ श्रीवल्लभाचार्य विरचित तत्त्वार्थ दीप निबन्ध के अन्तर्गत तृतीय प्रकरण है जो-भागवत के अभिप्राय-परिज्ञानार्थ निर्मित हुआ है—आवश्यक उपलब्ध साहित्य के साथ प्रकाशित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कारिकाओं द्वारा प्रतिपाद्य विषय का निर्देश है और उसके आशय के लिये स्वय ग्रन्थकार ने 'प्रकाश' नामक टीका की संयोजना की है। इसमें लगभग दो हजार कारिकाएँ हैं, जिनका विषय की गंभीरता से सूत्रात्मक होने के कारण समझना कठिन-सा था। कहते हैं आचार्य चरण के निकटवर्ती शिष्यवर्गीय माधव भट्ट, गदाधर भट्ट, पद्मनाभ भट्ट, हरिहर भट्ट, ब्रह्मानन्द, कृष्णचन्द्र और दामोदर दास जी की प्रार्थना पर 'प्रकाश' की रचना की गई थी।

'प्रकाश' टीका प्रारम्भ से लेकर चतुर्थ स्कन्ध की ३३ वीं कारिका तक रची गई है, और बाद में इनके आत्मज श्रीविट्ठलनाथ जी द्वारा पञ्चम स्कन्ध की समाप्ति पर्यन्त बनाई जा सकी। आगे द्वादश स्कन्ध तक कारिकाएँ ही हैं। पञ्चम स्कन्ध से लेकर समाप्ति तक श्रीपुरुषोत्तम जी ने 'निबन्ध-योजना' नाम से उसके अभाव की पूर्ति की। इस आन्तरिक विभाजन का ज्ञान श्रीपुरुषोत्तमजी के आवरण भंग से होता है।

ऐसा अनुमान होता है कि 'सुबोधिनी' की निर्मिति के बाद भागवत निबन्ध की रचना या पुनः सपादन किया गया है। "अन्योन्य निर्वाहकत्वञ्च टीकाया निरूपितम्।" [भाग० नि० कारिका द्वि० १८ द्वि०स्क० प्रकाश .] तथा-पूर्वमुक्तम् [वही तृ० स्क० का० १२७,१२८] इसका पुरुषोत्तमजी ने "सुबोधिन्या" ऐसा अर्थ किया है* यद्यपि अर्थ-विवेचन की पद्धति को देखते हुए इसकी रचना प्रथम और सुबोधिनी की बाद में होनी चाहिये पर विदित होता है कि सुबोधिनीप्रणयन के बाद पुन भागवतार्थ निबन्ध का सपादन किया गया होगा। और तदर्थ ऐसा निर्देश मिलता है।

सारस्वत कल्प में सर्वोद्धार प्रयत्नात्मरूप से भगवान श्रीकृष्ण ने प्रादुर्भूत होकर स्वकीय प्रमेय बल से ही जगत का उद्धार किया था। उनके समक्ष साधना की कोई महत्ता नहीं थी, जो लोग साधन-परायण थे, वे भी स्वरूप सामर्थ्य से शीघ्र सफल हो गये, पर जो नि साधन थे और साधनों का जिन्हे कोई परिज्ञान भी नहीं था वे भी सहसा भगवत्सम्मुख होते ही कृतार्थ होगये, अथवा स्वय प्रभु ने उनके सामने जाकर उनको कृपापीयूष से परिप्लावित कर दिया। परन्तु जब श्रीप्रभु ने अपनी भूलोक लीला का सवरण किया तब उद्धारोपाय की सुलभता के लिये उन्होंने श्रीभागवत में अपने तेज का प्रतिष्ठान किया। प्रमाणबल से उद्धार का युग आया, वेद व्यास द्वारा उसी सर्वोद्धार प्रयत्नात्मरूप भागवत का प्रणयन या आविर्भाव हुआ। अत. भागवत निश्चित रूप में सभी के लिये अत्यन्त सुखकारी है।

---

*भाग निबन्ध कारिका १० के प्रकाश' से विदित होता है कि—सूक्ष्म टीका की रचना भी इस निब ध रचना के पूर्व हुई है।

भागवत के अर्थपरिज्ञान से ही भगवद्रूप हृदय में सुस्थिर हो सकता है। परन्तु यह अर्थ वास्तविक रूप में होना चाहिये। ऐसा सोच कर श्रीवल्लभाचार्य चरण ने भागवतार्थ तत्त्वदीप-निबन्ध की रचना की है और इस सांगोपांगता के लिये उन्होंने पूर्व उपोक्रम रूप में 'शास्त्रार्थ' और 'सर्व निर्णय' नामक निबन्ध द्वय की—[शा० नि० प्र० या० १, २]

देखा जाय तो वास्तव में भागवतार्थ निबन्ध के लिये ही उक्त निबन्धद्वय की रचना हुई है। शास्त्रार्थ निबन्ध में सिद्धान्ततः कुछ तत्त्वों का स्वरूप परिदर्शन करा कर एक प्रणाली स्थापित की गई है, और सर्व निर्णय निबन्ध की रचना पर प्रमाण, प्रमेय, साधन तथा फल का विवेचन किया है। सर्व निर्णय में साधन के पूर्व फल का कथन है क्योंकि भागवत ही परम साधन रूप है, अत. उसे अन्त में रक्खा गया है। फल की उत्कृष्टता होने पर भी साधन की विशिष्टता पुष्टिमार्ग में अङ्गीकार की गई है। चिन्तामणि और कल्पवृक्ष साधन हैं और उनसे प्राप्त पदार्थ फल, तथापि वे साधन क्यों न महत्त्वपूर्ण हों जिनसे अनन्त फलों का सतत लाभ मिलता रहता हो। इस लाभात्मक दृष्टि में साधन और फल दोनों को एक रूप ही माना जाता है, और ऐसा स्वीकार करने पर श्रीभागवत साधनता और फलरूपता दोनों प्राप्त कर लेती है – तत्त्वार्थ-दीप निबन्ध की प्रथन शैली में साधन को फलरूपता प्रदान करते हुए भागवतार्थ निबन्ध की रचना प्रस्तुत की गई है।

जैसा कि नाम से परिज्ञात है भागवत के अर्थावगति के लिए इसमें १ शास्त्रार्थ, २ स्कन्धार्थ, ३ प्रकरणार्थ और ४ अध्यायार्थ का निरूपण किया गया है। ५ वाक्यार्थ, ६ पदार्थ तथा ७ अक्षरार्थ का सुबोधिनी में विचार है।

भागवतार्थ प्रकरण-निबंध-के ऊपर निम्नलिखित साहित्य है— .

१. भागवतार्थ—प्रकाश—आवरणभंग—यह आवरण भङ्ग टीका अन्य प्रकरणद्वय की भाँति इस निबन्ध पर भी श्रीपुरुषोत्तमजी ने बनाई है। प्रकाशित स० १९६१।

यह विवरण आचार्यकृत प्रकाश के आशय को समझाने के लिये

श्रीवल्लभाचार्य ने भागवत के सात अर्थों को एक सूत्र मे निरुद्ध कर सिद्धान्त और परब्रह्म श्रीकृष्ण की रसस्वरूपिणी लीलाओं का वर्णन किया है। उनका कथन है—

"(१) शास्त्रे (२) स्कन्धे (३) प्रकरणे (४) ऽध्याये
(५) वाक्ये (६) पदे (७) ऽक्षरे।
एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन, मुच्यते॥"

अर्थात् श्रीभागवत मे सात अवान्तर विभागो के परिज्ञान से अर्थावबोध करना चाहिये। उसमे सम्पूर्ण शास्त्र का अर्थ, उसके स्कन्धो का अर्थ, स्कन्धो के अन्तर विद्यमान प्रकरणों का अर्थ, और प्रत्येक प्रकरण के अध्यायों का अर्थ उसके मध्य मे गुम्फित वाक्य-श्लोकों का अर्थ, वाक्यान्त पाती पदों का अर्थ, अथच पदान्तर्वर्ती अक्षरों का अर्थ-परिज्ञान होना परमावश्यक है। जब तक शास्त्रार्थादि सातों अर्थों को एकरूपता से अविरोध से-जाना न जायगा उसका स्वारस्य प्रकट न होगा। एकार्थ रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण ही अविरोध से सात स्वरूप है और माता एक स्वरूप है, इस प्रकार का परिज्ञाता ही मुक्ति का अधिकारी होता है।

(१) **शास्त्रार्थ**—जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है —भागवत प्रमेय स्वरूप श्रीकृष्ण ही है। परमपुरुष, श्रुति के कथनानुसार द्वादश अङ्ग है। सो भागवत साक्षात् परमात्म स्वरूप है, यह सिद्ध होता है।

"इतीद्द द्वादश स्कन्धपुराणहरिरेव स।
पुराणहरे स्वरूपशब्दतो अयत च॥"

सो इस भगवत् स्वरूप का प्रतिपादन करना ही इस शास्त्र का मुख्य अर्थ है।

भगवत्स्वरूप विविधि लीलाओं से जाना जा सकता है। किसी वस्तु को समझने के लिये दो प्रकार के मुख्य लक्षण होते हैं—१ कार्य लक्षण, २ स्वरूप लक्षण। किसी वस्तु को कार्य से पहिचानना या स्वरूप से। अलौकिक ब्रह्म जो प्राकृत इन्द्रिया से ग्राह्य नहीं है, अपनी इच्छा से ही ग्राह्य है कार्य मे ही पहिचाना जा सकता है। अत परमात्मा के ज्ञान के लिये उसकी कार्यपद्धति या लीलापरिकर का निरूपण होना चाहिये तदर्थ भागवत में उसकी सर्ग विसर्ग आदि दश

विध लीलाओं का दिग्दर्शन कराया गया है। अतः सांगोपाङ्ग इस स्वरूप का साक्षात् कराना ही भागवत का लक्ष्य है और एतदर्थ ही इस शास्त्र की प्रवृत्ति है। एतावता यही इसका संक्षिप्त शास्त्रार्थ है। योग की ध्यान-परिपाटी में ईश्वर की चिन्तना के विषय में स्वयं भागवत ने कहा है--

"अदीन लीला हसितेक्षणो ल्लसद् भ्रूभंग संसूचित भूर्यनुग्रहम्।
ईक्षेती चिन्तामय मेन मीश्वरं यावन्मानो धारणया वतिष्ठते॥"
भा० द्वि० २, १२।

इस श्लोक की सुबोधिनी में श्रीवल्लभाचार्य ने 'अदीन लीला' आदि दस विशेषणों से भागवत की तृतीय से लेकर द्वादश स्कन्ध पर्यन्त दश लीलाओं का संकेत किया है क्योंकि वे भगवान् और भागवत के रूप में कोई अन्तर नहीं देखते। विस्तार भय से यहाँ उसका कथन नहीं किया गया है। श्लोक की प्रथम अर्द्धाली का एक-एक शब्द एक-एक लीला का बोधक है।

(२) स्कन्धार्थ—पुराण के लक्षणानुसार महापुराण भागवत में सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय इन दस लीलाओं का कथन है। लीलाओं के श्रवण करने का अधिकार किसे है? उसकी योग्यता कैसी अपेक्षित है?, उसमें क्या गुण होना चाहिये? आदि सहज जिज्ञासा होती है अतः किसी स्थान पर इसका भी निरूपण अपेक्षित है। इसके साथ ही श्रोता के लिये किन-किन साधनों की अपेक्षा होती है?, कौन से अङ्ग आवश्यक है?, यह भी विचारणीय है, और यह बातें प्रथम ही जाननी चाहिये। एतावता यह सब भागवत के द्वादश स्कन्धों में निरूपित हुआ है। फलत: प्रथम में अधिकारी का द्वितीय में साधन का और तृतीय से लेकर द्वादश तक सर्ग आदि दशविध लीलाओं का सविस्तर प्रतिपादन है। इस प्रकार द्वादश लीलाओं का कथन भागवत के १२ स्कन्धों में है।

इन प्रत्येक स्कन्धों का कार्य कारण सम्बन्ध है, पूर्व स्कन्ध उत्तर स्कन्ध का कारण अथवा साधन है। यद्यपि प्रत्येक में पृथक्-पृथक् बातों का कथन है तथापि वे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. अधिकारी का निरूपण प्रथम स्कन्ध में है।

२. वे अधिकारी साधन सम्पन्न होने चाहिये। साधन युक्त पुरुष ही लीलाश्रवण कर सकते हैं, अतः श्रवण का अङ्ग का निरूपण द्वितीय स्कन्धार्थ है।

३. *प्रथम लीला सर्ग-सृष्टि है, अतः तृ० में उसका कथन है।*

४. सृष्टि में जीव ही मुख्य हैं, अतः सृष्टि-जीवों के विसर्ग धर्मादिपुरुषार्थ का वर्णन चतुर्थ स्कन्ध में कहा गया है।

५. पुरुषार्थ सिद्ध पुरुषों को उन-उन की मर्यादा के साथ सस्थापित करना। स्थान, पंचम स्कन्ध का अर्थ है।

६. मर्यादास्थित जीवों में से किन्हीं पर अनुग्रह-पुष्टि करना षष्ठ का अभिप्राय है।

७. जो पुष्ट हैं उनके वैषम्य दोष की विनिवृत्ति के अर्थ वासनाओं —ऊति—का निरूपण सप्तम स्कन्धार्थ है।

८. वासना की निवृत्ति के लिये जिन सद्धर्मों की उपादेयता होती है वे अष्टम में कहे गये हैं।

९. निवृत्तदोष और सद्धर्म परायण भक्तों का चरित्र नवम स्क० में कहा गया है जिससे उनका स्वरूप जाना जा सके।

१०, भक्तों की आसक्ति-निरोध-भगवान् में होता है, अतः दशम में उनके स्वरूपबोधार्थ श्रीकृष्ण के चरित्रों का प्रतिपादन हुआ है।

११. आसक्त जीवों की स्वरूप व्यवस्थिति रूप मुक्ति का एकादश में।

१२. व्यवस्थितों का भगवदाश्रय द्वादश स्कन्धार्थ है।

इस प्रकार समग्र द्वादश स्कन्ध एक दूसरे से पूर्णतया सम्बद्ध हैं।

'भागवत-निबन्ध' में सात अर्थों में से प्रथम चार शास्त्रार्थ, प्रकरणार्थ, स्कन्धार्थ और अध्यायार्थ का प्रतिपादन किया गया है:— तदनन्तर अन्य तीन वाक्य (श्लोक), पद और अक्षरों का अर्थ सुबोधिनी में स्पष्टतया कहा गया है।

(३) प्रकरणार्थ-और (४) अध्यायार्थ—स्कन्धार्थ तदन्तर्गत प्रकरणार्थ तथा तदन्तःपाती अध्यायार्थ पर गोष्ठीशाल श्रीघनश्याम भट्ट ने 'भागवत-प्रकरण-विभाग' में अच्छा प्रकाश डाला है: —जो स्कन्धों के अनुसार इस प्रकार है:—

१ –प्रथम स्कन्धार्थ। अधिकारि—श्रोता वक्ता का निरूपण (१६ अध्याय)।

अधिकारी

प्रकरणार्थ—	क. साधारणाधिकारी	ख—मध्यमाधिकारी	ग—उत्तमाधि०
	(अध्याय १, २, ३)	(अ० ४, ५, ६,)	(अ० ७ से १६)
	३	३	१३

क. प्रकरण साधारणाधिकारि-निरूपण—

१ अध्याय में—श्रोता के जिज्ञासुत्व और वक्ता के श्रुतभागवतत्व का वर्णन है।

२ अध्याय में—श्रोता के मात्सर्यराहित्य और वक्ता को चातुर्यत्व गुण का कथन है।

३ अध्याय मे—श्रोता की श्रवण प्रीति और वक्ता के गुह्यज्ञानत्त्व का कथन है।

ख. प्रकरण—मध्यमाधिकारि-निरूपण—

४ अध्याय में—श्रोता और वक्ता को भगवत्कृपा का वर्णन है।

५ अध्याय मे—श्रोता वक्ता दोनों के भगवदीयत्व का वर्णन है।

६ अध्याय में—श्रोता और वक्ता दोनों के भगवदेकत्व का वर्णन है

ग. प्रकरण—उत्तमाधिकारि-निरूपण—

७ अध्याय से } चरण २, हस्त २, जानु २, बाहु २, स्तन २,
१६ अ० पर्यन्त } हृदय १, शिर १,

(१३—अ०) अंग और अंगी रूप से एक अधिक, इस प्रकार १३ अ० हैं।

अधिकारि– निरूपणात्मक प्रथम स्कन्ध में इस प्रकार प्रकरण विभाग है अधिकारी प्रथम मध्यम और उत्तम भेद से त्रिविध होते है, अत इस स्कन्ध म तीन प्रकरण है।

(क) साधारणाधिकारि—प्रकरण म श्रोता और वक्ता दोनों क समान गुणों का सकलन अपेक्षित है। जिसमें वक्ता के लिये जिज्ञासुत्व, अमात्सर्य और अवणादर यह तीन गुण अवश्यमेव अपेक्षित हैं, इसी प्रकार श्रोता के लिये श्रुतभागवतत्व, चातुर्य और गुणज्ञानवत्ता यह अपेक्षित है, इस लिये एक एक अध्याय म इनका उक्त रूप म कथन है। एतदर्थ तीन अध्याय इस प्रकरण म विद्यमान ह।

(ख.) मध्यमाधिकारि—प्रकरण म भी इसी प्रकार श्रोता वक्ता के तीन तीन गुण अपेक्षित हैं, जिन्ह एक एक अध्याय के द्वारा कहा गया है। श्रोता के गुण हैं १ भगवत्कृपा, २ भगवदीयत्व, ३ भगवदेकता नत्व। यही वक्ता के लिये परमापेक्षित है। अत तीन अध्यायों से इस प्रकरण की समाप्ति है।

(ग) उत्तमाधिकारि-प्रकरण में दृढ वैराग्यस्य की अपेक्षा होती है, और वह भगवदेकतानता से सिद्ध होती है। भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप होने से उनके द्वादश अगों का तथा अङ्गीरूप से उन के आधिक्य के लिये एक और इस प्रकार तेरह अध्यायों में इस प्रकरण की समाप्ति होती है।

इस प्रकार तीन प्रकरण और १६ अध्यायों में अधिकारि-निरूपणात्मक प्रथम स्कन्ध का प्रतिपादन है।

२—द्वितीय स्कन्धार्थ-साधन-निरूपण। (१० अध्याय)

साधन

प्रकरण	क-तत्त्वध्यान	ख-हृत्प्रसाद	ग-भजन
३	(अध्याय १, २)	(अ० ३, ४)	(अ० ५ से १०)
	२	२	६

क—प्रकरण—तत्त्वध्यान–निरूपण

१ अध्याय में—स्थूल ध्यान का निरूपण है।

२ अध्याय में—सूक्ष्म-स्वरूप-ध्यान का निरूपण है।

ख. प्रकरण हृत्प्रसाद निरूपण—

३ अध्याय में—श्रोता के हृत्प्रसाद का कथन है।
४ अध्याय में—वक्ता का हृत्प्रसाद वर्णित है।

ग. प्रकरण मनन-निरूपण दो प्रकार का होता है:—

१ उत्पत्ति से तीन अध्याय में—

५ अध्याय में—अनित्य में जनन वर्णन से—जड रूपतया
६ अध्याय में—परिच्छिन्न में समागम से—जीव रूपतया
७ अध्याय में—नित्य अपरिच्छिन्न में समागम से—भगवत्-प्राकट्यतया।

भगवत्प्राकट्य दो प्रकार का है (१) आवेश (२) अवतार

दो उत्पत्ति से तीन अध्याय में—

८ अध्याय मे आशंका—निरूपण।
९ अध्याय मे—उत्तर-कथन।
१० अध्याय में—फल-निरूपण।

इस प्रकार साधन निरूपणात्मक द्वितीय स्कन्ध मे प्रकरणीय विभाग हैं:—साधन, १ तत्वध्यान, २ हृत्प्रसाद, ३ मनन इस भेद से तीन प्रकार का है अतः यहाँ तीन प्रकरण और दस अध्याय हैं।

(क) तत्वध्यान स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का होता है। अत. इस प्रकरण में दो प्रकार की अपेक्षा है।

(ख) हृत्प्रसाद—हार्दिक प्रसन्नता-श्रद्धा रूप होती है। श्रद्धा भी श्रोता और वक्ता के सम्बन्ध से द्विविध अपेक्षित है अतः यहाँ भी दो अध्यायों से उसका कथन है।

(ग) मनन—उत्पत्ति और उपपत्ति के कारण दो रूप होता है और यह प्रत्येक जनन, समागम और प्राकट्य भेद से छः प्रकार का होता है, अत. यहाँ छै अध्यायों से इसका विवेचन है। मनन-जड (जिसका जनन होता है) जीव (जिसका समागम होता है) और

परमात्मा (जिसका प्राकट्य होता है) से सम्बन्धित है, एतावता इसमें षट् अध्याय हैं।

इस प्रकार द्वितीय स्कन्ध में तीन प्रकरण और दस अध्यायों से साधन-अङ्ग का प्रतिपादन मिलता है।

३. स्कन्धार्थ। सर्ग लीला निरूपण। (३३ अध्याय)

सर्ग

प्रकरण—क—लौकिक सर्ग	ख—अलौकिक सर्ग।
बन्धसृष्टि	मुक्ति सृष्टि
(अध्याय १ से १९)	(अ० २० से ३३)
(१९)	(१४)

क. प्रकरण—बन्ध सृष्टि—५ अवान्तर प्रकरण।

१—१ अ० से ६ तक गुणातीत सृष्टि का वर्णन है। (६ अध्याय)
२—७ अ० से ९ तक सगुण सृष्टि का वर्णन है। (३ अध्याय)
३—१० अ० से ११ तक काल-सृष्टि का कथन है। (२ अध्याय)
४—१२ अ० में सत्य सृष्टि का वर्णन है। (१ अध्याय)
५—१३ अ० से १९ तक जीव-सृष्टि उपोद्घात है। (७ अध्याय)

इस प्रकार १९ अध्यायों में पञ्चधा बन्ध-प्रकार से सृष्टि का निरूपण प्रथम प्रकरण में है। श्रीशुकाचार्य के अभिप्राय से यह प्रकरण विभाग है।

ख. प्रकरण—मुक्ति सृष्टि। ५ अवान्तर प्रकरण।

६—२० अ० से २४ तक तत्त्वमुक्ति का वर्णन है। (५ अध्याय)
७—२५ अ० में काल मुक्ति का कथन है (१ अध्याय)
८—२६ अ० से २७ तक गुणातीत मुक्ति का वर्णन है। (२ अध्याय)
९—२८ अ० में सगुण मुक्ति का वर्णन है। (१ अध्याय)
१०—२९ अ० से ३३ तक जीव-मुक्ति का कथन है। (५ अध्याय)

इस प्रकार १४ अध्यायों से मोक्ष-प्रकार से सृष्टि का द्वितीय प्रकरण में निरूपण है। यह शुकाचार्य के अभिप्राय से है।

मैत्रेय ऋषि के अभिप्राय से इस स्कन्ध मे १ अधिकार प्र० २ सृष्टि प्रकरण ३ उपपत्ति प्र० और ४ फल प्रकरण ऐसे चार और अवान्तर दश ही प्रकरण हैं। इसका विशेष विवरण घनश्याम भट्ट ने भागवत प्रकरण विभाग मे किया है।

सर्गादि दशविध लीलाऍं तृतीय से लेकर द्वादश तक दस स्कन्धों मे वर्णित की गई हैं। अब इस स्कन्ध मे सर्ग–सृष्टि-लीला का वर्णन है। सृष्टि लौकिक अलौकिक भेद से द्विविध है, अतः मुख्य दो प्रकरण हैं। यह दोनों सृष्टि तेतीस प्रकार की होती है। बृहदारण्यक के निर्देशानुसार ३३ देवता (द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र और आठ वसु) तथा इन्द्र और प्रजापति रूप से हैं, अत. इसमे ३३ अध्याय है। यह अलौकिक सृष्टि-भेद है।

लौकिक सृष्टि भी २८ तत्व और चतुर्विध भूतबीज और काल इस प्रकार ३३ प्रकार की होती है अत उसम भी यही अध्याय हैं।

लौकिक-सन्ध––सृष्टि में अवान्तर पाँच प्रकरण हैं, १ गुणातीत सृष्टि, २ सगुण सृष्टि, ३ काल सृष्टि . ४ मुक्त जीव सृष्टि, ५ मुक्त जीव सृष्टि उपोद्घात प्र०।

गुणातीत सृष्टि मे ६ अध्याय हैं, वह तत्व और कार्य भेद से द्विविध और प्रतिबन्ध निवृत्ति, शुद्धि, तीर्थाटन और भवदासक्ति इन चारों को मिला कर वर्णित करने से इसमें ६ अध्यायों की अपेक्षा है।

सगुण सृष्टि सात्विक, राजस, तामस त्रिविध भेद वाली है अत. इस प्रकरण म तीन अध्याय अपेक्षित हैं।

काल स्थूल और सूक्ष्म भेद मे द्विविध है अत. काल-सृष्टि प्रकरण मे दो अ० हैं।

मुक्त जीव-सृष्टि एक ही प्रकार की है अत एक ही अध्याय है।

मुक्तजीव-सृष्टि के उपोद्घात का वर्णन सात अध्यायों मे किया गया है।

इस प्रकार १६ अध्यायो मे सन्ध सृष्टि का विस्तार कहा गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है मुक्ति सृष्टि भी पाँच प्रकार की है, अत. इसमें भी पाँच प्रकरण हैं। और १७ अध्यायों से इसका निरूपण है।

तत्त्वमुक्ति के प्र० में पाँच अ० हैं। एक से मोक्ष के उपोद्घात का और चार से पुन्य-मुक्ति का प्रतिपादन हुआ है।

कालमुक्ति-निरूपण द्वारा मुख्य भक्ति का कथन है, जिसके लिये एक ही अध्याय है।

गुणातीत मुक्ति लीला निरूपण में दो अध्यायों से ज्ञान का निरूपण है।

सगुण मुक्ति लीला-प्रकरण में एक अध्याय से योग का निरूपण है।

जीवमुक्ति लीला-प्रकरण में पहिले एक अ० से योगशेषभूत भक्ति का नि० है। बाद दो अध्यायों से वैराग्य दो अध्यायों से की जीव मुक्ति का कथन है।

इस मुक्ति-सृष्टि-प्रकरण में १४ अध्यायों में प्रतिपादन है। इनमें वर्णित उपाख्यानों के अध्ययन से यह मत सहज ही समझ में आ जाता है। विस्तार भय से यहाँ प्रसंगों का नाम निर्देश नहीं किया गया है।

इस प्रकार सर्ग लीलारूप तृ० स्कन्ध के १६ अ० में १० प्रकरणों बन्ध और मुक्ति द्विविध सृष्टि का प्रतिपादन है।

४—चतुर्थ-स्कन्धार्थ विसर्ग निरूपण (३१ अध्याय)

विसर्ग—पुरुषार्थ

प्रकरण—	क—धर्म	ख—अर्थ	ग—काम	घ—मोक्ष
४	(अ० १ से ७)	(अ० ८ से १२)	(अ० १३ से २३)	(अ० २४ से ३१)
	७	५	११	८

१ प्रकरण—धर्म पुरुषार्थ।

१ अध्याय से ७ तक, १ अग्निष्टोम, २ उक्थ, ३ षोडशी, ४ अतिरात्र ५ आप्त, ६ अप्तोर्याम, ७ वाजपेय, सात धर्मों का वर्णन।

२ प्रकरण—अर्थ पुरुषार्थ।

८ अध्याय से १२ तक, १ साधन से, २ साध्य में, ३ सत्पदेश में ४ अ०   ४ दोषनिवृत्ति में, ५ फल प्राप्ति में।

३ प्रकरण—काम पुरुषार्थ।

१३ अ० से २३ तक,   अवान्तर ३ प्रकरण—

(११ अ०) १ पुरुषाविर्भाव प्र०, २ मर्यादा प्र०, ३ पद नाम प्र

जीव-जय ब्रह्म-जय

(अ० २५) (अ० २६)

२ स्थान शब्द के यौगिकार्थ–स्थिति–के अनुसार द्वि० पक्ष

स्थान–सर्वत्र स्थिति

क–देशस्थिति ख–कालस्थिति ग–आत्मस्थिति

भू' भुवः स्वः। मास ऋतु लोक आदित्य। जीवात्मा परमात्मा

३ १२ ४ ३ १२ २

स्थान स्थिति

क–स्वरूप-स्थिति ख–देश-स्थिति

(३ प्रकरण) (३ प्रकरण)

१. अध्याय १ से ६ भगवान से स्थिति का वर्णन है।
२. अध्याय ७ से १४ योग से स्थिति का वर्णन है।
३. अध्याय १५ में ज्ञान से स्थिति का वर्णन है।

ख–देश-स्थिति

४. अध्याय १६ से २० भू स्थिति का वर्णन है।
५. अध्याय २१ से २३ भुवः स्थिति का वर्णन है।
६. अध्याय २४ से २६ स्वः स्थिति का वर्ण...

स्थान शब्द के दो अर्थ होते हैं (१) "...
अनुसार भगवान की सर्वत्र विजय, और (२ ...
स्थानम्'' के अनुसार सर्वत्र स्थिति। अतः यह...
किया जाता है।

प्रथम पक्ष—विजय करने का...
भगवान् प्रत्येक पदार्थ को अपनी-अपनी...
करते हैं। यह पदार्थ प्राकृत और अप्राकृत ...

प्राकृत पदार्थ २४ हैं, अतः प्रत्येक...

२४ अध्याय है, और अप्राकृत पदार्थ जीव तथा ब्रह्म रूप से द्विविध है, एतावता दोनों को मिला कर २६ अध्याय में इस विजय का प्रतिपादन है।

द्वितीय पक्ष—स्थिति करने का तात्पर्य उन-उन तत्वों में जिनसे सृष्टि है स्वकीय विद्यमानता—सत्ता का प्रवेश करना है। देश तीन प्रकार के हैं, जो लोकात्मक है। इसलिये तीन अध्याय इसमें अपेक्षित हैं। १२ मास, ५ ऋतु ३ लोक—ज्योतिर्मय। १ आदित्य और २ जीवात्मा परमात्मा मिला कर २६ होते हैं। अतः प्रत्येक के लिये एक-एक अध्याय अपेक्षित है, जो इस स्कन्ध में २६ अध्याय हैं।

१. स्वरूप-स्थिति की दृष्टि से तीन प्रकरण हैं।

प्र० १ में भगवान् की स्वरूपस्थिति में १ से ६ अध्याय हैं। षड्गुणों से।

प्र० २ में ८ अध्याय हैं, जिनमें अष्टांग योग के द्वारा भगवान् की षड्गुण सम्पन्नता का उल्लेख है, अतः योग से स्थिति के लिये ७ से लेकर १४ तक आठ अध्याय हैं।

प्र० ३ में १५ वाँ एक अध्याय है जिसमें ज्ञान से स्थिति का वर्णन है, स्वरूप स्थिति में एकत्र १५ अध्याय हैं।

२. देश-स्थिति की दृष्टि से तीन प्रकरण हैं।

प्र० ४ में भूमि पंच भूत प्रधान होने से इस भू-प्रकरण में पांच अध्याय हैं, जो १६ से २० तक है।

प्र० ५ में भुवर्लोक में तीन गुणों का प्राधान्य होने से तन्निर्देशक २१, २२ २३ तीन अध्याय हैं।

प्र० ६ में स्वर्लोक भी त्रिगुणात्मक है अतः इसमें भी तीन अध्याय अपेक्षित हैं अतः २४, २५, २६ यह अ० यहां है।

इस देश स्थिति प्रकरण में ११ अध्याय हैं और दोनों मिला कर २६ अध्याय हैं।

इस प्रकार स्थान लीला के २६ अध्याय और ६ प्रकरणों में विषय का प्रतिपादन है, जिनका स्पष्टीकरण उपाख्यानों में होता है।

जीव-जय ब्रह्म-जय

(अ० २५) (अ० २६)

२ स्थान शब्द के यौगिकार्थ-स्थिति-के अनुसार द्वि० पक्ष

स्थान-सर्वत्र स्थिति

क-देशस्थिति			ख-कालस्थिति			ग-आत्मस्थिति	
भूः भुवः स्व. ।	मास	ऋतु	लोक	आदित्य ।		जीवात्मा	परमात्मा
३	१२	५	३	१२		२	

स्थान स्थिति

क-स्वरूप-स्थिति ख-देश-स्थिति

(३ प्रकरण) (३ प्रकरण)

१. अध्याय १ से ६ भगवान से स्थिति का वर्णन है।

२ अध्याय ७ से १४ योग से स्थिति का वर्णन है।

३. अध्याय १८ में ज्ञान से स्थिति का वर्णन है।

ख-देश-स्थिति

४. अध्याय १६ से २० भू स्थिति का वर्णन है।

५. अध्याय २१ से २३ भुवः स्थिति का वर्णन है।

६ अध्याय २४ से २६ स्व स्थिति का वर्णन है।

स्थान शब्द के दो अर्थ होते हैं (१) 'स्थिति वैकुंठविजयः' के अनुसार भगवान की सर्वत्र विजय, और (२) "स्थीयते अस्मिन् इति स्थानम्" के अनुसार सर्वत्र स्थिति। अतः यहाँ दो प्रकार से विचार किया जाता है।

प्रथम पक्ष—विजय करने का तात्पर्य स्वाधीन करना है। भगवान् प्रत्येक पदार्थ को अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार स्थापित करते हैं। यह पदार्थ प्राकृत और अप्राकृत दो प्रकार के हैं।

प्राकृत पदार्थ २४ हैं, अतः प्रत्येक पर विजय प्रदर्शन रूप

२४ अध्याय है, और अप्राकृत पदार्थ जीव तथा ब्रह्म रूप से द्विविध है, एतावता दोनों को मिला कर २६ अध्याय मे इस विजय का प्रतिपादन है।

द्वितीय पक्ष—स्थिति करने का तात्पर्य उन-उन तत्वों मे जिनसे सृष्टि है स्वकीय विद्यमानता—सत्ता का प्रवेश करना है। देश तीन प्रकार के हैं, जो लोकात्मक है। इसलिये तीन अध्याय इसमे अपेक्षित हैं। १० मास, ५ ऋतु ३ लोक—ज्योतिर्मय। ? आदित्य और २ जीवात्मा परमात्मा मिला कर २६ होते हैं। अत. प्रत्येक के लिये एक-एक अध्याय अपेक्षित है, सो इस स्कन्ध में २६ अध्याय है।

१. स्वरूप-स्थिति की दृष्टि से तीन प्रकरण हैं।

प्र० १ मे भगवान् की स्वरूपस्थिति मे १ से ६ अध्याय हैं। षड्गुणों से।

प्र० २ मे ८ अध्याय हैं, जिनमें अष्टाङ्ग योग के द्वारा भगवान् की षड्गुण सम्पन्नता का उल्लेख है, अत. योग से स्थिति के लिये ७ से लेकर १४ तक आठ अध्याय हैं।

प्र० ३ मे १५ वॉ एक अध्याय है जिसमें ज्ञान से स्थिति का वर्णन है, स्वरूप स्थिति मे एकत्र १५ अध्याय हैं।

२. देश-स्थिति की दृष्टि से तीन प्रकरण हैं।

प्र० ४ मे भूमि पच भूत प्रधान होने से इस भू-प्रकरण में पाच अध्याय हैं, जो १६ से २० तक है।

प्र० ५ में भुवर्लोक मे तीन गुणों का प्राधान्य होने से तन्निर्देशक २१, २२ २३ तीन अध्याय हैं।

प्र० ६ में स्वर्लोक भी त्रिगुणात्मक है अत इसमें भी तीन अध्याय अपेक्षित हैं अत. २४, २५, २६ यह प्र० यहां है।

इस देश स्थिति प्रकरण मे ११ अध्याय हैं और दोनों मिला कर २६ अध्याय हैं।

इस प्रकार स्थान लीला के २६ अध्याय और ६ प्रकरणों में विषय का प्रतिपादन है, जिनका स्पष्टीकरण उपाख्यानों से होता है।

६—षष्ठ स्कन्धार्थ-पोषण-निरूपण (१९ अध्याय)

पोषण—पुष्टि

प्रकरण	क नाम	ख ध्यान	ग अर्चन
३	(अ० १ से ३)	(अ० ४ से १७)	(अ० १८, १९)

श्रवण कीर्तन स्मरण। रूप के १४ गुण। बाह्य और आभ्यन्तर।

१ प्रकरण नाम—म श्रवण कीर्तन और स्मरण की त्रिविधता के कारण १ से ३ अध्याय है।

२ प्रकरण ध्यान रूप सम्बन्धी १४ गुणों के कारण ४ से १७ तक चतुर्दश अध्याय म वर्णित हैं।

३ प्रकरण अर्चन, बाह्य और आभ्यन्तर भेद से द्विविध है अत इसके लिये १८, १९ दो अध्याय हैं।

स्थित पदार्थों की अभिवृद्धि को पोषण कहते हैं। यही 'पुष्टि शब्द वाच्य वह तत्त्व है जो पुष्टिमार्ग का मूल आधार है। प्रस्तुत षष्ठ स्कन्ध में इसी अनुग्रह का वर्णन है। "पोषण तदनुग्रह" और "कालादि बाधक अनुग्रहापरनामा वीर्य विशेष रूपो भगवद्धर्म पुष्टि इस सुबोधिनी की परिभाषा के अनुसार जीव के काल, कर्म, स्वभाव का भी बाधक होकर भगवान का जो विशेष पराक्रम रूप अनुग्रह जीवों पर प्रकट होता है उसे पोषण' कहा जाता है।

यह अनुग्रह नाम, ध्यान और अर्चन को निमित्त बना कर प्रकट होता है अत इस स्कन्ध म तीन प्रकरण हैं।

क नाम श्रवण कीर्तन और स्मरणात्मक त्रिविध भक्ति पर आधारित है अत इस प्रथम प्रकरण म क्रम से तीन अध्याय द्वारा इसका वर्णन हुआ है।

ख. ध्यान भगवद्रूप से सम्बन्धित है। यह १४ गुण वाला है अत ४ से १७ अध्याय पर्यन्त १४ अ० मे इसका निरूपण है भगवान् आदि चौदह गुणा म व्यय होते हैं—

१ स्वरूप से मोक्षप्रद हैं २ रस से आनन्दप्रद हैं
३ गन्ध से भक्तिप्रद हैं ४ स्पर्श से मनोहारी हैं

५. नाद से मनोहर हैं ६. योग से कल्म प्रवेश-प्रद हैं
७. द्वेष से कालमोक्षप्रद हैं ८. स्वामी रूपसे सर्वसुखदाता हैं
९. हीन भाव से दुःखप्रद है १०. केवल रूप से मरणार्थप्रद है
११. प्रमीत—ज्ञातज्ञान रूप से योगप्रद हैं
१२. भेद रूप से मृत्यु प्रद हैं १३. यथास्थित रूपमे ज्ञानप्रद है
१४. स्नेह से वश्य हैं।

इस प्रकार ध्यान-प्रकरण मे १४ अध्याय हैं जो ४ से १७ तक हैं

ग. अर्चन, बाह्य और आभ्यन्तर भेद से द्विविध है अतः १८ और १९ इन दो अध्यायों मे क्रमश वर्णन है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि कहा गया है पुष्टि कर्म, काल और स्वभाव की आधिना है—अतः इस रूप से उसका स्कन्धार्थ इस प्रकार होगा।

क. कर्म पाँच प्रकार के हेतुओं पर अवलंबित है—१ अधिष्ठान, २ कर्ता, ३ करण—इन्द्रिय, ४ चेष्टा, ५ दैव। भगवदनुग्रह इन सबका बाधक होकर फल प्रद होता है अत इसके लिये १ से ५ अध्याय वर्णित हैं।

ख. काल, द्वादश मासात्मक है। पुष्टि काल की बाधक है अत इसके लिये ६ से लेकर १७ तक द्वादश अध्याय वर्णित हैं।

ग. स्वभाव, दैव और आसुर भेद से द्विविध है अतः १८वे अध्याय मे देव और १९ वे मे आसुर स्वभाव के बाध का प्रतिपादन है।

इस प्रकार पुष्टि (पोषण, अनुग्रह) का निरूपण १९ अध्यायों मे किया गया है जिसमें तीन प्रकरण हैं।

७—सप्तम स्कन्धार्थ—ऊति कर्मवासना-निरूपण (१५ अध्याय)

(१)

ऊति—कर्मवासना

प्रकरण	क. असद्वासना	ख. सद्वासना	ग. मिश्रवासना
	(१ से ५ अ०)	(६ से १० अ०)	(११ से १५ अ०)
	पंचपर्वा अविद्या	पचपर्वा अविद्या	पच पर्वा अविद्या

अथवा

(२)

कर्म

क- आध्यात्मिक	ख- आधिदैविक	ग-आधिभौतिक
(पाँच अ०)	(पाँच अ०)	(पाँच अ०)

१ प्रकरण--१ से ५ अध्याय तक असद्वासना के अविद्या के पाँच पर्वों का निरूपण है।

२ प्रकरण--६ से १० अ० तक सद्वासना से अविद्या के पांच पर्वों का निरूपण है।

३ प्रकरण--११ से १५ अ० तक मिश्रवासना से अविद्या के पांच पर्वों का निरूपण है।

अथवा कर्म आध्यात्मिक आदि भेद से त्रिविध हैं और प्रत्येक के अविद्या के पांच पर्व होते हैं, एतावता प्रत्येक में एक-एक अध्याय का प्रसंग है। अविद्या के पांच पर्वः—१ स्वरूपाज्ञान २ देहाध्यास ३ इन्द्रियाध्यास ४ प्राणाध्यास ५ अन्तःकरणाध्यास है।

किंच कर्म के गीता के अनुसार पांच हेतु होते हैं—

१ अधिष्ठान २ कर्ता ३ करण ४ चेष्टा ५ दैव। इस प्रकार यह पांचों आध्यात्मिकादि भेद से पन्द्रह प्रकार के हैं।

इस सप्तम स्कन्ध में जिसमें कर्मवासना का निरूपण है, और जिसे ऊति लीला कहा जाता है, सृष्टि में भगवान का एक प्रकार का जीवों के प्रति पक्षपात भासित होता है, जिससे सृष्टि में उनके प्रति वैषम्य दोष सहज ही आ जाता है। इस दोष के परिहारार्थ यह कहा गया है कि—प्रभु स्वकृत मर्यादा के अनुसार वासना के अनुरूप जीवों को फल प्रदान करते हैं, एतावता वासना से बचने के लिये उसका विवेचन करना अपेक्षित होता है। जीवों की यह वासनाएं उक्त प्रकार से पन्द्रह प्रकार की हो जाती है, यह बताने के लिये पन्द्रह अध्याय इस स्कन्ध में प्रतिष्ठित हैं।

इस प्रकार पन्द्रह अध्याय और तीन प्रकरण में ऊति लीला का निरूपण किया गया है, जिसके प्रत्येक प्रकरण में पांच पांच अध्याय हैं।

८—अष्टम स्कन्धार्थ—मन्वन्तर-सद्धर्म-निरूपण। (२४ अ०)

मन्वन्तर—सद्धर्म—

प्रकरण	क. हरिस्मरण	ख. दान	ग. स्वोक्तनिर्वाह	घ. मत्स्य चरित्र
४	(१ से ४ अ०)	(५ से १४अ०)	(१५ से २३ अ०)	(२४ वां अ०)
	४	१०	६	१

१ प्रकरण-१ से ४ अ० तक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-चतुर्विध पुरुषार्थ का वर्णन है।

२ प्रकरण-५ से १४ अ० तक दस अध्यायों में गुणों के मिश्रित नव और निर्गुण इस तरह दश विध दान का निरूपण है।

३ प्रकरण-१५ से २४ अ० तक ६ अध्यायों में दानोक्त प्रकार के अनुसार नव विध स्वोक्त निर्वाह का प्रतिपादन है।

४ प्रकरण-२४ वें अ० में एक अध्याय से धर्मवक्ता मत्स्यावतार का प्रतिकथन है।

इस प्रकार अनुग्रहीत-पुष्ट-भक्तों के आचार निरूपण में सद्धर्म-सदाचार का निरूपण मन्वन्तर लीला कहलाती है।

(द्वि० स्क० सुबो० प्र० १ श्लोक)

मनु आदि महर्षि द्वारा प्रोक्त महान् धर्म त्रिविध है-१ आपत्ति में हरिस्मरण, २ सपत्ति में सर्व दान, और स्वोक्त वचन का निर्वाह। इस स्कन्ध में इसी त्रिविध सद्धर्म का प्रतिपादन है, इस त्रिविध धर्म के वक्ता स्वयं मत्स्यावतार-धारी श्री हरि हैं, अतः अन्त में उनका चरित्र है।

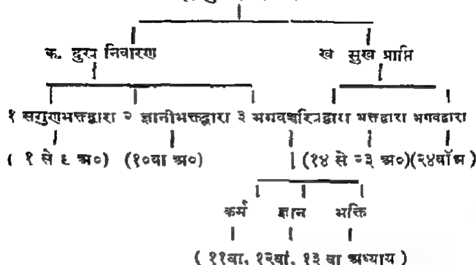
इस प्रकार २४ अध्याय और चार प्रकरणों में अष्टम स्कन्धार्थ की मन्वन्तर सद्धर्म निरूपण लीला का प्रतिपादन है।

६—नवम स्कन्धार्थ ईशानुकथा निरूपण (२४ अ०)

प्रकरण २.

कथा

क. हरिकथा ख. हरिभक्त-कथा



सदाचार में विष्णु भक्ति का नाम 'ईशानुकथा' कहा जाता है।
(भा० द्वि० सु० प्र० १ श्लोक)

नवम स्कन्ध में ईश और उनके अनुवर्ती भक्तों की कथा है, इसके श्रवण का फल दो प्रकार का है, १ दुःख निवारण और २. सुखप्राप्ति।

१. प्रकरण—दुःख निवारण चार प्रकार से संभव है।

१ सगुण भक्तों द्वारा जो गुणभेद से नवविध होते हैं और इसीलिये १ से ९ अ० तक उनका वर्णन है।

२ ज्ञानीभक्त द्वारा जो एक प्रकार का है अतः १० वें अ० में उसका वर्णन है।

३ भगवच्चरित्र द्वारा, जो कर्म, ज्ञान, भक्ति इस भेद से तीन प्रकार हैं, अतः ११ से लेकर १३ वें अ० तक क्रमशः उनका वर्णन है।

२ प्रकरण—सुख-प्राप्ति दो प्रकार से संभव है—

१ भगवदनुवर्ती—भक्त द्वारा जो त्रिविधगुण भेद से नौ प्रकार और निर्गुण रूप से एक इस तरह १० प्रकार के होते हैं, अतः यहाँ क्रमशः १४ से लेकर २३ वें अ० तक नौ अ० में इसका वर्णन है।

२. भगवद्द्वारा जो एक प्रकार का है, अतः एक अ० चौबीस के द्वारा इसका प्रतिपादन है।

ईशानुकथा रूप नवम स्कन्ध में सूर्यवंशीय भक्तों के और भगवान श्री राम के चरित्र १२ अ० में वर्णित हैं, १३ से २४ तक चन्द्र वंशीय भक्तों और श्रीकृष्ण के चरित्र की सूची है। इस प्रकार २४ अ० इस स्कंध में हैं। १३ वें अ० में कथित निमि वंश का संबंध सूर्यवंश के साथ होने से उस अ० का संबंध इधर भी गिना जाता है।

१०—दशम स्कंधार्थ–निरोध निरूपण (अ० ८७ और ३ प्रक्षिप्त)

निरोध

प्रकरण ५	१ जन्म प्र.	२ तामस प्र.	३ राजस प्र.	४ सात्विक प्र.	५ गुण प्र.
	(४ अ०)	(२८ अ०)	(२८ अ०)	(२१ अ०)	(६ अ०)

१ प्रकरण— जन्म प्रकरण (१ से ४ अ०)

व्यूह प्राकट्य—	१ वासुदेव	२ संकर्षण	३ प्रद्युम्न	४ अनिरुद्ध
	(१ अ०)	(१ अ०)	(१ अ०)	(१ अ०)

२ प्रकरण—तामस प्रकरण (५ से ३२ अ०)-(२८ अ०)

प्रमाण प्र०	प्रमेय प्र०	साधन प्र०	फल प्र०
(७ अ०)	(७ अ०)	(७ अ०)	(७ अ०)
५ से ११ अ०	१२ से १८ अ०	१९ से २५ अ०	२६ से ३२ अ०

३ प्रकरण— राजस प्रकरण (३३ से ६० अ०–२८ अ०)

प्रमाण प्र०	प्रमेय प्र०	साधन प्र०	फल प्र०
(७ अ०)	(७ अ०)	(७ अ०)	(७ अ०)
३३ से ३९ अ०	४० से ४६ अ०	४७ से ५३ अ०	५४ से ६० अ०

४ प्रकरण—सात्विक प्रकरण (६१ से ८१ अ०-२१अ०)

प्रमेय प्र०	साधन प्र०	फल प्र०
(७ अ०)	(७ अ०)	(७अ०)
६१ से ६७ अ०	६८ से ७४ अ०	७५ से ८१ अ०

प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल यह चारों ऐश्वर्यादि ६ धर्म और सप्तम धर्मी, इस प्रकार सात भेद से प्रत्येक गुण सात प्रकार का होता है, अत त्रिगुण में सात सात से इनका निरूपण होने के कारण प्रत्येक में सात अध्याय हैं।

सात्विक भाव में प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, सात्विक भक्त का अन्त करण ही प्रमाण होता है, अत इस प्रकरण में प्रमेय, साधन और फल यह तीन ही प्रकरण हैं।

५ प्रकरण— गुण प्रकरण (८२ से ८७ अ०—६ अ०)

ऐश्वर्य	धर्म	यश	श्री०	ज्ञान	वैराग्य
(१ अ०)	(१ अ०)	(१ अ०)	(१ अ०)	(१ अ०)	(१ अ०)
८२ वा	८३	८४	८५	८६	८७ वा

दशम स्कन्धान्तर्गत १२, १३ और १४ यह तीन अध्याय कौतुक लीला के निरूपक और प्रक्षिप्त माने जाते हैं, अत इस संख्या का परिवर्जन कर अध्याय संख्या गिननी चाहिये। उक्त दोनों को मिला कर इस स्कंध में ९० अ० हैं। उक्त अध्यायों की प्रक्षिप्तता के समर्थन में इसका प्रतिपादक एक पृथक ग्रन्थ है जिसका परिचय आगे दिया जा रहा है।

निरोध लीला प्रतिपादक दशम स्कंध पुरुषोत्तम का हृदय स्थानीय है। हृदय में भावात्मिका अभिव्यक्ति होती है। यह भाव देवादि-विषया रति, प्रेम, भक्ति आदि नामों से अभिहित होती है। हृदय की यह स्वच्छ आन्तर वृत्ति १ वात्सल्य, २ दाम्पत्य, ३ सख्य भाव की

अनुकारिणी होती है, अतः इस स्कंध में तीनों धाराओं का व्यापक प्रतिपादन है, जो बरबस हृदय को आकर्षित कर लेता है। अंगोपांग के साथ इन त्रिविध सात्विक वृत्तियों का प्रांजल निरूपण अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता।

भक्तों के प्रपंच का अभाव और स्वकीय शक्तियों के साथ परमात्मा का भक्त-हृदय में शयन (निवास) निरोध कहलाता है। प्रापञ्चिक विषयों से हटाकर भक्त को स्वविषयों के प्रति लीला द्वारा आकृष्ट करना भी निरोध है। जिसका इस स्कंध में निरूपण है।
(भा० द्वि० स्क० सुबो० प्र० अ० १ श्लोक)

यह निरोध ही महाफल माना जाता है।

इसके पाँच प्रकरणों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. जन्म प्रकरण—चार अध्यायों में चतुर्विध व्यूह प्राकट्य लीला का कथन है। क्रमशः अध्यायों में १ विषय हेतुता, २ अवतारोद्यम, ३ रूपान्तर-स्वीकरण, और ४ माया से नाट्य का कथन है।

२. तामस प्रकरण—प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल की दृष्टि से इसके अवान्तर विभाग हैं, जिनका प्रत्येक का ६ धर्म और ७ वां धर्मी इस तरह सात-सात रूप में कथन हैं, अतः २८ अ० हैं। मध्यवर्ती तीन प्रक्षिप्त अध्याय मिला लेने पर ३५ वें अ० पर इस प्रकरण की समाप्ति है।

३. राजस प्रकरण—इसमें भी उक्त प्रकार से विभागों के कारण ही २८ अ० हैं। प्रक्षिप्त को मिला लेने पर ६३ वें अ० पर इसकी समाप्ति है।

४. सात्विक प्रकरण—इसमें प्रमाण की आवश्यकता न होने से केवल प्रमेय, साधन, और फल के लिये उक्त प्रकार से प्रत्येक के लिये सात-सात अ० होने से २१ अध्याय में इसकी पूर्ति है। प्रक्षिप्त को मिला लेने से ८४ अ० पर इसकी पूर्ति है।

५. गुण प्रकरण—जिसमें भगवान के षड्विध गुणों के निरूपण में एक-एक अध्याय से ६ अध्याय हैं, प्रक्षिप्त को मिला लेने पर ९० अ० पर इस स्कंध की पूर्ति हो जाती है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, १२, १३, और १४ यह तीन

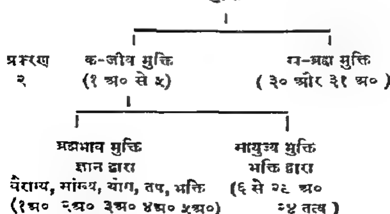
अ० वत्सहरण और ब्रह्मस्तुति के प्रक्षिप्त है, यद्यपि इन पर श्रीवल्लभाचार्य ने सुबोधिनी टीका रची है, दशम के उक्त प्रकरणों के आधार पर ८७ ही अध्याय स्वीकार किये गये हैं। और इसी आधार पर ३३२ अध्यायों की गणना की जाती है।

श्रीवल्लभाचार्य ने दशम को निरोध रूप में और अन्य तिलककारों ने इसे आश्रय रूप माना है। इस दशम विभाग के लिये सुबोधिनीकार ने परिज्ञानार्थ एक कारिका लिखी है जिससे उसका सम्यक् परिचय मिलता है।

(१) चतुर्भिश्च (२) चतुर्भिश्च (३) चतुर्भिश्च (४) त्रिभि स्तथा।
(५) षड्भि विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम।

(१) चतुर्भिश्च—जन्म प्रकरण के चार अध्यायों से।
(२) ,, ,, तामस प्रकरण के प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल अध्यायों से।
(३) ,, ,, राजस ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(४) त्रिभिः—सात्विक प्रकरण के प्रमेय, साधन, और फल अध्यायों से।
(५) षड्भि.—ऐश्वर्यादि ६ गुणों से ६ अध्यायों से।
इस प्रकार पञ्चधा=पाँच प्रकरण हैं।

११—एकादश स्कन्धार्थ—मुक्ति निरूपण-(३१ अ०)



एकादश स्कन्धार्थ मुक्ति है। निष्प्रपञ्च भक्तों को स्वरूप लाभ होना मुक्ति कहलाता है, जिसका सीधा अर्थ अन्यथा रूप का त्याग कर स्वरूपावस्थान भी है। अत इस स्कन्ध में इसी का प्रतिपादन है।

इसमें इस प्रकार प्रकरण हैं—

१ प्रकरण—जीव मुक्ति में अविद्या के नाश और विद्या-प्राप्ति के द्वारा ज्ञान से ब्रह्मभाव की प्राप्ति रूप मुक्ति का वर्णन है। विद्या-ज्ञान के पाँच पर्व हैं-१ वैराग्य, २ सांख्य, ३ योग, ४ तप, ५ भक्ति। इनका एक-एक अध्याय से वर्णन है, अत. प्रथम से लेकर पाँच अध्याय इसमें प्रयुक्त है। इसके अधिकारी राजर्षि जनक हैं।

जीव मुक्ति का दूसरा प्रकार सायुज्य मुक्ति है। २४ तत्वों का *अतिक्रमण ही सायुज्यभाव कहलाता है*, अत ६ अ० से लेकर २६ अ० तक इन २४ तत्वों का संकेत है-यह सायुज्य भाव भक्ति से लभ्य है जिसके अधिकारी उद्धव हैं, अत इसमें २४ अ० हैं।

२ प्रकरण-ब्रह्म मुक्ति है, जिसमें ३० और ३१ यह दो अ० हैं। अहन्ता अथच ममतात्मक मानव नाट्य का परित्याग करने के कारण यहाँ ब्रह्म की मुक्ति का उपदेश किया गया है, एतदर्थ दो अ० हैं।

इस प्रकार एकादश स्कन्ध के मुक्ति लीला का ३१ अध्यायों द्वारा प्रतिपादन है।

१२—द्वादश स्कंधार्थ—आश्रय—निरूपण (१३ अ०)

आश्रय

प्रकरण					
५	क-कृष्णाश्रय	ख-जगदाश्रय	ग वेदाश्रय	घ-भक्तियोगाश्रय	ङ-भागवताश्रय
	(१,२,३, अ०)	(२॥ अ०)	(२॥ अ०)	(३ अ०)	(३ अ०)
	४,५॥ अ०	६,७अ०	८ से १० अ०	११ से१३अ	

मुक्त जीवों का ब्रह्म-स्वरूप से अवस्थित होना आश्रय कहलाता है। द्वादश स्कंध में आश्रय लीला का निरूपण है जिसके लिये निम्न-लिखित प्रकरण हैं—

१ प्रकरण—कृष्णाश्रय प्रकरण है, जिसका प्रथम तीन अ० में कथन है।

२ प्रकरण—जगदाश्रय प्रकरण है, जिसका चौथे, पाँचवें, और छठे अ० के आधे भाग में अढाई अ० में प्रतिपादन है।

३ प्रकरण-वेदाश्रय प्रकरण है। छठे अध्याय का आधा और सातवां पूर्ण अध्याय डेढ़ अध्याय इसके अन्तर्गत है।

४ प्रकरण—भक्तियोगाश्रय है, जिसका ८, ९, १०, तीन अध्यायों में विस्तार है।

५ प्रकरण—भागवताश्रय है, जिसका निरूपण भी ११, १२, १३ तीन अध्यायों में है।

इन सब अध्यायों की संगति का सहेतुक वर्णन भागवत निबन्ध के सुन्दर ढङ्ग से कहा गया है, विस्तार भय से यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

भागवत साक्षात् श्रीकृष्ण स्वरूप है, अतः इसमें भी तद्द्योतक ६ धर्मों का समावेश इस प्रकार है—

१ और २ स्कन्धों से ज्ञान का निरूपण है।
३ और ४ स्कन्ध से वैराग्य का निरूपण है।
५ और ६ स्कन्ध से वीर्य का निरूपण है।
७ और ८ स्कन्ध से ऐश्वर्य का निरूपण है।
९ और १० स्कन्ध से यश का निरूपण है।
११ और १२ स्कन्ध से श्री का निरूपण है।
(भा० निबन्ध प्र० स्क० कारिका ४० से ४२)

इस प्रकार आश्रय निरूपक द्वादश स्कन्ध में १३ अध्याय और पाँच प्रकरण कहे हैं।

सुबोधिनी का प्रतिपाद्य विषय, भागवतीय वाक्यार्थ, पदार्थ और अक्षरार्थ।

रचना—

जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है, भागवत शास्त्र या उसके अन्तर्गत स्कन्धों या स्कन्धान्तर्गत प्रकरणों या और प्रकरणान्तर्गत

अध्यायों का, तथा तदन्तर्गत वाक्यों का, श्लोकों का, और श्लोकान्तर्गत पदों का अथच पदान्त पाती अक्षरों का, यह सब सात प्रकार का अर्थ भागवत का प्रतिपादनीय है। प्रथम चार का निरूपण 'भागवत निबन्ध' में और शेष तीन का 'सुबोधिनी' नामक भागवत-व्याख्या में है। इन सातों का एकत्र समन्वयात्मक अविरोधी अर्थ ही मौलिक सिद्धान्त का सम्यक् निरूपक होता है। एतावता सुबोधिनी-परिज्ञान के लिये भागवत निबन्ध का अध्ययन परमावश्यक है।

भागवतार्थ-परिज्ञान की परिपाटी में श्रीवल्लभाचार्य ने सर्व प्रथम सूक्ष्म टीका का प्रणयन किया है, इसके अनन्तर भागवत तत्वदीप निबन्ध को और बाद में सुबोधिनी की रचना हुई है। सुबोधिनी में कई स्थलों पर 'सूक्ष्मटीका' का नामोल्लेख मिलता है। भागवत-निबन्ध की कई कारिकाएँ तो सुबोधिनी में उपलब्ध होती ही हैं।

व्याख्यान-पद्धति—

आचार्य कृत सुबोधिनी और अन्य व्याख्याओं का परिचय आगे दिया जारहा है। प्रस्तुत सुबोधिनी में अध्यायानुसार श्लोकों का अर्थ पूर्वापर-संगति रूप में कहा गया है। इसके साथ यह भी निरूपित है कि श्लोकों में आगत पदों का स्वारस्य क्या है ? यह पद-स्वारस्य ही वास्तव में पदार्थ है, जिसमें प्रकृति प्रत्यय का अक्षरार्थ भी संमिलित किया जाता है, ऐसे अव्यय जो एकाक्षरात्मक हैं उनके अर्थ की गंभीरता का दर्शन कराना भी टीकाकार ने त्यागा नहीं है—श्लोकों में पाठ भेद का अंगीकार करते हुए उसकी समीचीनता या अनुपयुक्तता का भी दिग्दर्शन मिलता है। इस प्रकार वाक्यार्थ—जिसे श्लोकार्थ कहा जा सकता है-के साथ पदार्थ और अक्षरार्थ का समावेश सुबोधिनी टीका की विशेषता है।

जहाँ तक अन्य टीकाओं का प्रश्न है, इस प्रकार का सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अन्य टीकाकारों के अभिमत को सूचित करने और उनकी दृष्टि की समालोचना करने में भी सुबोधिनीकार का व्यापक पांडित्य छिपा नहीं रहा है, विभिन्न कोशों और शब्दानुशासन तथा धातुपाठों का आश्रय लेकर भी वाक्यार्थ की संगति लगाने का चमत्कार भी इस विवेचना में दर्शनीय है।

उक्त व्यापक व्याख्यान की रचना के विषय में स्वयं ग्रंथकार वल्लभाचार्य कहते हैं कि—"इस निरानन्द लोक में आनन्द रूप भागवत के अर्थ का निरूपण वाक्पति वैश्वानर श्रीप्रभु के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता, अत उन्होंने जैसे भागवत के प्राकट्यार्थ वेदव्यास का अवतार धारण किया था, उसी प्रकार मनुष्य रूप में मुझे भी प्रकट कर कृपावलोकन द्वारा ऐसी सामर्थ्य प्रदान की है, और आज्ञा प्रदान की है। अत मैं भगवान विष्णु और व्यास को प्रिय लगने वाली पद्धति पर भागवत के गूढार्थ को प्रकट कर रहा हूँ।"

[अर्थं तस्य विवेचितुं० सु० प्र० स्क० प्र० अ० भू०]

"भागवत की व्याख्या में वल्लभाचार्य ने न तो लक्षणा का ही सहारा लिया है और न न्यून पद से अन्य पद का अनुसन्धान ही किया है। परोक्ष-कथन—जैसा कि पुरजनोपाख्यान है—को छोड़ कर यथार्थ आशय प्रगट करने की प्रतिज्ञा की है। "गगायां घोष" इस वाक्य में जैसे शब्द की एक शक्ति, लक्षणा द्वारा गगातटवर्ती घोष का बोध किया जाता है उस प्रकार भागवत में शब्द की मुख्य अभिधा शक्ति का परित्याग कर गौण अर्थ का स्वीकार नहीं किया गया है। न्यून पद रख कर अन्य पद की पूर्ति का प्रसग भी इस स्थान पर नहीं लाया गया है। कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ परोक्ष रूप से अर्थ का कथन है, वहाँ उसका परोक्ष रूपेण कथन कर मूल अर्थ की ओर सकेत हुआ है, ऐसे स्थलों का परित्याग कर शेष सभी स्थलों पर वास्तविक अर्थ का ही निरूपण भागवत की सुबोधिनी टीका म किया गया है—

(सु० प्र० स्क० प्र० अ० कारिका ६)

उपर्युक्त सात प्रकार के अर्थ की अविरोध रूप से सगति करते हुए सुबोधिनी में यद्यपि विषय का प्रतिपादन है तथापि आचार्य ने व्यवहारवश उत्तरोत्तर सातो अर्थों मे पूर्व-पूर्व की अपेक्षा दुर्बलता को स्वीकार की है। जैसे भगवान् की लीला ही भागवत शास्त्र का अर्थ है, पर जहाँ प्रकरण आदि में अन्य राजा आदि का लौकिक चरित्र आजाता है, वहाँ उसे उसी रूप में मानते हुए तादृशी भगवल्लीला का अगीकार किया है, अत यहाँ शास्त्रार्थ की अपेक्षा प्रकरणार्थ में दुर्बलता का आना सहज ही है, और इसे व्याख्याकार ने माना है—

(सु० प्र० स्क० प्र० अ० भू० कारिका ७)

भाषात्रैविध्य —

सुबोधिनीकार ने भागवत में तीन भाषाएँ स्वीकार की हैं। भाषा का तात्पर्य यहाँ दर्शन-प्रकार से है। अर्थात् भागवत में त्रिविध वर्णन है—

(१) लौकिक भाषा (२) परमत भाषा (३) समाधि भाषा—

१. लौकिक भाषा से तात्पर्य उस प्रकार के वर्णन से है जहाँ भागवत में लोकसिद्ध वर्णन प्रस्तुत किया गया हो, यथा नदी, पर्वत, ऋतु, नगर आदि की शोभा और नागरिक व्यवहार का उल्लेख, जिसमें किसी सिद्धान्त की रूपरेखा नहीं निकलती। इसे काव्यात्मक ढंग का वर्णन कहा जा सकता है। जैसे "नाना द्रुमलताकीर्णं" "अथोपस्पृश्य वृत्तायां कुमुदान् कूजतोऽशपत्" आदि लोकस्थिति का उल्लेख।

२. परमत भाषा, जहाँ अन्य ऋषियों के अभिमत का कथन है, जैसे "केचिदाहुरजं जातं" "एव वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः" आदि। सम्वाद रूप में जहाँ ऋषियों द्वारा तत्वज्ञान का कथन है वहाँ अधिकांश परमत है।

३. समाधिभाषा से तात्पर्य उस सिद्धान्त से है जिसे—महर्षि वेदव्यास ने शुकाचार्य के द्वारा व्यक्त किया है। उन्होंने स्वयं समाधि में जिस परम सत्व का साक्षात् किया है, उसका प्रतिपादन करने वाला सिद्धान्त 'समाधिभाषा' कहलाता है। लौकिक और परमत के विश्लेषण के अनन्तर शेष भाषा समाधिभाषा कही जा सकती है। यों तो समग्र भागवत वेदव्यास द्वारा निर्मित है, तथापि विश्लेषण की दृष्टि से उसमें कुछ सम्वादात्मक प्रसंग भी हैं जिन्हें पृथक् रूप में मानना पड़ता है।

प्रस्तुत समाधिदृष्ट तत्वानुसन्धान के लिये सूत ने स्वयं एक स्थान पर कहा है—

"अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम्।
अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगं मधोक्षजे ॥"

भा० प्र० स्क० ७, ६

समाधिभाषा के मूल परिज्ञान के लिये वल्लभाचार्य ने स्वयं कहा है

"शास्त्ररूपोवतीर्याय मंगलादि पुरः सरम् ॥१७॥
प्रसंग पूर्वकं चाह समाधावुपलभ्य हि।
साकारं ब्रह्म शुद्धं हि, माया तच्छक्तिरुत्तमा।
तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद् भक्तिश्च मोचिका ॥१८
इममर्थं हरिश्चाह ब्रह्मणे, नारदाय सः

(भाग० नि० प्र० स्कन्धार्थ)

उक्त त्रिविध भाषाओं में जहाँ परस्पर कथानक में विरोध-सा भासित होता है उसका समाधान सुबोधिनीकार ने यह कह कर किया है कि— "ऐसे प्रसंग कल्पान्तर के हैं—"धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इस श्रुति के अनुसार सृष्टि कुछ परिवर्तन के साथ यथापूर्व ही होती रहती है, आवश्यक परिवर्तन होने से उसमें एकरूपता कहीं-कहीं नहीं आती— अतः उसे एक दूसरे का विरोधक या अप्रामाणिक नहीं मानना चाहिए"—

(प्र० स्क० सु० प्र० अ० कारिका ८)

"भागवतीय प्रसंग में जहाँ जिस भाषा का प्रयोग हुआ है वहाँ सुबोधिनी में प्रायः उसका उल्लेख किया गया है। लौकिक और परमत भाषा समाधिभाषा की पोषिका हैं अतः वे दोनों भी अमान्य नहीं हैं।"

(कारिका ६)।

इस प्रकार सुबोधिनी में भागवत-निबन्ध से बचे हुए तीन अर्थों का व्याख्यान किया गया है। स्वयं वल्लभाचार्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अर्थं तस्य विवेचितुं नहिविभुः० इत्यादि में सुबोधिनी की मान्यता और गांभीर्य का कथन किया है, वह वास्तव में भागवत का हार्द प्रकट करने में अद्वितीय व्याख्या है। इधर श्रीहरिरायजी ने भी उस सम्बन्ध में कहा है—

'नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले"

भगवत्स्वरूपता—

भागवत के द्वादश स्कन्ध, भूषण-भूषणांग श्रीप्रभु के द्वादश आभूषण और स्वरूप भी माने जाते हैं—जो इस प्रकार हैं—

प्रथम और द्वितीय स्कन्ध— दोनों चरणों के पादांगुलीय हैं।

तृतीय और चतुर्थ स्कन्ध—दोनों चरणों के नूपुर हैं।

पंचम स्कन्ध—कांची है।

षष्ठ स्कन्ध—हार है।

सप्तम अष्टम स्कन्ध—दोनों बाहुओं के अंगद वलय हैं।

नवम स्कन्ध—निष्क है।

दशम स्कन्ध—पूर्वार्द्ध कंठभूषा है। उत्तरार्द्ध कुंडल है।

एकादश स्कन्ध—चक्रीशलाका युग है।

द्वादश स्कन्ध—चूडामणि है।

अन्य पक्षान्तर में दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध को कुंडल और चक्रीशलाका का युग्म रूप, एकादश को चूडामणि और द्वादश को ऊर्मिका रूप भी माना जाता है卐।

द्वादश अंगों के द्वादश आभूषणों के मौलिक स्वरूप और स्कन्धों के वर्ण्य विषय का सामञ्जस्य मिलाने पर उक्त कथन चरितार्थ हो जाता है।

भागवत पर शु० पु० साहित्य—

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से चतुर्थ प्रस्थान भागवत पर निम्न लिखित साहित्य की रचना हुई है, जो प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों रूपों में है। इसका परिचय इस प्रकार है—

भागवत सूक्ष्म टीका—*श्री वल्लभाचार्य विरचित, अप्रकाशित।*

प्रस्तुत टीका का कुछ थोड़ा सा अंश (प्र० स्क० प्र० अध्याय का प्रथम तथा द्वितीय श्लोक पर्यन्त) सरस्वती-भंडार कांकरोली के संग्रह में (बं० ३३, १६ पर) विद्यमान है। वेदस्तुति-अंश पर-सूक्ष्मटीका श्रीवल्लभाचार्य कृत प्रकाशित—पुष्टिसुधा कार्यालय धंधूका द्वारा* शेष अंश अनुपलब्ध है। इस ग्रन्थ की सूचना स्वयं आचार्यश्री ने स्वरचित ग्रन्थों में दो तीन स्थानों पर की है:—

卐 श्री बालकृष्ण शास्त्रि कृत लेख पं० ३ पत्र ११३।

* इस सूक्ष्मटीका के दशमस्कन्ध के प्रारम्भिक २० पत्र तेलीवाला ने जूनागढ के देवकीनन्दनलालजी के संग्रह में देखे हैं। देखो 'नवल विशेष' सूचना गुजराती मे सन्यासनिर्णय प्रकाशन के अन्त मे।

क—भागवत प्रकरण निबन्ध कारिका १०६। 'एतन्निबन्धात्पूर्वमेव सूक्ष्मा या टीका कृता'
ख—भागवत प्रकरण तृ० स्कन्ध कारिका १५०।
ग—भागवत प्रकरण च० स्कन्ध कारिका १०५।

इन उद्धरणों से विदित है कि—इस ग्रंथकी रचना भागवत निबन्ध के पहिले हुई है—यह सम्पूर्ण ग्रन्थ अद्यावधि प्राप्त नहीं हुआ। ऐसा अनुमान है कि इस सूक्ष्म टीका के अनन्तर बृहत् टीका के रूप में सुबोधिनी का प्रणयन हुआ है।

सुबोधिनी टीका पर एक विहंगम दृष्टि—

भागवत टीका सुबोधिनी की रचना अन्य कई समर्थ तत्ववेत्ता तत्तत्सम्प्रदायानुयायी टीकाकारों की कतिपय टीकाओं की रचना के बाद हुई है। ऐसी अवस्था में यदि उसमें विलक्षण मौलिक और प्रामाणिक तत्व का विवेचन न किया गया होता तो उसकी इतनी ख्याति न होती। भागवत के रहस्य पर अन्य विद्वानों के अभिप्राय के सम्यक् पर्यालोचन का जितना अवसर श्रीवल्लभाचार्य को मिला है उतना अन्य को नहीं। एतावता गंभीरता और विलक्षण विचार-पद्धति का आश्रय लेकर इसकी रचना हुई है यह मानना पड़ता है। स्थान-स्थान पर अन्य विद्वानों के अभिमतों का उल्लेख और उनकी समालोचना सुबोधिनी में की गई है, जिससे इनका सहज परिज्ञान हो सकता है। अन्य प्रचलित पाठभेदों म जहाँ स्वारस्य की रक्षा हो सकी है, उसे स्वीकार किया गया है और जहाँ वह अप्रासंगिक प्रतीत हुआ है सुधारा गया है।

'सुबोधिनी व्याख्या की प्रणाली सूत्रात्मक है, इसका अर्थावबोध तब तक असम्भव है जब तक भागवत-निबन्ध का पर्यालोचन न किया जाय। आचार्य कृत अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों का अवलोकन भी तत्वज्ञान के लिये परम आवश्यक है—क्योंकि सुबोधिनी स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है इसमें भागवत के श्लोकों के वर्णन पर सिद्धान्तों का निरूपण है। और वे सब बिखरे हुए जहां तहाँ ही मिलते हैं।

सुबोधिनी में प्रारम्भ और आवश्यक स्थलों पर कारिकाओं द्वारा वक्तव्यांश का स्पष्टीकरण है, जिनसे अग्रिम प्रतिपाद्य विषय का एक स्थूल दर्शन-सा हो जाता है। प्रत्येक श्लोक और उसमें कथित शब्दों का

परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इसका जितना निरूपण इस टीका में मिलेगा अन्यत्र नहीं।

यद्यपि श्रीधरी और चूर्णिका टीका के समान इस टीका का उपयोग धारावाहिक कथा के रूप में नहीं किया जा सकता, तथापि प्रसंग और श्लोकों का स्वारस्य तथा शब्दों की मार्मिकता समझ लेने पर इसके द्वारा कथा-प्रवचन में जो विशेषता आती है वह इसकी हराई है

जैसा कि आचार्यजी का कथन है सुबोधिनी टीका के वस्तु निरूपण के तीन पहलू हैं—१. आध्यात्मिक, २. आधिदैविक, और ३. आधिभौतिक। आधिभौतिक रूप में श्रीभागवत ग्रन्थ पुस्तक रूप में *जिसे परमोत्कृष्ट काव्य का मूर्धन्य कहा जा सकता है*, आध्यात्मिक रूप में इसे तत्वज्ञान-प्रद सात्वत-संहिता कहा जाता है, और आधिदैविकता में तो यह भगवत्स्वरूप और लीला का अवगाहन कराती है।

जैसा कि प्रख्यात है—समग्र द्वादशस्कन्धात्मक भागवत पर सुबोधिनी पूर्ण नहीं मिलती। ऐसा अनुमान होता है श्रीआचार्य ने अन्तिम समय में इसकी रचना की है, और इसी कारण प्रचारमय व्यस्त जीवन में उसे पूर्ण करने का अवसर उन्हें नहीं मिला। 'अन्त करण प्रबोध' नामक ग्रन्थ में एक श्लोक है—

"आज्ञा पूर्वं तु या जाता गंगासागर-संगमे
यापि पश्चात् मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया
देह-देश-परित्यागस्तृतीयो लोक गोचर." ॥६॥

इस पर श्रीव्रजरायजी कृत विवरण में जो स्पष्टीकरण है उस पर ध्यान देने से उक्त कथन की सिद्धि हो जाती है। वहाँ लिखा है—

"अयमर्थः—भगवता श्रीभागवतार्थ-प्रकटनाय पूर्वमाज्ञप्तम्। तत्सूक्ष्मटीका करणेन कृतम्। ततः सुबोधिन्यां उपचयो ग्रन्थबाहुल्यात्मा आरब्धस्तदा देह-परित्याग आज्ञप्त। ततस्तद्द्विदाय निरोध एव विवृतः। ततोमुक्तौ विव्रीयमाणायां देश-परित्याग आज्ञप्तः।

अर्थात् आचार्य ने भागवत के अर्थ प्रकाशनार्थ प्रथम सूक्ष्म टीका की रचना की और बाद में सुबोधिनी को, तृतीय स्कन्ध की पूर्ति के समय उन्हें देहत्यागार्थ भगवदाज्ञा प्राप्त हुई, अत: उन्होंने मध्यवर्ती स्कन्धों का परित्याग कर दशम स्कन्ध—निरोधलीला—का व्याख्यान

आरम्भ किया। इसके बाद जब वे एकादश—मुक्ति लीला-स्कन्ध का विवरण करने लगे तब उन्हें देशत्यागविषयिणी पुन: भगवदाज्ञा हुई।"

एतावता यह निर्विवाद है कि सुबोधिनी की रचना प्रथम, द्वितीय तृतीय स्कन्ध तक और बाद में दशम पूर्ण और एकादश के चार अध्याय के आगे कुछ अंश तक होपाई है, जैसा कि साहित्य आज भी मिलता है। उक्त कथन से यह भी सिद्ध है कि भागवत की सूक्ष्म टीका का निर्माण पूर्ण रूपेण हुआ है, यद्यपि वह सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

सुबोधिनी-साहित्य—

सुबोधिनी और उस पर विरचित साहित्य इस प्रकार है—

प्रथम स्कन्ध सुबोधिनी—

१ से लेकर १६ अध्याय तक पूर्ण। इसकी एक हस्तलिखित प्राचीन प्रति सं० १७०८ का० शु० १० रवि का लिखित स० भंडार कांकरौली के संग्रह में (बं० १, १ शु०) है। सं० १६७१ में शु० सिद्धांत मार्यालय बंबई से प्रकाशित।

प्रस्तुत स्कन्ध की सुबोधिनी पर निम्न लिखित साहित्य है जिसके अध्ययन से मूल ग्रन्थ का स्वारस्य स्पष्टत: परिज्ञात हो सकता है—

(१) प्र० स्क० सुबोधिनी-प्रकाश—गो० श्रीपुरुषोत्तमजी सूरत द्वारा रचित। प्रका० सं० १६८३ तेलीवाला बंबई। यह 'प्रकाश' समग्र स्कन्ध पर मिलता है जिसमें मूल ग्रन्थ का सैद्धान्तिक सप्रमाण विवेचन है। पर पक्ष खंडन के साथ स्वसिद्धान्त-स्थापना और रहस्य समझाने में 'प्रकाश' से बढ़ कर अन्य कोई टीका सुबोधिनी पर नहीं है। सं० १७६७ पौष कृ० ४ गुरु की लिखित प्रति नडियाद पु०पुस्त० में विद्यमान है, जो उमरेठ निवासी औदीच्य टोलकिया ज्ञातीय व्यास हृदयरामात्मज जीवराज की लिखित है। एक अन्य प्रति अज्ञातकाल श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा स्वयं संशोधित नाथद्वारा विद्या वि० में है।

(२) प्र० स्क० सु०-लेख। रचयिता गो० श्रीवल्लभजी (विट्ठलेशात्मज) अप्रकाशित। इस ग्रन्थ की सूचना तेलीवाला ने प्र० स्क० सु० प्रकाश में दी है।

(३) प्र० स्क० सु० विवरण, रच० चाचा श्रीगोपेश्वरजी, अप्रकाशित, इसकी सूचना तेलीवाला ने 'प्रकाश' की भूमिका में दी है।

(४) प्र० स्क० सु० विवरण—गो० श्रीगोकुलोत्सवजी कृत अप्रकाशित। (इसकी सूचना तेलीवाला ने उक्त 'प्रकाश' की भूमिका में दी है।

(५) प्र० स्क० प्रथमाध्याय सु० स्वतन्त्र व्याख्या—कर्ता अज्ञात। अप्रकाशित सर० म० कां० शु० बं० ३३, १७।

(६) प्र० स्क० सुबोधिनी टिप्पणी—जयगोपाल भट्ट कृत (अप्राप्त अप्रकाशित) (ग्रन्थकार ने इसका परिचय भक्तिवर्धिनी की स्ववृत्त टीका में बीजदाढ्यप्रकार सु०) में दिया है:—"कृष्ण शब्दस्य श्रीमद् गोपीजन विशिष्टकृष्ण परत्वंतु मत्कृत प्रथमस्कन्ध सुबोधिनी टिप्पण्यां—'कर्ताहः सकल स्वेति पद्यव्याख्याने मया सम्पक्ष मुक्त मिति तत्रैवावलोकनीयम्।"

(७) प्र० स्क० सु० गुर्जर भाषानुवाद—शास्त्री छगनलालजी अमरजी बंबई कृत। प्रकाशित।

(८) प्र० स्क० सु० गुर्जर अनुवाद ...पं० जटाशंकरजी कानजी शास्त्री भाफा कृत। प्रकाशित सं० १९९६। प्रकाशक—वाडीलाल नगीनदास शाह, बंबई।

स्वतन्त्र व्याख्यान—

(१) प्र० स्क० सुबो० प्रथमाध्याय प्रारंभ कारिका—व्याख्या गो० श्रीहरिरायजी कृत। अप्रकाशित। सर. मं. कां० शु० बं० ३३, १८।

(२) निर्णयार्णव के प्र० तरंग में श्री लालूभट्टजी ने प्र० स्क० के कुछ स्थलों पर विचार व्यक्त किये हैं, प्रकाशित।

(३) अर्थं तस्य विवेचितुम् (प्र० स्क० प्र० अ० सु० मंगलाचरण कारिका) इत्यत्र व्याकरणद्वारा प्रयोग सिद्धि। चतुर्भुज गोपाध्याय कृत। अप्रकाशित सर० मं० कां० शु० बं० ३४, २२।

श्रीभागवत की सभी सम्प्रदाय की एकत्र आठ टीकाओं का प्रकाशन श्रीनित्य स्वरूप ब्रह्मचारी द्वारा वृन्दावन सं० १९६० में किया था जो सम्प्रति अप्राप्त है, इसमें ही सर्वप्रथम सुबोधिनी टीका का प्रकाशन हुआ था।

(४) श्रीकृष्ण कृष्ण सख वृष्ण्यृ० (प्र० स्क० अ० १३ श्लोक) इत्यत्र विवरणम्। पो० श्रीबालकृष्ण शास्त्रि कृत। अप्रकाशित। पो० कंठमणि शा० के संग्रह में उपलब्ध।

(५) गतासुमुरग रुषा (प्र० स्क० १८ अ० ३० श्लोक) इत्यत्र विचार। अज्ञात कर्तृक अप्रकाशित। सर० भ० का० शु० ११२, ७ बंध।

(६) परीक्षित्कृत सर्पहनन समर्थनम् (प्र० स्क० १८ अ० ३० श्लोक) स्य लेख त्रिगृह गोवर्द्धन शर्मा मथुरा कृत अप्रकाशित। सर० भ० का० शु० य० ११८, ८।

प्रथम स्कन्ध सु० परिदर्शन—

प्रस्तुत स्कन्ध की सुबोधिनी द्वारा आनन्द रूप श्रीहरि की गौण-लीला श्रोता और वक्ता के अधिकार का निरूपण है, जो स्कन्धार्थ है, इसके १ से १९ अ० तक के अर्थ का संसूचन भागवत निबन्ध में किया जा चुका है, इस प्रकार शास्त्र, स्कन्ध प्रकरण और अध्याय इन चारों के अर्थ को छोड़कर शेष तीन का यहाँ विवेचन है।

प्रत्येक अ० के प्रमुख सख्याक श्लोकों द्वारा विषय की सगति का व्याख्यान प्रति अध्याय के आदि तथा अवसर होने पर मध्य में और श्लोकों के वाक्यार्थ, पदार्थ और अक्षरार्थ का अविरोध रूप में कथन किया गया है।

दिग्दर्शन के रूप में इसका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) आधिभौतिक—भागवत शास्त्र प्रथम स्कन्ध, १९ अध्याय और तदन्त र्गत श्लोक।

(२) आध्यात्मिक—आनन्द रूप श्रीहरि की गौण लीलात्मक श्रोता वक्ता के अधिकार का निरूपण। भा० निबन्ध में निर्दिष्ट अ० स० के अनुसार विषय लक्षणा और गुणों का वर्णन है, भगवद्रूप में यह ज्ञान का निरूपण है।

(३) आधिदैविक परात्पर श्रीकृष्ण के आनन्दमय विग्रह में प्र० स्क० तदीय दक्षिण चरणारविन्द है।

प्र० स्क० में श्रोता के लक्षण सम्बन्ध में कहा गया है-"तीर्थङ्गै महान् शुचिः कृष्णं प्रच्छति यत्नेन कृपासरसंग संभवे" अर्थात् जो व्यक्ति तीर्थ संसेवन और भगवत्समर्पणात्मक यज्ञ से विशेष पवित्र है वह राजा परीक्षित के समान मुख्य श्रोता है।

(१) यागादि करने की आसक्ति शिष्य संग्रह और वक्ता की अपेक्षा अपने में उत्तमत्व का अभिमान यह शौनक के साधारण श्रोता होने का लक्षण था। अतः ये साधारण श्रोता माने गये हैं। (भा० नि० प्र० स्क० कारिका ३०)

(२) वैराग्य के साधन विज्ञान का आग्रह और नारद के सम्वाद के द्वारा प्रतिशोधन होने से व्यास को मध्यम श्रोता के लक्षणों वाला माना है। (उक्त कारिका ३१)

(३) शुकोक्तिमात्र से निःसन्दिग्धता तथा अन्य गुणों के कारण परीक्षित में मुख्य श्रोता के लक्षणों का समावेश होता है, अतः वे मुख्य है। (उक्त कारिका ३२, ३३)

प्र० स्क० में वक्ता के लक्षण के सम्बन्ध में कहा गया है—

'वक्ताधिकारी सर्वज्ञ सम्प्रदायेन सन्मुखात् ।
श्रुत भागवतो भक्तो ह्यविरक्त स्तथादिमः ॥

(भा० नि० प्र० स्क० २६)

(१) पुराण प्रवचन की वृत्ति होने के कारण सूतजी को शुकवत् फल सिद्धि न होने से उन्हे साधारण वक्ता माना गया है। (भा० नि० प्र० स्क० कारिका २७)

(२) कार्यावेशी भगवद्विभूति रूप, होने पर भी दृढ वैराग्य भाव के कारण नारद को मध्यम वक्ता माना गया है। (उक्त कारिका २८)

(३) पौराणिक प्रवचन के वृत्ति रूप साधारण लक्षण और कार्यावेशिता रूप मध्यम लक्षण से ऊपर सततभागवतानुशीलन एवं दृढ वैराग्य की स्थिति के कारण शुकाचार्य को मुख्य वक्ता माना गया है। उनकी मुक्ति न होकर उन्हें कथा के द्वारा जीवनमुक्ति अवस्था प्राप्त है। (उक्त कारिका २६)

२. द्वितीय स्कन्ध सुबोधिनी—

१ से लेकर १० अ० तक पूर्ण 'प्रकाशित' इसकी एक हस्त लिखित प्रति सं० १७०८ फा० शु० ७ चन्द्रवार की सर० मं० का० में शु० बन्ध सं० १, २ में विद्यमान है 'लेखक अज्ञात' शु० सि० कार्यालय बम्बई से प्रकाशित स० १९७६ ।

प्रस्तुत स्कन्ध पर निम्न लिखित साहित्य है—

(१) द्वि० स्क० सु० 'प्रकाश' श्रीपुरुषोत्तमजी रचित । प्र० स्क० के अनुसार इसमें भी सुबोधिनी का स्पष्टीकरण है। ग्रन्थकार ने स्वरचित प्रस्थानवाद 'प्रस्थान रत्नाकर भाष्य प्रकाश' नृसिंहोत्तर तापिनी एवं अधिकांश वाद ग्रन्थों के अनन्तर इसकी रचना की है क्योंकि प्रकाश में स्थान स्थान पर इनका नाम निर्देश है। यह ग्रन्थ बालकृष्ण शु० महासभा सूरत द्वारा स० १९८८ में प्रकाशित ।

(२) द्वि० स्क० सु० लेख, गो० श्रीवल्लभजी (विट्ठलेशात्मज) रचित । अप्रकाशित (इसकी सूचना प्रकाशित प्रकाश टीका की भूमिका में पं० चिम्मनलाल शा० ने दी है)

(३) द्वि० स्क० सु० विवरण—गो० श्री चाचागोपेशजी कृत 'अप्रकाशित' (सं० २ के अनुसार सूचना से विज्ञात) ।

(४) द्वि० स्क० सु० विवरण । 'गो० गोकुलोत्सव जी कृत' 'अप्रकाशित' (सं० २ के अनुसार सूचना से विदित)

(५) द्वि० स्क० सु० गुर्जर भाषानुवाद 'शास्त्री कल्याणजी-कानजी भाई कृत' प्रकाशित स० १९९८ वाडीलाल नगीनदास बम्बई द्वारा

(६) द्वि० स्क० सु० भाव बोधिनी टीका हिन्दी भाषानुवाद—देवर्षि 'श्री रमानाथजी शास्त्री कृत' प्र० अध्याय सं० १९९८ में विद्या-विभाग नाथद्वारा से प्रकाशित द्वितीय तृतीय और चतुर्थ अध्याय नाथद्वारा स्व० शास्त्री जी के पुत्र द्वारा प्रकाशित स० २००६ ।

ऐसा विदित हुआ था कि उक्त भावबोधिनी टीका सम्पूर्ण स्कन्ध पर की गई है, पर ग्रन्थकार अपने सामने प्रथमाध्याय ही प्रकाशित कर सके और दिवगत हो गये। बाद में उनके पुत्र श्रीव्रजनाथ

शास्त्री जी आगे के तीन अध्याय छपा सके और वे भी स्वर्गवासी हो गये। अब ग्रन्थ उनके पुत्रों के समीप हो तो कहा नहीं जा सकता।

(इसी ग्रन्थ—प्र० अ० के अन्त मे द्वि० स्क० भागवत निबन्ध का हिन्दी अनुवाद भी ग्रन्थकार कृत मुद्रित हुआ है।

स्वतन्त्र लेख—

(१) अदीन लीला हसितेक्षणोल्लसत्० (द्वि० स्क० २ अ० १० श्लोक) इत्यत्र विवरणम्। पो० श्रीबालकृष्ण शास्त्री रचित 'अप्रकाशित' प० कंठमणि शा० के सं० में विद्यमान।

(२) निरस्त साम्यातिशयेन—(द्वि० स्क० ४ अ० १४ श्लोक) इत्यत्र स्वतन्त्र लेख 'श्री हरिरायजी कृत' अप्रकाशित' (सर० भं० सु० व० ३४, २६)

(३) शृणवत् श्रद्धया नित्यं। (द्वि० स्क० ८ अ० ४ श्लोक) इत्यत्र स्वतन्त्र विवरण। अज्ञात कर्तृक। अप्रकाशित [सर० भं० का० सु० ब० ३४, २४]

(४) निर्णयार्णव के प्र० तथा द्वि० तृ० तरङ्ग मे लालूभट्टजी ने द्वि० स्कन्ध के कुछ स्थलों पर कुछ विचार व्यक्त किये हैं। प्रकाशित

द्वितीय स्कन्ध सु० परिदर्शन—

प्रस्तुत स्कन्ध सुबोधिनी मे आनन्द रूप श्रीहरि की गौण लीला रूप साधनों का निरूपण है। जो स्कन्धार्थ है। भा० नि० म शेष अर्थ का निरूपण करके अन्तिम तीन अर्थ सु० मे विवरित है।

प्रथम स्कन्ध वत् प्रत्येक अध्याय के आदि मे तथा अन्यत्र भी कारिकाओं द्वारा विषय की सगति का प्रादुर्भाव है। श्लोक सख्या की भी सगति वहीं कही गई है। १ से १० अ० तक भागवत श्रवण के साधनों पर प्रकाश डाला गया है।

इसका त्रिविध स्वरूप है —

१. आधिभौतिक—भागवत ग्रन्थ का यह द्वितीय स्कन्ध है जो दस अध्यायों मे विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में कई श्लोक हैं।

२. आध्यात्मिक—आनन्दमय श्रीहरि की गौण लीला मे

भावना का निरूपण किया गया है। नि० के अनुसार निर्दिष्ट विषयों, लक्षणों और गुणों का वर्णन है। भगवद्धर्म स्वरूप में यह स्कन्ध ज्ञान रूप है।

३. आधिदैविक—पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के रसमय विग्रह में द्वि० स्क० उनके वाम चरण रूप में अवस्थित है।

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी—

१ से ३३ अध्याय पर्यन्त समग्र प्रकाशित। सं० १६८४, नाथद्वारा वि० विभाग। इसकी प्राचीन प्रति स० १७०६ माघ शु० ५ बुध की लिखित। सर० भ० का० शु० य० ११३ पर विद्यमान है।

प्रस्तुत स्कन्ध की सुबोधिनी पर निम्नलिखित व्याख्याएं हैं।

(१) तृ० स्क० सु० प्रकाश। गो० श्रीपुरुषोत्तम जी कृत। सुबोधिनी के साथ नाथद्वारा से प्रकाशित। शुद्ध प्रति न मिलने से प्रारम्भिक ५ अ० तक पुस्तकान्त में छापा गया है। बाद में मूल के साथ। पूर्ववत् सुबोधिनी का विवरण है। इसकी प्राचीन प्रति स० भ० काकरौली में शु० व० ३०।३ पर विद्यमान है।

(२) तृ० स्क० सुबोधिनी लेख—गो० श्रीवल्लभजी कृत। अप्रकाशित।

स्वतन्त्र लेख

(३) "तस्यारविंद नयनस्य पदारविंद।" [स्क० ३ अ० १५ श्लोक ४३] इत्यत्र स्वतन्त्र लेख। अज्ञात कर्तृक—अप्रकाशित। सर० भ० शु० व० ३४, ६।

तृ० स्क० सुबोधिनी परिदर्शन—

इस स्कन्ध में आनन्द रूप श्रीहरि की दश विध लीलाओं के अन्तर्गत प्रथम सर्ग लीला का प्रतिपादन है। श्रुति के अभिप्रायानुसार परब्रह्म की रमण करने की इच्छा से सत्वादि गुणों के वैषम्य से पञ्च-महाभूत, पञ्चतन्मात्रा, एकादश इन्द्रियों और चतुर्विध अन्तःकरण की उत्पत्ति के प्रकार को सर्ग कहा जाता है। यही रूपान्तर में अशरीरी ईश्वर का स्थूल शरीर ग्रहण कहलाता है। भा० निबन्ध के निर्देशानुसार

इसके अध्याय प्रकरण आदि का विवरण नहीं है, और शेष का उक्त अध्यायों मे कथन है।

प्रत्येक अध्याय के आदि और यथावश्यक स्थान मे कारिकाओं द्वारा श्लोकों की पारम्परिक स्थिति स्पष्ट की गई है।

इसका त्रिविध रूप है—

१. आधिभौतिक—भागवत ग्रंथ के तृ० स्क० की ३३ अ० हैं जिसमे अनेक श्लोकों से प्रतिपाद्य विषय का वर्णन है।

२. आध्यात्मिक—आनन्दमय परमात्मा की प्रथम सर्ग नाम्नी लीला का निरूपण है। भा० नि० के अनुसार तत्र निर्दिष्ट लक्षणों, गुणों और कथानक के रूप मे वक्तव्यांश का स्पष्टीकरण हैं। भगवद्धर्म स्वरूप मे इसके वैराग्य का निरूपण मिलता है।

३. आधिदैविक - पूर्ण पुरुषोत्तम के रसमय विग्रह मे यह स्कन्ध दक्षिण बाहु स्थानीय है।

चतुर्थ स्कन्ध सुबोधिनी।

इसकी रचना नहीं हुई है।

इस स्कन्ध मे विसर्ग लीला का प्रतिपादन है। विसर्ग का तात्पर्य ब्रह्माजी द्वारा चराचर विश्व की उत्पत्ति है। इस स्कन्ध के निबन्ध मे शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ और अध्यायार्थ का कथन है, शेष तीन का निरूपण अवशिष्ट रह जाता है। इस स्कन्ध मे एक से लेकर ३१ अ० है।

सुबोधिनी न होने के कारण इस पर अन्य व्याख्याएँ नहीं हैं। कुछ स्वतन्त्र विवरण भी उपलब्ध नहीं होते।

इस स्कन्ध का त्रिविध स्वरूप है —

१. आधिभौतिक—भागवत का १ से लेकर ३१ अ० तक यह चतुर्थ स्कन्ध है। प्रत्येक अ० मे कई श्लोक हैं।

२. आध्यात्मिक—आनन्द रूप श्री हरि की दशविध लीलाओं मे तृतीय विसर्ग-लीला का प्रतिपादन है। भगवद्धर्म मे इसमे वैराग्य का निरूपण है।

३. आधिदैविक –पूर्ण पुरुषोत्तम के रसमय विग्रह में यह स्कन्ध वाम बाहु स्वरूप है जो श्री गोवर्द्धनोद्धरण के स्वरूप में ऊर्ध्व है?

पञ्चम स्कन्ध सुबोधिनी—इसकी रचना नहीं हुई।

इस स्कन्ध में भगवान् की स्थिति लीला का निरूपण है। स्थिति जिसे कहीं कहीं स्थान भी कहा गया है। परिभाषा के अनुसार-स्थिति वैकुण्ठ विजय'—चराचर में सर्वोत्कर्ष रूप से परमात्मा का सर्वत्र निवास कहलाता है। यावन्मात्र सृष्ट जगत के ऊपर मर्यादा पूर्वक उसे पालन द्वारा जो उत्कर्ष प्राप्त है वह विजय स्थिति या स्थान है। इस स्कन्ध के अन्त इसी लीला का कथन है।

सुबोधिनी न होने के कारण इस पर किसी विशेष व्याख्या की उपलब्धि नहीं होती।

निम्नलिखित प्रसङ्ग पर स्वतन्त्र लेख मिलता है—

(१) एवमेवास्मिन्नेव वर्षे।' (५ स्क० १६ अ० १६ श्लोक) के ऊपर तथा अहो अमीषा किमकारिशोभन। स्क० ५ अ० १६ श्लोक २१) पर अज्ञात कर्तृक स्वतन्त्र लेख (सर० भ० के शु० व० ३४, ६२) अप्रकाशित।

इसका त्रिविध रूप है—

१. आधिभौतिक—भागवत का पञ्चम स्कन्ध है जिसमें २६ अ० और प्रत्येक में कई श्लोक हैं।

२. आध्यात्मिक—आनन्द रूप श्री हरि की दशविध लीलाओं में तृ० स्थिति लीला का प्रतिपादन है। भा० नि० के अनुसार तन्निर्दिष्ट लक्षणों और गुणों का वर्णन यथा प्रसङ्ग रूप से है। भगवद्धर्म स्वरूप में यह वीर्य गुण का प्रतिपादक माना जाता है।

३. आधिदैविक—पूर्ण पुरुषोत्तम के रसमय विग्रह में दक्षिण सक्थि–ऊरु–स्वरूप है।

षष्ट स्कन्ध सुबोधिनी—इसकी रचना नहीं हुई है।

प्रस्तुत स्कन्ध में पोषण। पुष्टि लीला का निरूपण है। सृष्टि एवं

अनुप्रविष्ट जीवों पर स्वाभाविक अनुग्रह कर उन्हें परिपोषित करना पुष्टि लीला कहलाती है। इस स्कन्ध में इसी का कथन है।

सुबोधिनी न होने के कारण इस पर विशेष कोई व्याख्यान नहीं है। प्रासंगिक स्वतन्त्र लेख इस प्रकार मिलते हैं—

१. सकृन्मनः कृष्ण पदारविन्दयोः (६ स्क० १ अ० १६ श्लोक) इत्यत्र स्वतन्त्र लेख । गो० श्री देवकीनन्दनजी कृत । अप्रकाशित। (सर० भ० सु० बं० ३४, १५)

२. वृत्रासुर चतुःश्लोकी—(६ स्क० ११ अ० २४, २५, २६, २७ श्लोक) इन्द्र द्वारा वध किये जाने के पूर्व वृत्रासुर ने जो भगवत्प्रार्थना की है उसको 'वृत्र-चतुःश्लोकी' कहते हैं। भक्तिमार्ग की दृष्टि से यह बड़े महत्व की है।

इसके चार श्लोक भक्तिमार्गीय चतुर्विध पुरुषार्थ का बोध कराते हैं, और इनमें उनका वास्तविक स्वरूप प्रकट किया गया है।

क—अहं हरे तव पादैक मूल। इसमें पुष्टिमार्गीय धर्म है।

ख— न नाक पृष्ठं नच पार०। इसमें „ „ अर्थ है।

ग—अजात पक्षा यथ मातरं। इसमें „ „ काम है।

घ—ममोत्तम श्लोकजनेषुसख्यं। इसमें पुष्टिमार्गीय मोक्ष है।

इस श्लोक चतुष्टयी पर निम्न लिखित साहित्य की रचना हुई है।

(१) वृ० चतुःश्लोकी सूक्ष्म टीका—श्री वल्लभाचार्य कृत। अप्रकाशित। सर० भ० सु० बं० ३४, ४७।

(२) वृ० चतुःश्लोकी (कारिकाः) गो० श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण कृत। वृहत्स्तोत्र स० सा० में प्रकाशित। चार श्लोकों द्वारा इसका रहस्य कथन है। इसे आत्मा चतुः श्लोकी भी कहा जाता है।

(३) वृ० चतुःश्लोकी व्याख्या—गो० श्री विट्ठलेशप्रभुचरण कृत। प्रकाशित।

(४) वृ० चतुःश्लोकी व्याख्या—टिप्पणी। प्रभुचरण कृत व्याख्या पर गो० हरिरायजी कृत। प्रकाशित।

(५) वृ० चतुःश्लोकी प्रकाश। प्रभुचरण कृत व्याख्या पर गो० श्री पुरुषोत्तमजी कृत विवरण। प्रकाशित।

(६) वृ० चतु श्लोकी—सुबोधिनी व्रजभाषा टीका । अज्ञात कर्तृ का प्रकाशन जे आ ट्रस्ट फंड बम्बई द्वारा

(७) वृ० चतु श्लोकी—प्रभुचरण कृत व्याख्या का गुजराती भाषानुवाद । शास्त्री छगनलाल जी कृत । प्रकाशित बंबई सं० १६४६ ।

(८) वृत्रासुर चतु श्लोकी—प्रभुचरण व्याख्या का गुजराती भाषान्तर ।।शास्त्री चिम्मन लालजी कृत । प्रकाशित ।

(६) वृत्रासुर चतु श्लोकी व्याख्या लेख । गो०श्रीवल्लभजी कृत । श्री प्रभुचरण कृत व्याख्या पर लेख है, अप्रकाशित, सर० भ० शु० ग० ३४, ३७ ।

(१०) वृत्रासुर चतु श्लोकी-व्याख्या टिप्पणी—गो० श्रीगोपेश्वरजी कृत-ममोत्तम श्लोक इत्यत्र । अप्रकाशित सर० भ० शु० ग० ३४, ७४ । प्रस्तुत लेख में श्रीहरिरायजी कृत लेख से अधिक साम्य है ।

(११) अह हरे तव पादैक मूल० इत्यत्र स्वतन्त्र लेख—पो० श्री बालकृष्ण शास्त्री कृत अप्रकाशित । प० रुठमणि शा० के संग्रह म ।

(१२) वृत्रासुर चतु श्लोकी—हिन्दी भाषान्तर । रूपकिशोर शर्मा कृत प्रका० जे० आ० बवई इस स्कन्ध का त्रिविध स्वरूप—

१ आधिभौतिक—भागवत का षष्ठ स्कन्ध है जिसमें १६ अ० और प्रत्येक में कितने ही श्लोक हैं ।

२ आध्यात्मिक—आनन्द रूप श्री हरि की दशविध लीलाओं में चतुर्थ-पुष्टि-लीला का निरूपण है । भा० नि० के अनुसार तत् निर्दिष्ट लक्षणा और गु णका निरूपण कथात्मक ढग पर किया गया है । भगवद्धर्म रूप में यह वीर्य गुण का निरूपक माना जाता है ।

३ आधिदैविक—पूर्ण पुरुषोत्तम के रसमय विग्रह म यह वाम सक्थि-उरु-है ।

७. सप्तम स्कन्ध सुबोधिनी—इसकी रचना नहीं हुई ।

यह स्क ध 'ऊति' लीला का प्रतिपादक है । कर्म के द्वारा वृद्धि पाने वाली वासनाओं का नाम 'ऊति कहा जाता है । यह कर्ममयी वासना जाव की विविध गतियाँ प्रदान करती हैं । इसमें १५ अ० हैं ।

इस स्कन्ध की सुबोधिनी की रचना न होने से किसी प्रकार के व्याख्यान या स्वतन्त्र विवरण नहीं मिलते ।

इसका त्रिविध रूप:—

१. आधिभौतिक—भागवत का सप्तम स्कन्ध है, जिसमें १५ अ० और प्रत्येक में कई श्लोक हैं।

२. आध्यात्मिक—आनन्द रूप श्रीहरि की दशविध लीलाओं में पंचम 'ऊति' लीला का प्रतिपादन है। भा० नि० के अनुसार तत्र-तत्र निर्दिष्ट लक्षणों और गुणों के विषय का कथानक वर्णन किया गया है। भगवद्धर्म में इसमें ऐश्वर्य गुण का कथन है।

३. आधि दैविक—पूर्ण ब्रह्म के रसमय विग्रह में सप्तम स्कन्ध दक्षिण हस्त रूप से विद्यमान है जो श्रीगोवर्द्धनोद्धरण के स्वरूप में कटिपर विहित है, यह मुष्टि है जिसमें वासनाओं के सर्जक भक्तों के मन को अपने वश में कर रक्खा है। "मुष्टी कृत्य मनांसि न ।"

८. अष्टम स्कन्ध सुबोधिनी—स्म, स्कन्ध की सुबोधिनी का प्रणयन नहीं हुआ है।

इसमें मन्वन्तर लीला के प्रतिपादन से भगवान के द्वारा नियुक्त अनुगृहीत मन्वन्तराधिपतियों की धर्म-व्यवस्था के द्वारा इस लीला का वर्णन किया गया है। इसमें २४ अ० है।

सुबोधिनी के न होने से किसी अन्य व्याख्या या प्रासंगिक विवेचन इस स्कन्ध में नहीं मिलता।

इसका त्रिविध रूप है:—

१. आधिभौतिक—भागवत का अष्टम स्कन्ध है, जिसमें २४ अ० है, और प्रत्येक में कई श्लोकों द्वारा विषय का निरूपण है।

२. आध्यात्मिक—आनन्द रूप श्री हरि की दश विध लीलाओं में से षष्ठ—सद्धर्म या मन्वन्तर लीला का कथन है। भा० नि० के अनुसार तत्तत्र निर्दिष्ट लक्षणों गुणों से कथात्मक रूप से वस्तु-निरूपण है। भगवद्धर्म से यह उनका ऐश्वर्य निरूपक स्कन्ध है।

३. आधिदैविक—परब्रह्म श्रीकृष्ण के रसमय विग्रह में अष्टम स्कन्ध दक्षिण स्तन रूप माना जाता है। भागवत के एक अन्य वचन द्वारा "धर्मस्तनाद्दक्षिणतः" मन्वन्तरात्मक धर्म की उत्पत्ति भी इसी स्तन से है।

९. नवम स्कन्ध सुबोधिनी—इस स्कन्ध की सुबोधिनी का प्रथन नहीं हुआ है।

प्रस्तुत स्कन्ध में 'ईशानुकथा' का वर्णन है। भगवान् के अवतार और उनके अनु-अनुचरों-के चरित्र का वर्णन 'ईशानुकथा' कहलाती है। इसमें २४ अ० हैं।

सुबोधिनी के निर्माण न होने से उसके विवरण रूप में या स्वतन्त्र रूप से किसी व्याख्या का प्रणयन नहीं हुआ है।

इसका त्रिविध रूपः—

१. आधिभौतिक—भागवत का नवम स्कन्ध है, जिसमें २४ अ० और प्रत्येक में कई श्लोक हैं।

२. आध्यात्मिक—आनन्द रूप श्री हरि की दश लीलाओं में से सप्तम लीला'ईशानुकथा'इसमें वर्णन है। भाग० नि० के अनुसार तत्तत्र निर्दिष्ट लक्षणों और गुणों के द्वारा भगवत्कथा का निरूपण है।

भगवद् धर्म रूप में इस स्कन्ध में यश का निरूपण है।

३. आधिदैविक—परमात्मा श्रीकृष्ण के रसमय विग्रह में यह स्कन्ध वाम स्तन रूप माना जाता है। भगवच्चरित्र और भक्त चरित्र भी धर्म स्वरूप होने से वक्षःस्थल रूप है।

१०. दशम स्कन्ध सुबोधिनी—

१ से लेकर ६० अ० तक समग्र प्रकाशित—इसके दो खंड हैं—

क—पूर्वार्द्ध—१ से ४६ अ० तक जिसमें १२, १३, १४ यह तीन अ० प्रक्षिप्त माने जाते हैं—

ख—उत्तरार्द्ध—५० से ६० अ० तक—

इस प्रकार सम्पूर्ण दशम में ६० अ० हैं और प्रक्षिप्त को छोड़कर ८७। यद्यपि उक्त अध्याय त्रयी पर सुबोधिनी विद्यमान है। दशम के अध्याय विभागार्थ आचार्य का कथन है—

(१) चतुर्भिश्च (२) चतुर्भिश्च (३) चतुर्भिश्च (४) त्रिभि स्तथा (६) षड्भि र्विराजते योसौ पंचधा हृदये मम। (द० स्क० कारि) तदनुसार विभाग इस प्रकार है—

(१) जन्म-प्रकरण सुबोधिनी—१ से ४ अ० तक।

(२) तामस-प्रकरण, प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल प्रकरण प्रत्येक सात सात से २८ अ०।

(३) राजस-प्रकरण, प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल प्रकरण प्रत्येक सात सात अ० से २८ अ०।

स्पष्टार्थक होने के कारण इस पर किसी प्रकार की टीका या विवरण नहीं है।

इसी अनुक्रमणिका के श्रवण से महात्मा सूरदास जी और परमानन्ददास जी के हृदय में भगवल्लीला की स्फुरणा हुई और उन्हें प्रेम लक्षणा भक्ति के सिद्ध हो जाने से लीला गान की सामर्थ्य की प्राप्ति। फलस्वरूप 'सूरसागर' और 'परमानन्द सागर' का प्रादुर्भाव हुआ।*

इसी प्रकार सुबोधिनी में भी सात्विक प्रकरण में ऐसा ही क्रम भेद विद्यमान है। यहाँ छह छह अ० से गुणों-ऐश्वर्य वीर्य आदि का निरूपण किया गया है। पर धर्मी स्वरूप-प्रमेय धर्मी, साधन धर्मी और फलधर्मी का अन्त के संलग्न तीन अ० में वर्णन है—अर्थात् लगातार १८ अ० तक प्रमेय साधन और फल के धर्मों के वर्णन की समाप्ति के अनन्तर उनके धर्मी तीनों स्वरूपों का एक साथ ही वर्णन है।

निबन्ध में इस प्रकार की क्रम विवक्षा नहीं है—सुबोधिनी में तो प्रमेय साधन फल निरूपक सात्विक प्रकरण के अवान्तर प्रकरणों में छै छै अध्यायों द्वारा धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का वर्णन है अर्थात् प्रमेय में धर्म का, साधन में अर्थ का और फल में काम का, धर्मि निरूपक तीन अध्यायों में मोक्ष का निरूपण है। इस प्रकार सात्विक प्रकरण के इन २१ अध्यायों में पुरुषार्थ चतुष्टयी की भी विवक्षा है, एतावता दोनों क्रम मिलते हैं—(निर्भय राम कृत कारिका व्याख्या द० स्क० सु०)

दशम स्कन्ध के स्कन्धार्थ सम्बन्ध में सुबोधिनी में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस विषय में दो धारणायें चलती हैं—

(१) दशम स्कन्ध 'निरोध' लीला का प्रतिपादक है।

(२) दशम स्कन्ध 'आश्रय' लीला का प्रतिपादक है।

भागवत की मुद्रित आठ टीकाओं में अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार दोनों पक्षों को सिद्ध किया गया है। श्रीवल्लभाचार्य जैसा कि प्रथम कहा गया है निरोधार्थ को ही मान्यता प्रदान करते हैं, जो कि क्रम प्राप्त है।

* अष्टछाप (वार्ता सं० १६६७ सम्पादन) वि० वि० कांकरोली प्रकाशन।

प्रस्तुत दशम स्कन्ध सुबोधिनी अपने विवरण व्याख्यान और टिप्पण के साथ समग्र प्रकाशित होगई है। जो आगे निर्दिष्ट अवान्तर प्रकरणों के खंड रूप में है। इसकी हस्तलिखित प्राचीन प्रति इस प्रकार है—

१ पूर्वार्द्ध—सं० १६४६ आ० कृ० १३। लेखक-रघुनाथ शर्मा। सर० भ० शु० थं० ६, १.

२ उत्तरार्द्ध—सं० १७०८। लेखक-भगवानदास। सर० भं० शु० थं० १६. १. सर० भं० में अन्य भी कई प्रतियां विद्यमान हैं।

दशम स्कन्ध का सुबोधिनी प्रकरण-विभाग इस प्रकार प्रकाशित है।

१—(प्रथम) जन्म प्रकरण अध्याय द्वयी—सुबोधिनी (१, २, अ०) प्रका० सं० १९८३।

इसमें निम्नलिखित साहित्य समाविष्ट है—

क—विवृति-टिप्पणी। श्रीविट्ठलेश्वर प्रभु विरचित। इसका द्वि० नाम 'विवृति प्रकाश' भी है। इसकी पांडु लिपि सूरत के बड़े मन्दिर में विद्यमान है, यह मूल ग्रन्थ दशम के सुबोधिनी विवरण पर एक ग्रन्थ के रूप में प्रक्षिप्त अ० त्रयी को छोड़ कर १ से ३२ अ० पर्यन्त भ्रमर गीत के साथ सं० १६५७ में प्रकाशित की गई है जो श्रीगुसांई जी की हस्तलिखित मूल प्रति से सम्पादित है। टिप्पणी में सुबोधिनी के रहस्य और कठिनांश का प्रकाशन और विवेचन है। इसके बिना सहसा मूलग्रन्थ का अभिप्राय समझना दुरूह सा हो जाता है।*

ख—सुबोधिनी—टिप्पण्योः प्रकाश—गो० श्री पुरुषोत्तमजी रचित। इसमें सुबोधिनी और प्रभुचरण कृत टिप्पणी दोनों के अर्थ का विशदीकरण है। यह 'प्रकाश' ग्रंथकार ने अपने पितृचरण श्रीयदुपति तनुज पीताम्बर जी के नाम पर रखा है।

---

* प्रभुचरण कृत टिप्पणी की प्रति जिसमें १, से ३२ अ० है सर० भ० शाक० में पु० ब० २०, ३ पर विद्यमान है, जिसका ले० काल सं० १७७२, भा० शु० १५ भृगु है।

ग—सुबोधिनी-लेख—गो० श्री वल्लभजी महाराज कृत। सुबोधिनी का भावार्थ—जो स्वतन्त्र रूप से विवेचन है।

घ—सुबोधिनी योजना—गो० श्रीलालूभट्टापनामक श्रीबालकृष्ण विरचित। इसमें 'विवृति' के सन्देह का विध्वंसन किया है।

ङ—सुबोधिनी कारिका-व्याख्या—पं० निर्भयराम भट्ट कृत—सुबो० की प्रारम्भिक आर्याओं की व्याख्या इसके निर्माण का हेतु है।

च—शास्त्र-लीला मुमुक्षु-बोधिनी—श्री गो० योगिगोपेश्वर जी कृत। १, २ अ० के साथ ३, ४ अ० पर्यन्त ग्रंथ रूप में सं० १९९४ में प्रकाशित। सुबोधिनी, टिप्पणी, प्रकाश और लेख सभी के आधार पर विशद विवेचन है।

छ-टिप्पणीस्थ मङ्गलाचरण। 'नमः श्रीकृष्ण पादाब्ज०' इत्यत्र स्वतन्त्र लेख—श्रीगोपेश्वर जी कृत—टिप्पणी के परिशिष्ट में प्रका०।

ज—'नमामि हृदये शेषे' इत्यस्य टिप्पिण्यां मूले 'अनुशयन शब्दस्य' इत्यत्र स्व० लेखः गोस्वामी श्रीहरिराय जी कृत। प्रका० उक्त परिशिष्ट में।

झ—जन्म प्रकरण अ० द्वयी गुर्जर भाषानुवाद—श्रीहरिशङ्कर शास्त्री कृत। प्रस्तुत अनुवाद में प्रथम श्लोक का और बाद में सुबोधिनी का अनुवाद है।

प्र० प्र० जन्म प्रकरण ३, ४ अध्याय सुबोधिनी। श्री वल्लभाचार्य विरचित। प्रथम और द्वि० अध्याय के समान यावत्प्राप्य साहित्य के साथ जिसका ऊपर निर्देश किया गया है। प्रकाशित है सं० १९८५।

इसकी हस्तलिखित मूल प्रति श्री त्रिभङ्गीरायजी मन्दिर बंबई के संग्रहालय में है।

गुजराती अनुवाद श्री नानूलाल गाँधी, एम. ए. कृत। प्रकाशित है। स०

'विष्णो वीर्याणिशंसनः' (द. १ अ) इत्यत्र व्याख्या—
सर० मं० का० शु० व० १०२।१८ अप्रकाशित।

'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं' (द० १ अ०) इत्यत्र संशयनिरासः अज्ञात कर्तृ। अप्रका० सर० मं० बांक० शु० सं० ७२।२४

(क) द्वितीय तामस प्रकरणावान्तर प्र० प्रमाण प्रकरण। सुबो० (द० स्क० ५ से ११ अ०)

तथा

कौतुक लीला प्रक्षिप्ताध्यायत्रयी। (द० स्क० १२, १३, १४ अ० सुबो०) प्रकाशित सं० १९८४। तेलीवाला बम्बई द्वारा। निम्नलिखित साहित्य के साथ।

(क) टिप्पणी, श्री विट्ठलेश्वर प्रभुचरण रचित, श्रीमती टिप्पणी के नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप में प्रकाशित।

(ख) प्रकाश—श्रीपुरुषोत्तम जी विरचित। तामस प्रमाण और प्रमेय द्वय प्रकाश नाम से स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित। सं० १९८८। (अ० ५ से ११ तथा १२ से १७ अ० तक)

(ग) सुबोधिनी-लेख गो० श्रीवल्लभजी कृत (५ से २५ अ० तक)

(घ) सुबोधिनी-योजना—दीक्षित लालूभट्ट जी कृत।

(ङ) सुबोधिनी-कारिकार्थ—प० निर्भयराम भट्ट कृत। (५ से ३२ अ० पर्यन्त)

ग, घ, ङ, नामक तीनों ग्रन्थ श्री भा० द० स्क० सुबोधिन्या-विवरणत्रयम् नाम से प्रथक् ग्रन्थ रूप में प्रकाशित सं० १९९३। लेख और कारिकार्थ की मूल प्रतियाँ ग्रन्थकार द्वारा संशोधित सर० भ० का० में विद्यमान हैं।

(च) तामस प्रकरण सुबो० गुर्जर भाषानुवाद—श्रीमानूलाल गांधी कृत। इसमें ५ से ११ अ० प्रकरण के तथा प्रक्षिप्त के तीनों अध्यायों का अनुवाद है। प्रका० सं० १९९७।

स्वतन्त्र लेख

१—'नन्द स्त्वात्मज उत्पन्ने' (द० स्क० ५ अ० १ श्लोक) इत्यत्र विचार. अज्ञात कर्तृक। अप्रकाशित। सर० भं० गु० वं० ७२, २४ तथा ८८, १, २।

२—'भगवतः शृंगस्थि दंष्ट्रय मिव (द० स्क० ८ अ० २५ श्लोक) इत्यत्र लेख। गो० श्री विट्ठलेश्वर कृत। अप्रकाशित सर० भ० गु० वं० ३५, २३।

३—सद्यो नष्ट स्मृतिर्गोपी० (द० स्क० ८ अध्याय ४४ श्लोक) इत्यत्र लेखः । अज्ञात कर्तृक । अप्रकाशित । सर० भं० शु० बं० ७२,२ ।

४—सद्यो नष्ट स्मृतिर्गोपी० इत्यत्र टिप्पण्युपरि विचारः गो० श्रीव्रजभूषण जी कृत । अप्रकाशित । सर० भं० शु० बं० ८८, १, १ ।

५—निन्नायनैः सेतुबन्धे० (द० १४।६१) इत्यस्य विवरणे ब्रह्मणोपी स्यादेः टिप्पणे कारिकाभिरर्थं निरूपणे सूक्ष्म रूपेणोत्यादि विवरणम् । गो० श्री हरिराय जी कृत । प्रकाशित टिप्पणादि के परिशिष्ट में ।

प्रक्षिप्त अध्याय त्रयी के सम्बन्ध मे सुबोधिनी-कार ने प्रारम्भ में कहा है—

कथा मात्रं हरे र्वाच्यं सर्वत्रैत्यत्र केचन ।
कथां वक्तु ं भागवतीं क्वाचित् सिद्धा मलौकिकीम् ॥१॥
योजयित्वास्त्वाधुनिका अध्याय त्रितयं जगुः
शब्दार्थ संगीतीर्नाहि स्पष्टा तत्र विरुद्धता ॥२।

इसी आधार पर श्रीगोपेश्वर जी तथा श्रीगिरिधर जी ने अपने अपने विवरणों में कहा है कि १ पूर्वा पर प्रकरण विरोध, २ भगवल्लीलाओं की अनुक्रमणिकाओं में अनुल्लेख. तथा ३ कई टीकाकारों के अभिप्राय आदि कारणों से यह अध्याय प्रक्षिप्त है । इन अध्याय त्रयों पर निम्नलिखित साहित्य उपलब्ध होता है—

१—अध्याय त्रय प्रक्षिप्तत्व समर्थनम् । श्री गोपेश्वरजी कृत । प्रकाशित ।

२—अध्याय त्रय प्रक्षिप्तत्व समर्थने जपमाला । पं० श्रीगङ्गाधर भट्ट विरचित । प्रकाशित ।

३—अध्याय त्रय प्रक्षिप्तत्व समर्थनम्—गो० श्रीगिरिधरजी विरचित । प्रकाशित ।

यह तीनों ग्रन्थ वा० शु० महा सभा सूरत द्वारा प्रकाशित हैं ।

(द्वि०) तामस प्र० अवान्तर द्वि० प्रमेय प्रकरण सुबोधिनी—

इसमें मूल १५ से लेकर २१ अध्याय तक का समावेश है । प्रक्षिप्त अध्याय त्रय की संख्या न गिनने पर इसे १२ से १८ अ० कहा जाता है । (यह संख्या का व्यतिक्रम—तीन अध्याय का परक अन्त

तक चला गया है। इस पर निम्नलिखित साहित्य है। जिसका विवरण प्रथम के अनुसार समझना चाहिये।

क—टिप्पणी—श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण कृत, प्रकाशित।
ख—प्रकाश—गो० श्रीपुरुषोत्तमजी कृत। प्रकाशित।
ग—लेख—गो० श्रीवल्लभजी कृत। १२ से १८ अ०।
घ—योजना—श्रीलालू भट्ट कृत। १२ से १८ अ०
ङ—कारिकार्थ—श्री निर्भयराम भट्ट कृत। १२ से १८ अ०

अन्तिम तीनों ग्रन्थ मा० द० स्क० सुबोधिन्याव्याख्यात्रयम् नाम से प्रकाशित है।

च—तामस प्रमेय प्रकरण सु० गुर्जर भाषानुवाद। श्री नानूलाल गाँधी कृत। प्रकाशित सं० १९९६।

इस प्रकरण का अन्तिम अध्याय 'वेणुगीत' नाम से प्रसिद्ध है, जिस पर निम्नलिखित साहित्य रचा गया है।

(१) वेणुगीत (अक्षण्वतां फलमिदं इत्यादि १८वां अध्याय) सुबोधिनी—गुजराती भाषानुवाद—श्री मगनलालजी शास्त्री समस्त टीकाओं के आधार पर प्रस्तुत। प्रकाशित—सं० १९९३।

(२) वेणुगीत सुबोधिनी-व्रजभाषानुवाद। स्वामी गोपीनाथजी के आत्मज श्री रूपकिशोर शर्मा। प्रकाशित।

स्वतन्त्र विवरण

(१) 'पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय०'। (द० १८ अ० १७ श्लोक) इत्यत्र स्वतन्त्र लेख। अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

(२) 'गोप्यः किमाचरदयं'। (द० १८ अ० ९ श्लोक) इत्यत्र स्वतन्त्र लेख गो० श्री देवकीनन्दनजी कृत। अप्रकाशित। सर० भं० शु० पं० ३४, ७७।

(३) 'बर्हापीडं नटवर वपु.' (द० १८ अ० ५ श्लोक) इत्यत्र स्वतन्त्र लेखः। पो० बालकृष्ण शास्त्री रचित, कंठमणि शा० के संग्रह में।

(४) 'धन्यास्तु मूढमतयोपि' (द० १८ अ० ११ श्लोक) इत्यत्र स्वतन्त्र लेखः। गो० श्रीगोकुलनाथ जी कृत। प्रकाशित। सर० भं० शु० ग्रन्थ २४, २९।

(५) 'गायत्सु कृष्ण मुख्य०'। (द० १८ श्लोक १३) इत्यत्र स्व० लेख श्रीहरिरायजी कृत। प्रकाशित।

(द्वि०) तामस प्र० अवान्तर तृ० साधन प्रकरण सुबोधिनी
—मूलतः २२ अ० से २८ अ० तक। क्रम से १६ से २५ अ०। प्रकाशित सं० १६८८।

प्रथम के अनुसार ही ग्रन्थ रूप में निम्नलिखित साहित्य उपलब्ध होता है।

क—टिप्पणी—श्री विट्ठलेश्वर प्रभुचरण कृत। प्रकाशित।
ख—लेख। श्रीवल्लभजी कृत।
ग—योजना—श्रीलालू भट्ट जी कृत। प्रकाशित।
घ—कारिकार्थ—पं० निर्भयराम कृत। प्रकाशित।
अन्तिम तीन ग्रन्थ व्याख्यात्रय नाम से प्रकाशित हैं।
ङ—तामस साधन प्रकरण सु० गुजराती भाषानुवाद।
श्री धीरजलालजी साँकलिया कृत। प्रकाशित १६६१

स्वतन्त्र लेख

(१) 'कात्यायिनि महामाये०' (द० १६ अ० ४ श्लोक) इत्यत्र स्वतन्त्र लेखः। गो० श्री मुरलीधरात्मज श्री पुरुषोत्तम कृत। अप्रकाशित सर० भ० शु० सं० १०६, ३६।

(द्वि०) तामस प्र० अवान्तर चतुर्थ फल प्रकरण सुबोधिनी
—रास पंचाध्यायी अवान्तर क्रम प्राप्त २६ से ३२ अ० साधारणतः २६ से ३५ अ० प्रकाशित। सं० १६८०।

इस प्रकरण पर निम्नलिखित साहित्य है।

क—टिप्पणी—श्री विट्ठलेश्वर प्रभुचरण कृत। स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप में पूर्ववत्।

ख—टिप्पणी व्याख्या—श्री गोपेश्वरजी कृत। अप्रकाशित। सर० भ० शु० सं० ११३, ३७।

ग—लेख। श्री वल्लभजी महाराज कृत। सुबोधिनी के साथ प्रकाशित। सं० १६८०।

घ—योजना—श्रीलालूभट्ट जी कृत। स्वतन्त्र प्रकाशित सं०१६८१

ङ—कारिकार्थ—श्री निर्भयराम भट्ट कृत। व्याख्यात्रय के साथ प्रकाशित।

च—तामस फल प्रकरण सुबोधिनी गुर्जरभाषानुवाद।

श्री गोविन्दलाल भट्ट कृत। प्रकाशित सं० १९९६। समस्त साहित्य के आधार पर।

छ—रासपंचाध्यायी सुबो० गुर्जरभाषानुवाद—प्रो० जेठालाल शाह एम. ए. कृत लल्लूभाई अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित।

ज—युगल गीत 'बालबाहु कृत' आदि सुबोधिनी गुजराती भाषान्तर—द० ३२ अ०। श्री मगनलाल शा० कृत। प्रका० स० १९८६

झ—युगलगीत सुबोधिनी-हिन्दी भाषानुवाद—पं० श्रीमाधव शर्मा, काशी प्रकाशित अनुवाद द्वारा।

प्रस्तुत 'तामस-फल-प्रकरण' रास-पञ्चाध्यायी नाम से भी प्रसिद्ध है। इसे श्रीभागवत का हृदय माना जाता है। निःसाधन जीवों पर प्रभु की अतिशय करुणा-स्वरूप दान रूप में प्रकट होने के कारण इसे 'फल-प्रकरण' कहा गया है। राजस और सात्विक जीव अपने साधनानुष्ठान अथवा स्वकीय आग्रह के द्वारा स्वयं शरण परायण होकर प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, पर जो तामस जीव हैं उनका उद्धार तो श्रीहरि की कृपा बिना असंभव हो जाता है अतः यह रास-पञ्चाध्यायी जिसे स्वरूपानन्द दानात्मक रस-समूह की अभिख्या से निर्दिष्ट किया जा सकता है, सबसे मौलिक और सरस प्रकरण है, इस पर भक्तिमार्गीय सभी आचार्यों का ध्यान है, श्रीवल्लभाचार्य भी इसे दशम निरोध लीला का फल स्वीकार करते हैं, अतः सुबोधिनी पर इस प्रकरण में जहाँ विशेष बल है वहाँ अन्य व्याख्या और स्वतन्त्र विवेचन भी इस पर अतिशय मिलते हैं।

इस प्रकरण में आगत विषयों पर जो स्वतन्त्र लेखादि मिलते हैं वे इस प्रकार हैं।*

१—भगवानपिता रात्री—(द० २६ अ० १ श्लोक)। गोस्वामी श्री विट्ठलेश्वर प्रभुचरण कृत। प्रकाशित फल प्रकरण सु० के साथ।

२—ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्य। (द० २६, १...) इति कारिका व्याख्या। गो० श्रीब्रजभूषण जी रचित। अप्रकाशित। सर० गु० प० ३३, ७७।

*इस प्रकरण व स्वतन्त्र प्रकाशित लेख तामस फल प्र० सुबोधिनी के साथ प्रकाशित हैं।

३—तदोडुराजः ककुभः करैः (द० २६, २) इत्यत्र स्वतन्त्र लेख। गो० श्रीहरिरायजी कृत। प्रकाशित।

४—तदोडुराजः ककुभः करैः (,, ,, ,,) इत्यत्र स्वतन्त्र लेख। अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

५—चर्षणयः अत्र परिभ्रमण शक्तयः (द० २६, ७) स्व० लेख.। अज्ञात कर्तृक प्रका०।

६—कामं क्रोधं भय। (द० २६, १५।) इत्यत्र स्वतन्त्र लेख। अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

७—अथवा मद्भिस्नेहात्। (द० २६, २२) इत्यत्र स्व० लेखः। अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

८—एतच्च भजनं न विषयवत्। (द० २६, ३१) इत्यत्र स्व० लेख। गो० श्रीरघुनाथात्मज देवकी नन्दन कृत। प्रकाशित।

९— ,, ,, ,, ,, ,, ,, इत्यत्र स्व० लेखः। अज्ञात कर्तृक प्रकाशित।

१०—मैवं विभो र्हति भवान। (द० २६, ३१)। इत्यत्र स्व० लेखः। अज्ञात कर्तृक प्रका०।

११—क्रिया सर्वापि सैवात्र (द० २६, ४०) इत्यत्र स्वाचार्य कारिकाशय-विवरणम्। गो० श्रीहरिरायजी कृत। प्रकाशित।

१२— ,, ,, ,, ,, ,, इत्यत्र स्व० लेख गो० श्रीगोकुलनाथजी कृत। अप्रकाशित, अप्राप्त।

१३—तत्रैवान्तर धीयत। (द० २६, ४८) इत्यत्र स्व० लेख.। श्रीहरिरायजी कृत। प्रकाशित।

१४—जयति तेधिक जन्मना (द० २८, १) इत्यत्र स्व० लेखः। अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

१५—न खलु गोपिकानन्दनो (द० २८, ४) इत्यत्र स्व० लेखः अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

इस प्रकरण के स्वतन्त्र प्रकाशित लेख तामस फल प्रकरण सु० के साथ प्रकाशित हैं।

१६—प्रणत देहिनां पाप० इत्यत्र प्रणतानां कथं पापमुपद्यते, इत्यत्र विचारः। (द० २८, ११) श्रीगोकुलनाथजी कृत। प्रकाशित।

१७—पाल्यानां चर्मं न परिधेयम् इत्यत्र (द० २८, ११) स्व० विचारः। गो० श्रीहरिरायजी कृत। प्रकाशित।

१८—विन परिहये नील० (द० २८, १२) इत्यत्र आभासे टिप्पणी। अज्ञात कर्तृक। अप्रकाशित। सर० भ० शु० ध० ३४, ५।

१९—तामामाविरभूत० (द० २६, २) इत्यत्र स्व० लेखः। श्रीप्रभुचरण कृत। प्रकाशित।

२०— ” ” ” ” इत्यस्याभासे विवृतौ आशयः। गो० श्रीहरिराय जी कृत। प्रकाशित।

२१—षोडश गोपिका संख्या तात्पर्य वर्णनम्। (द० ३०, १६) पं० श्री तुलजाराम भट्ट कृत। प्रकाशित।

२२—भजतोनुभजन्त्येक—द० २६, १६-इत्यत्र प्रमेय दीपिका। श्री पाठक हरिकृष्ण विरचित। प्रकाशित।

२३—कुंडलै र्गण्ड लोलै। (द० ३० ८) इत्यत्र स्वतन्त्र लेखः, अज्ञात कर्तृक प्रकाशित।

२४—ताभिर्विधूत शोकाभिः। (द० ३०, १०) ” ” ” अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

२५—भ्रमर गायक रास गोष्ठ्यां। इत्यत्र स्व० लेखः। अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

२६—अतः परं राधा दामोदर यत्। ” ” ” ” प्रकाशित।

२७—सोम्य स्थलं युवतिभिः। इत्यत्र स्व० लेखः। श्रीहरिरायजी कृत। अप्रकाशित। सर० भ० शु० ध० ३४, १३।

२८—एवं शशांशाशु विराजिता। (द० ३०, २६) इत्यत्र स्व० लेखः अज्ञात कर्तृक। अप्रकाशित।

२९—मणिधरः क्वचिद्। (द० ३२, १८) इत्यत्र स्व० लेखः अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

३०—दैत्यस्त्रीणामपि वेणुनादेन विरमोत्पत्ति। इत्यत्र स्व० लेख। (द० ३२ अ०) अज्ञात कर्तृक।

३१—यथा यथा भक्तानां स्व० (द० ३२ अ०) इत्यत्र स्वतन्त्र लेख: अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

३२—टिप्पण्यां। तेन लोके सत्यं व्रतं चेत्यारभ्य धर्माचेति षोडशधा इत्यन्ते ग्रन्थे सत्यं विव्रियते। स्व० लेख: गो० श्रीकल्याणराय कृत प्रकाशित। टिप्पणी के परिशिष्ट में।

३३—कृष्णविक्रीडितं—इत्यत्र स्वतंत्र लेख: गो० श्रीहरिरायजी कृत। सर० भं० ३४/२५ (भा० ८० २८/१६)

३४—वेणुगीते एव दशविध लीला उक्ताः द्वितीय टीकायाम्- इति निर्देशा—स्व० लेख अज्ञात कर्तृक कोडपत्र। पो० कण्ठमणि शास्त्री के संग्रह में

३५—श्रीमानोगूढः पुष्टिमार्गेतत्त्वम्- इत्यत्र स्व० लेख। गो० श्रीहरिरायजी कृत। वेणुगीत सुबोधिनी में प्रकाशित।

३६—'वृन्दावन 'गुणातीतं' इति कारिकोपरि स्वतन्त्र लेख: अज्ञात कर्तृक। वेणुगीत सुबोधिनी में प्रकाशित।

३७—एवं संभाषितो गोपैः इत्यत्र स्वतन्त्र लेख:। अज्ञात कर्तृक अप्रका०। मथुरेश पु० भ० काकरोली बन्ध २।४४।४

३८—गोपिका गीत सुबोधिनी-गुर्जर भाषानुवाद-पं० श्रीमगन लालजी शास्त्री कृत। प्रकाशित चुन्नीलाल परीख बंबई द्वारा।

३९—गोपिका गीत सुबोधिनी-हिन्दी भाषानुवाद-पं० श्रीमाधव शर्मा काशी कृत। प्रकाशित अनुवादक द्वारा।

४—वेणुगीत सुबोधिनी व्रजभाषानुवाद। अज्ञात कर्तृक। अप्रकाशित। सर० भं० काक० शु० सं० ६३, ७

क. (तृतीय) राजस प्रकरणायान्तर प्रथम प्रमाण प्रकरण- सुबोधिनी—(द० स्क० २३ से २६ अ० पर्यन्त) प्रकाशित। सं० १६६५ तेली वाला बंबई।

इसका निम्नलिखित साहित्य उपलब्ध होता है।

(क) लेख—गो० श्रीवल्लभजी महाराज कृत। प्रकाशित मूल ग्रन्थ के साथ।

(ग) राजस प्र० प्रकरण सुबो० गुर्जरभाषानुवाद—श्रीनानूलाल जा गांधी कृत। प्रकाशित सं० २००४।

ख. तृतीय रा०- प्रकरणावान्तर द्वि० प्रमेय प्रकरण सुबोधिनी—(द० स्क० ४० से ४६ अ०) प्रकाशित सं० १६८५—यहाँ प्रक्षिप्त के तीन अध्याय की संख्या जोड़ देने पर ४६ अ० हो जाते हैं। अतः यहां पूर्वार्द्ध समाप्त है।

इसका निम्नलिखित साहित्य उपलब्ध है—

(क) लेख—गो० श्रीवल्लभजी महाराज कृत। प्रकाशित सं० १६८५ मूल ग्रंथ के साथ।

(ख) राजस प्रमेय-प्रकरण-गुर्जर भाषानुवाद—श्री नानूलाल गांधी कृत। प्रकाशित।

इस प्रकरण का ४३ वां अ० (प्रक्षिप्त सं० मिलाकर ४७ वां अ०) *'भ्रमर-गीत'* कहलाता है। इसकी सुबोधिनी साथ में प्रकाशित है। इसके ऊपर निम्नलिखित साहित्य उपलब्ध है—

१—भ्रमर गीताध्याय टिप्पणी—गो० श्री विठ्ठलेश्वर प्रभुचरण विरचित। श्रीमती टिप्पणी नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित सं० १६८७ तथा प्रकरणस्थ सुबोधिनी के परिशिष्ट में भी प्रकाशित। सं० १६८५। सुबोधिनी के कठिनांश का विवेचन किया है।

२—भ्रमर-गीत-सुबोधिनी-प्रकाश-गो० श्री पुरुषोत्तम जी विरचित। प्रकाशित,। मूल ग्रन्थ सु० के साथ। ४५ तथा ४६ अध्याय का।

३—भ्रमर-गीत सुबोधिनी-दीपिका। गो० श्री हरिरायजी कृत। प्रकाशित मूल ग्रंथ के साथ।

४—भ्रमरगीतीय पद्य संशयोच्छेद—गो० श्रीहरिरायजी कृत। स्वतन्त्र टिप्पण—ततस्ता कृष्ण संदेशैः इति श्लोक सुबोधिन्याः प्रका०।

५-त्रिचत्वारिंशाध्याय—भ्रमरगीत सुबोधिनी—विवृति—गो० श्रीश्यामलालात्मज व्रजरायजी कृत। प्रकाशित। सं० १६८५। मूल सुबो० के परिशिष्ट में।

६—भ्रमर गीत-दीपिका। श्रीहरिकृष्ण पाठक कृत। प्रकाशित सं० १६८५। सुबोधिनी ४३, ४४ अ० के सुबोधिनी, टिप्पणी, लेख प्रकाश आदि के कठिनांश विवेचनार्थ लिखी गई है।

७-सद्धर सुधा व्यां० (द० ४३ अ० १३ श्लोक) स्वतन्त्र लेख·

गो० हरिरायजी कृत। प्रकाशित मूल ग्रंथ सुबोधिनी के साथ।

ग. (तृ०) राजस प्र० अवान्तर तृतीय साधन प्रकरण सुबोधिनी—उत्तरार्द्ध प्रारम्भ १ से ७ अ० पर्यन्त (साधारण गणना ५० से ५६ तक) प्रकाशित सं० १६७६। तेलीवाला। बंबई।

इसकी मूल हस्तलिखित सुबोधिनी श्रीगोकुलाधीश के मन्दिर बंबई में विद्यमान है। प्रस्तावना के आधार पर।

इस प्रकरण पर निम्नलिखित साहित्य मिलता है.—

क—विवरण टिप्पणी—संभवत लेख। गो० श्रीवल्लभजी महाराज कृत माना जाता है। टीका पर नाम नहीं मिलता। प्रकाशित।

ख—राजस साधन प्र० सु० गुर्जरभाषानुवाद— ...

घ. (तृतीय) राजस प्र० अवान्तर चतुर्थ फल प्रकरण सुबोधिनी—द० उत्तरार्द्ध ८ से १४ अ० पर्यन्त-प्रकाशित सं० १६८१ तेलीवाला बंबई।

इस पर निम्नलिखित साहित्य मिलता है—

क—लेख—गो० श्रीवल्लभजी महाराज कृत। प्रकाशित सं० मूल के साथ।

ख-राजस फल प्रकरण सु० गुर्जरभाषानुवाद।

ङ. (चतुर्थ) सात्विक प्रकरणावान्तर प्रथम प्रमेय प्रकरण सुबोधिनी—द० उत्त० १५ से २१ अ० पर्यन्त। प्रकाशित सं० १६८२। यह प्रथम कहा जा चुका है कि सात्विक प्रकरण में प्रमाण प्रकरण नहीं है। अत इसमें केवल २१ अ० ही होंगे।

इसमें निम्नलिखित साहित्य मिलता है—

क—लेख। गो० श्रीवल्लभजी महाराज कृत। प्रकाशित मूल के साथ।

ख—सात्विक प्रमेय प्रकरण सुबो० गुर्जरभाषानुवाद—नानूलाल गांधी कृत प्रकाशित। रणछोड़ दास पटवारी कृ० भण्डार। नाथ द्वारा में।

च. (चतुर्थ) सात्विक प्र० अवान्तर द्वि० साधन प्रकरण

सुबोधिनी—द० उ० २२ से २८ अ० पर्यन्त। प्रकाशित सं० १६८६। तेलीवाला बंबई।

इसमें निम्नलिखित साहित्य उपलब्ध है—

क—लेख। गो० श्रीवल्लभजी महाराज कृत। प्रकाशित मूल ग्रन्थ के साथ।

ख—सात्विक साधन प्र० सु० गुर्जरानुवाद। श्रीनानूलाल गांधी कृत। प्रकाशित सं० २००३। वाडीलाल नगीनदास शाह बंबई द्वारा।

ग. (चतुर्थ) सात्विक प्र० अवान्तर तृ० फल प्रकरण-सुबोधिनी—द० उत्त० २६ से ३५ अ० पर्यन्त। प्रकाशित सं० १६८७। तेलीवाला बंबई।

इस पर निम्नलिखित साहित्य है।

क—लेख—गो० श्रीवल्लभजी महाराज कृत। प्रकाशित। मूल के साथ।

ख-सात्विक फल प्रकरण सुबो० गुर्जरानुवाद। श्रीनानूलाल गांधी कृत। प्रकाशित सं० २००५।

च. गुण प्रकरण सुबोधिनी—दशम उत्तरार्द्ध ३६ से ४१ अ० पर्यन्त। प्रकाशित सं० १६८६। तेलीवाला बंबई। यहां उत्तरार्द्ध समाप्त होता है।

इस पर निम्नलिखित साहित्य है—

क—लेख-गो० श्रीवल्लभजी महाराज कृत। प्रकाशित मूल के साथ।

ख—गुण प्रकरण सुबो० गुर्जरानुवाद। श्रीनानूलाल गांधी कृत। प्रकाशित सं० २००४। वाडीलाल नगीनदास शाह बंबई द्वारा।

स्वतन्त्र लेख

१—पीत शेषं गदामृतः। (द० उ० ३६ अ० ५५, ५६ श्लोक)। इत्यत्र स्वतन्त्र लेख—प्रकाशित प्रकरण सुबोधिनी के साथ।

२—पीत शेषत्वं साधयामः („ „ „) इति स्व० लेखः प्रकाशित प्रकरणस्य सुबो० के साथ।

३—गायन्तीति मन्त्र जप प्रकारः। अज्ञात कर्तृक। अप्रका० सर० भं० ८८।१२।

प्रस्तुत प्रकरण में अ० ३८ के १४ से ४१ श्लोक पर्यन्त 'वेदस्तुति' नामक प्रकरण है, जिसे 'श्रुति-गीता' भी कहते हैं। इस पर श्री वल्लभाचार्य कृत सुबोधिनी तो प्रकरण में छपी ही है पर सूक्ष्म टीका नाम से भी एक टीका छपी है जो सुबोधिनी ही है। प्रारम्भ में श्रीवल्लभाचार्य कृत तीस कारिका हैं, जिनमें वर्ण्य विषय का संक्षिप्तार्थ कहा गया है। यह कारिकाएँ श्रुति गीता नाम से पृथक् भी प्रकाशित हैं। वृ० स्तोत्र सरित्सागर।

वेद स्तुति पर निम्नलिखित साहित्य है—

१—श्रुति गीता कारिका—श्रीवल्लभाचार्य कृत। प्रकाशित। ऊपर निर्दिष्ट।

२—श्रुति गीतार्थ—गो० श्रीविट्ठलेश्वर चरणप्रभु कृत, अप्रकाशित। सर० भं० शु० ग्रं० ११३, ४३।

३—श्रुति गीतार्थ व्याख्यानम्—गो० श्रीगिरिधर दीक्षित (प्रथम पुत्र) संकलित। अप्रकाशित स० १८८६ फा० शु० १४ के दिन मठेश श्रीनाथ भट्ट द्वारा लिखित—अवलोकन से विदित है कि यह सुबोधिनी के प्रस्तुत प्रकरण के संक्षिप्त वाक्यों का ही संग्रह है। पृथक् ग्रंथ नहीं।

४—श्रुति गीता कारिका गुर्जर भाषानुवाद—पं० श्रीमगनलाल शास्त्रि कृत। प्रका० प्र० भा० सुधा०

५—वेद स्तुति गुर्जर भाषान्तर—श्रीनानूलाल गांधी कृत। प्रकाशित प्रकरण सुबो० के साथ।

६—वेद स्तुति सुबोधिनी हिन्दी भाषान्तर—पं० गिरिधर शर्मा की पुत्री शकुन्तला कृत। प्रकाशित सं० १९९८। गुजराती के आधार पर।

दशम स्कन्ध—सुबोधिनी—परिदर्शन—

भागवत दशम स्कन्ध में यद्यपि १ से ९० अध्याय तक भगवल्लीला-वर्णन है तथापि प्रामाणिक रीत्या ८७ अध्याय ही माने गये हैं। पूर्वार्द्ध, १ से ४९ तक और उत्तरार्द्ध ५० से ९० तक गिना जाता है। प्रारम्भ के १२, १३, १४ यह अ० प्रक्षिप्त गिने गए हैं। यह तीन अ० पद्म पुराण में वर्णित कथा के आधार पर सम्मिलित किये गये हैं।

यह देख कर कि भागवत में श्रीकृष्ण के प्रति सभी देवों का प्रह्वीभाव वर्णित है, सभी उनकी शरण में आये हैं, परन्तु ऐसी किसी लीला का वर्णन नहीं है जिसमें ब्रह्माजी भी आकर शरण मे प्राप्त हुए हो ? अतः इस त्रुटि की पूर्ति के लिये यह वत्सहरण का प्रसङ्ग किसी भक्त विद्वान् द्वारा रचा गया और यथा स्थान सम्मिलित किया गया है।

उक्त अ० के प्रक्षिप्त मानने के कई कारण हैं जिन पर अनेक टीकाकारों ने विचार किया है; तथापि भगवल्लीला और उनका नामोच्चारण का लोभ संवरण न हो सकने के कारण उस पर सभी ने व्याख्याओं की रचना की है। ऐसा होने पर भी उसके प्रक्षिप्त होने की सिद्धि निम्नलिखित हेतुओं से होती है।

१. द० स्क० का ११ वां अ० के समाप्ति का जो श्लोक है उसकी सगति १४ वें अ० के प्रारंभिक श्लोक मे मिलती है। अर्थात् इन तीन अ० के रचयिता ने पूर्वापर सङ्गति बैठाने के लिये ११ वे अध्यायान्त का कौमार लीला समाप्ति सूचक ५९ वा श्लोक पुनः उसी रूप में १४ वीं अध्याय के अन्तिम ६१ श्लोक के रूप मे रख दिया है, जो पुनरुक्ति है। यदि ऐसा न किया जाता तो लीला का मध्य में समावेश कठिन था। ऐतावता यह तीन अ० प्रक्षिप्त हैं।

२. ब्रह्माजी की तपश्चर्या से प्रसन्न होकर श्रीहरि ने सृष्टि करने के लिये वरदान रूप मे उन्हें कहा था, "भवान् कल्प विकल्पेषु न विमुह्यति कर्मसु" (भा० द्वि० ६, ३६) अर्थात् ब्रह्मा को मोह नहीं होने का वरदान था. फिर समाधि रूप भागवत मे उक्त विरोध रूप ब्रह्मा को मोह का वर्णन इन अध्यायों मे आता है, जो असङ्गत दीखता है। अतः तीन अ० प्रक्षिप्त माने जाने चाहिए।

३--भगवान् की स्वकीय आत्मा, देह और शक्तियों के साथ क्रीडा 'निरोध' कहलाता है। प्रभु की श्री पुष्टि कीर्ति इला आदि १२ शक्तियाँ हैं। देह की ७२ नाड़िया गिनी जाती हैं। शयन (विद्यमानता) जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति भेद से त्रिविध है. अतः १२, ७२, ३ इसका संकलन ८७ होता है। यही दशम स्कन्ध की अ० संख्या है. अत. इन तीन अधिक अध्यायों का किसी प्रकार समावेश नहीं होता। अतः ये प्रक्षिप्त हैं।

इन मुख्य कारणो और प्रथम निर्दिष्ट हेतुओ से यह प्रक्षिप्त है।

द० स्कन्धार्थ निरोध, किम्वा आश्रय—

इस सम्बन्ध में कुछ टीकाकारों में मतविभिन्नता है, कोई इसका अर्थ क्रम प्राप्त निरोध करते हैं तो कोई आश्रय। वैसे तो जैसा कि प्रथम कहा गया है भागवत में सभी व्याख्याकार दश लीलाएँ मानते हैं और एक एक स्कन्ध में एक २ लीला का निरूपण स्वीकार करते हैं, तथापि यहां आकर मतभेद आ जाता है। तृतीय से लेकर द्वादश तक सर्ग से लेकर आश्रय का निरूपण पक्ष श्रीवल्लभाचार्य का है, और वे इस क्रम से द्वितीय स्कन्ध में वर्णित परिभाषा का अक्षरशः अनुपालन करते हैं। अतः इस भागवतीय आधार पर द० स्कन्ध का अर्थ निरोध ही सिद्ध होता है, आश्रय नहीं।

निरोध और आश्रय इन दोनों पर थोड़ा प्रासङ्गिक विवेचन अस्थाने न होगा।

१, निरोध—

'निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः" (भा० द्वि० स्कन्ध १०, ६) इस लक्षणानुसार परब्रह्म की स्वकीय शक्तियों के साथ अनुशयन—अवस्थिति, क्रीडा-विहार निरोध कहलाता है। इन लीलाओं का द० स्कन्ध में ही पूर्ण समावेश है न कि द्वादश में। इसी प्रकार आश्रय का अर्थ जैसा कि आगे कहा जायेगा, द्वादश स्क० में ही घटता है।

'निरोध' शब्द के प्रकृति प्रत्ययार्थ को देखते हुए भगवान् के द्वारा स्वकीय भक्तों का सांसारिक आसक्ति से अवरोध कर स्वविषयक आसक्ति कराना, विषयों से रोक कर अपने प्रति आसक्त करने की जो लीला द० स्कन्ध में वर्णित है वह द्वा० में नहीं है। अतः स्कन्धार्थ निरोध ही आता है।

जीव के मानसिक विकार, इन्द्रियों की विषय भावना तब तक परि समाप्त नहीं होती जब तक वह ब्रह्मीभूत नहीं हो जाता। इन सबका कारण में विलय सभी मानते हैं। ऐसी अवस्था में तदाकार वृत्ति हो जाने पर जीव के लिये आत्यन्तिक प्रलय ही है, इस अवस्था में और मुक्ति में कोई अन्तर नहीं रहता। इधर भक्तिमार्गीय सिद्धान्तानुसार जैसा कि श्रुति कहती है—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा

विपश्चिता" की स्थिति तभी हो सकती है जब उसकी सात्विक शुद्धि के अनन्तर उसके देह, प्राण, मन, इन्द्रिय, बुद्धि और विषयों म परमानन्दमयता (ब्रह्ममयता) होजाय।

द० स्क० मे कथित लीलाओं द्वारा हम देखते हैं कि भक्तों को— जिन पर अकारण करुणा के कारण ही उद्धारार्थ अवतार होता है–प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक पूर्ण भगवदासक्ति का ही दशम स्कन्ध मे प्रसङ्ग निरूपण है। भगवान् अपनी लीलाओं के द्वारा स्वकीय समस्त शक्तियों के साथ भक्त के अन्त करण में अनुशायन करते हैं। अत भा० द० स्क० का अर्थ निरोध ही सिद्ध होता है।

बोपदेव आदि कतिपय विद्वान् दशम स्क० का अर्थ यद्यपि निरोध मानते हैं। पर वे इसका अर्थ भूमि का भार उतारना और तदर्थ दुष्ट राजन्यों का नाश करना मानते हैं। उनके कथनानुसार भगवद्-वतार एतदर्थ ही हुआ था, और इसी को वे द० स्क० का अर्थ स्वीकार करते हैं। इनका यह कथन द्वि० स्कन्ध की परिभाषा के विरुद्ध पड़ता है, जो शब्दार्थ नहीं है। इनके इस अर्थ को ही यदि 'निरोध' शब्दार्थ माना जायगा तो उन सभी स्कन्धों को निरोध स्वीकार करना पड़ेगा जिनमें यह लक्षिण लक्षित होता हो।

एतावता निरोध और यह शुद्ध परिभाषा के रूप मे दशम में ही पूर्ण चरितार्थ होता है अत वही इस स्कन्ध का अर्थ है।

२. आश्रय—

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रय परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते [द्वि० १०, ७]

आश्रय शब्द का लक्षण द्वि० स्क० में इस प्रकार कहा गया है—

जिससे आभास—उत्पत्ति और निरोध—प्रलय होता है और मध्यगत भाव विकारों को जिससे प्रकाश मिलता है, वह आश्रय कह लाता है, उसे ही परब्रह्म परमात्मा शब्द से कहा जाता है। अर्थात् ईश्वर ही आश्रय है।

आश्रय दो प्रकार हैं—१ शास्त्रीय मार्ग म प्रपत्ति द्वारा और २-ज्ञानमार्ग म सायुज्य द्वारा।

अथवा उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय द्वारा आश्रय सिद्ध होता है।

प्रपत्ति क्रिया से आश्रय पाँच प्रकार का और ज्ञान से आठ प्रकार का होता है। इन दोनों का उक्त श्लोक की सुबोधिनी में स्पष्ट विवेचन है। अत विस्तार भय से यहाँ कहना अप्रासङ्गिक है।

द० स्क० अर्थ के सम्बन्ध म श्रीधराचार्य का विभिन्न मत है। वे कहते हैं —

'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं' आदि श्लोक में कोई क्रम नहीं है। जिसमे लीला उसी प्रकार प्रति स्कन्ध म मानी जाय। भागवत में दशम स्कन्ध में जो परमात्मा स्वरूप श्रीकृष्ण आश्रय है उनका वर्णन है। अत वही दशम स्कन्धार्थ है।" श्रीआचार्य निरोध शब्द का अर्थ प्रलय मानते है और इसीलिये कहते हैं कि दशम म कहीं भी प्रलय का वर्णन नहीं है वह द्वादश म है। अत वे दशम का अर्थ आश्रय और द्वादश का अर्थ निरोध स्वीकार करते हैं।

लीला के आनुक्रमिक श्रवण और पूर्वापर के विरोध होने पर भी श्रवण करने से फल म किसी प्रकार का तारतम्य नहीं आता, क्योंकि सभी लीला मुक्तिफल की साधिकाएँ हैं। अत श्रीधराचार्य स्पष्टत दशम म आश्रयार्थ की सिद्धि पर बल देते हैं।

पर ऐसा मानने पर कुछ विचारणीय प्रसङ्ग आते हैं जो आँखों से ओझल नहीं किये जा सकते। वे इस प्रकार हैं—

१ —अनुक्रम के स्वीकार न करने से लीलाओं की परस्पर कार्य कारणता का नाश होता है। पूर्व पूर्व लीला उत्तरोत्तर लीला की कारण हैं, और यह दोनों मिलकर भगवन्माहात्म्य ज्ञान की सिद्धि करते हैं, जिससे फल सिद्धि होती है। यह सब लीलाएँ पट म तन्तु की तरह ओतप्रोत है, जिससे आनन्द रूप श्रीहरि की लीला जो भागवत शास्त्र का अर्थ है—सिद्ध होती है। प्रारम्भिक परिज्ञान से ही उत्तर का परिज्ञान होता है अन्यथा उसकी निष्पत्ति असभव हो जाती है। आश्रय के परिज्ञान के लिये ही अन्य नव लीलाओं का परिचय कराया जाता है और तदर्थ ही कहा गया है—

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्। भा० द्वि० १० ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥

लीला परिगणना में नवम संख्या निरोध पर ही आकर टिकती है अत नव लीलाओं के श्रवण से दशम आश्रय लीला स्वभावतः प्राप्त होने के कारण दशमस्कन्ध का अर्थ निरोध आता है न कि आश्रय।

२—क्रम विरोध के साथ ही जहाँ दशमस्कन्धार्थ आश्रय की सिद्धि होती है तो फिर अन्य दो अवशिष्ट लीलाओं के श्रवण की आवश्यकता नहीं रहती। एतावता दशमस्कन्धार्थ निरोध ही है, आश्रय नहीं। निरोध के बाद मुक्ति और आश्रय मानने पर जो सौष्ठव रहता है वह कुछ अन्य ही विशेषता रखता है।

३—परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण के स्वरूप का प्रतिपादक होने से ही यदि दशम को आश्रय माना जाय तो जहाँ अन्य स्कन्धों में उनका वर्णन आया है वहाँ भी आश्रय मानना पडेगा, और इस प्रकार स्कन्धार्थ रूप लीलाओं में साकर्य आ जायगा। भागवत तो भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप प्रतिपादनार्थ रची गई है, ऐसी अवस्था में सभी स्कन्ध आश्रय प्रतिनिरूपक हो जायेंगे।

४—द्वितीय स्कन्ध के भीतर जिस प्रकार के आश्रय का लक्षण कहा गया है वैसा लक्षण द्वादश में ही मिलता है, दशम में नहीं। अत. दशम स्कन्ध में आश्रय का निरूपण न होकर निरोध का है।

५—परब्रह्म श्रीकृष्ण ही अन्ततोगत्वा सर्व के आश्रय हैं, अन्त्य प्रतिष्ठान हैं, पराकाष्ठा है, अत उस आश्रय रूप में उनका अन्त में ही निरूपण अधिक सगत है। इधर भक्ति मार्ग में निरोध रूप साधन को ही फलरूप स्वीकार करने में जो भक्तों को विविध चरित्रश्रवण से परमानन्द की प्राप्ति होती है, वही उनका चरम लक्ष्य है। आश्रय पुरुषार्थ नहीं प्रत्युत स्वत सिद्ध पारमार्थिक फल है।

भागवत में श्रीहरि जो आनन्द के निकेतन और तद्रूप हैं, भक्तों के निरोध के लिये मनुष्याकृति रूप में अवतार धारण कर नरवत् लीलाओं का आचरण करते हैं, जिससे भक्तों को स्वरूपासक्ति प्राप्ति होती है। इन भक्तों में अधिकांश ऐसे भक्त होते हैं जो नि साधन होने के कारण स्वोद्धार में सर्वथा असमर्थ हैं, स्वत एव दयार्द्रचित्त होकर अनुग्रह करने वाले प्रभु प्रमेय बल से ही उनका उद्धार करते हैं,

प्रमाण बल-शास्त्रीय पद्धति-से उनकी उद्धृति असंभव है क्योंकि वे उसके अधिकारी नहीं हैं। अतः यह सब निरोध से ही संभव होने के कारण दशम को निरोध प्रतिपादक माना गया है।

भगवान् के भक्त गुणवैषम्य से कई प्रकार के हैं। जिनमें तामस राजस, सात्विक निर्गुण आदि भेद और उपभेद हैं। विविध भक्तों की आसक्ति के अर्थ विभिन्न लीलाओं चेष्टाओं की अपेक्षा और उनमें विदग्धता की आवश्यकता है जो चतुर नट में ही संभव है, अतः नटवरवपु भगवान् स्वीय लीलाओं द्वारा सर्व विध भक्तों का उद्धार करते हैं। यह निरोध द्वारा ही संभव है। अतः भागवत के आधार पर दशम को निरोध लीलारूप ही माना जा सकता है। (भा० निबन्ध द० स्क० कारिका १५, २०)

साधारण रीत्या अथवा लीलाओं की अद्भुतता के कारण सभी लीलाओं में सभी लीलाओं का साक्षात्कार महानुभाव भक्तों को होता है, तथापि किसी स्कन्ध के अमुक अर्थ प्रतिपादन करने के पक्ष में तो क्रम प्राप्त अर्थ को ही प्रधानता दी जा सकती है।

इसी क्रम में भागवत दशम स्कन्ध के वेणुगीत में दश विध-लीलाओं का इस प्रकार निरूपण मिलता है। जैसा कि प्रथम कहा गया था, मेरे समीप एक प्राक्कोडपत्र है जिसमें इसका लेख इस प्रकार है—

अथ वेणु गीतेएव दश विध लीला उक्ताः।
द्वितीय टीकायाम् अवतार इति ॥
लोकेऽवतीर्यापि पुष्टि भक्तेषु लीलाया भावात्मक-
दशविधलीला प्रकटयतीति सूचितम्।

१. पूर्वं वेणुनादात्मिका सर्ग लीला। २ ततो भक्तानां तदनुभवेन विगाढ भावेन तद्वर्णन रूप विसर्ग लीला। ३. ततो विविध लीला स्थान भूत निकुंजादि भावनात्मिका स्थानलीला। ४. ततो भगवान् मदना वदवागत्यानुगृह्य स्वानन्देन पोषयिष्यति इति द्विगा पोषणलीला। ५. ततो हरिणी पुलिन्दी भाग्याभिनन्दन रूपा ऊतिलीला। ६. ततो मन्वन्तराणि सद्धर्म इति वाक्यात् सद्धर्म रूप श्रीगोवर्द्धन भक्ति वर्णनेन मन्वन्तर लीला। ७. ततो गोदोहन सामयिका

स्पन्दन गतिमतां इत्यादि भगवदीय चरित्रवर्णन रूपेशानुकथा। ८. तत. सर्व लीला फल रूपो निरोध. स्पष्ट एव। ६. ततो विरहेण तदेकभावापत्तिर्मुक्ति लीला। १०. ततः सायमागमनेन पूर्वभाव प्रापण माश्रयलीला। एव लीलाप्रकरणम्। इसका त्रिविध रूप —

१—आधिभौतिक भागवत ग्रन्थ का दशम स्कन्ध है, जिसमें पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो खंड हैं प्रथम में १ से ४६ अ० और द्वितीय में ५० से ६० अ० तक ४१ अ० है। शु० सिद्धान्त की दृष्टि से १२, १३, १४ यह तीन अ० प्रक्षिप्त हैं। भा० निबन्ध के अनुसार इसमें पाँच प्रकरण हैं। इसमें त्रिविध गुणभेद से और एकविध निर्गुण भेद से एक इस प्रकार चतुर्विध भक्तों का तथा प्रभु के षड्धर्मों का निरूपण करते हुए भाववर्द्धक चरित्र का कथा रूप में वर्णन है। उक्त तीन अ० कौतुक लीला के सम्मिलित करने पर शेष ८७ अ० के साथ एकत्र ६० अ० में इसकी परिसमाप्ति होती है।

२—आध्यात्मिक . आनन्द रूप श्रीहरिकी निरोध लीला का वर्णन है। भागवत निबन्ध के अनुसार तत्तल्लक्षणों, गुणों का प्रतिपादन है। भगवद्धर्म स्वरूप में यह दशा का प्रतिपादक है।

३—आधिदैविक...परब्रह्म श्रीकृष्ण के रसमय विग्रह में दशम स्कन्ध हृदय स्थानीय है।

११ एकादश स्कन्ध सुबोधिनी—

प्रस्तुत स्कन्ध में ३१ अ० हैं, पर समग्र पर सुबोधिनी न होकर केवल १ से ४ अ० तथा पचमाध्याय के तृतीय श्लोक पर्यन्त प्राप्त हैं, स० १६६० में प्रकाशित इसके आगे समयाभाव से सुबोधिनी का प्रणयन नहीं हो सका, ऐसा प्रसिद्ध है।

इस अंश पर व्याख्याएँ इस प्रकार हैं:—

(१) एकादश स्कन्धार्थ निरूपण कारिका। श्रीवल्लभाचार्य कृत। प्रकाशित।

इसमें १४ कारिकाओं द्वारा इस स्कन्ध के फलितार्थ का कथन है।

(२) सुबोधिनी प्रकाश .... गो० श्री पुरुषोत्तमजी कृत। प्रकाशित। मूलग्रन्थ के साथ। स० १६६०।

(३) एकादश स्क० पु० टिप्पणी —गो० श्रीहरिरायजी कृत। अप्रकाशित। सर० मं० कां० शु० बं० २६, ३४

(४) सुबोधिनी लेख—गो० श्रीवल्लभजी महाराज कृत। अनुपलब्ध है। इसकी रचना की गई थी, ऐसा विदित हुआ है।

(५) एकादश स्क० स्वतंत्र १३ कारिका-व्याख्या—श्रीलालूभट्ट कृत प्रकाशित। निर्णयार्णव ग्रन्थ द्वि० तरंग।

स्वतन्त्र लेख—

(१) एकादश स्कन्धोपरि सूचनिका सूक्तिः—श्री योगि गोपेश्वरजी कृत। इसका बहुत थोड़ा अंश प्राप्त है जो मूल के साथ प्रकाशित है।

(२) कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा (एका० २, ३६) इति पद्य तात्पर्यनिरूपणम्—गो० श्री विट्ठलेश्वर विरचित। प्रकाशित। मूल के साथ।

(३) रामेण सार्द्धं मथुरा प्रणीते—(एका० १२, १० से १४ श्लोक) इत्यत्र श्लोक चतुष्टय व्याख्यानम्। अज्ञात कर्तृक प्रकाशित। मूल के साथ।

(४) नृदेहमाद्यं सुलभं—(एका० २०, २७) इत्यत्र स्वतन्त्र स्वतन्त्र लेखः। गो० श्री देवकीनन्दनजी कृत प्रकाशित। मूल के साथ।

(५) ··· ··· ··· ··· इत्यत्रव्याख्या। गो० श्री विट्ठलेश्वर प्रभुचरण कृत अप्रकाशित। सर० मं० कां० शु० बं० ३४, ४२।

(६) ··· ··· ··· इत्यत्र व्याख्या। गो० श्रीबालकृष्ण शास्त्रि कृत। अप्रकाशित। पं० कंठमणि शा० के संग्रह में विद्यमान।

(७) एकादश स्कन्धार्थ—गो० श्री बालकृष्ण शास्त्रि विरचित। अप्रकाशित। पं० कंठमणि शा० के संग्रह में विद्यमान। पं० ३४, क...।

(८) 'लोकाश्चलोयानुगताश्च' इत्यत्र स्वतंत्रलेखः। अज्ञात-कर्तृक सर० मं० ३५, १०।

एकादश स्क० सुबोधिनी परिदर्शन—

इसमें क्रम प्राप्तमुक्ति लीला का प्रतिपादन है। जीव का अन्यथा स्वरूप, जो उसे माया की मोहिका शक्ति अविद्या के द्वारा प्राप्त हो जाता है—का विद्या के द्वारा निरास होजाना, आनन्दमयता की अधिगति होजाना ही मुक्ति कहलाती है, 'मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' इस परिभाषा से स्वरूपावस्थान मुक्ति कही जाती है। भागवत नि० के अनुसार इस के अवान्तर प्रकरणों से उसका परिज्ञान हो सकता है, सम्पूर्ण सुबोधिनी उपलब्ध नहीं है।

इसका त्रिविध रूप है:—

(१) आधिभौतिक—भागवत शास्त्र का एकादश स्कन्ध है जिसमें ३१ अध्याय और कई अवान्तर प्रकरण हैं, प्रत्येक अ० के कई श्लोक हैं।

(२) आध्यात्मिक—आनन्द रूप श्री हरि की मुक्ति लीला का प्रतिपादन है, भाषा नि० के अनुसार वल्लभत्वों का और गुणों का प्रतिपादन है। भगवद्धर्म रूप में यह श्री का निरूपक माना जाता है।

(३) आधिदैविक—पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के रसमय विग्रह में यह स्कन्ध श्री मस्तक स्थानीय है।

१२ द्वादश स्कन्ध सुबोधिनी की रचना नहीं हुई अतः यह प्राप्त नहीं है। और उस पर विशेष कोई टीका आदि भी नहीं मिलती।

स्वतन्त्र लेख—

(१) कथा इमा स्ते कथिता महीयसा—(द्वा० ३, १४) इत्यत्र गो० श्री विट्ठलेश्वर विरचित २० कारिका। जिनमें आश्रय पर विचार किया गया है। प्रकाशित।

(२) उक्त कारिकाओं पर व्याख्या—गो० श्री पुरुषोत्तम जी कृत। उक्त दोनों स्वतन्त्र लेख एकादश स्कन्ध सु० के साथ प्रकाशित है। सं० १९९० ।

द्वा० स्कन्ध सुबोधिनी परिदर्शन—

इस स्कन्ध में क्रम प्राप्त आश्रय लीला का निरूपण है। जगत् का आविर्भाव निरोध और तिरोधान जिसके द्वारा होता है, कार्य या

जिसमे पर्यवसान होता है उस कारण रूप को जो परमार्थतः श्रीहरि.का स्वरूप है आश्रय कहा जाता है। इसमें १२ अ० है, जिनका प्रकरण विभाग भाग० निबन्ध मे कहा गया है।

इसका त्रिविध स्वरूपः—

१. आधिभौतिक--भागवत शास्त्र का द्वादश स्कन्ध है जिसमे १२ अ० हैं। प्रत्येक अ० मे कई श्लोक हैं।

२ आध्यात्मिक—आनन्द रूप श्रीहरि की आश्रय लीला का यहाँ निरूपण है। भा० नि० के अनुसार तत्तल्लक्षणों और गुणों का वर्णन है। भगवद्धर्म स्वरूप मे इस स्कन्ध मे श्री का वर्णन है।

३ आधिदैविक—परब्रह्म श्रीकृष्ण के रसमय विग्रह मे द्वादश स्कन्ध मे वामश्रीहस्त स्वरूप माना जाता है।

॥ इति श्री सुबोधिनी विवेचन ॥

भागवत पर शुद्धाद्वैत सिद्धान्तीय अन्य साहित्य—

सुबोधिनी टीका के अनुसार अन्य आचार्य या विद्वान् महानुभावों ने भागवत् पर व्याख्या तथा समीक्षा ग्रन्थ भी लिखे है, सुबोधिनी को जहाँ भागवत का भाष्य कहा जा सकता है वहाँ अन्य टीकाएँ उसकी कथानक शैली को प्राथमिकता देकर साधारणतया सिद्धान्त का विवेचन करती हैं, श्रीधरी और चूर्णिका के आधार पर जैसे भागवत की कथा में प्रवचन-सौकर्य मिलता है उसी दृष्टि को सामने रख कर कुछ टीकाओं की सम्प्रदाय मे रचना की गई है। जो इस प्रकार हैं—

टीका ग्रन्थ—

(१) बाल प्रबोधिनी--भागवत् टीका—गो० श्री गिरिधरजी महाराज काशी कृत। प्रकाशित। हरिप्रसाद भागीरथ जी बंबई का है। यह व्याख्या प्रथम स्क० से लेकर द्वा० तक है।

(२) रस-प्रबोधिनी भागवत टीका—श्रीमुकुन्ददास काशी निवासी कृत। अप्रकाशित। सर० मं० काक० शु० बं० ३५, ३६, ३७. इसका दशम पूर्वार्द्ध अनुपलब्ध है, लेखन काल सं० १६१६ फा० शु० १० रात्रि। लेखक अज्ञात।

(३) भागवत गुजराती भाषान्तर—श्री कल्याणजी शास्त्री कृत। प्रकाशित। जिला प्राथमिक मण्डल बंबई द्वारा।

(४) सुबोध-रत्नाकर— (सुबोधिनीस्थ संग्रह मचनावलिः) गुजराती अनुवाद सहित। प्रकाशित।

समीक्षा ग्रन्थ—

५—भागवत-स्वरूप विषयक-शंकानिरासवादः..गो० श्री पुरुषोत्तमजी विरचित। यह ग्रन्थकार से विरचित वादग्रंथों में त्रयोदश है, जो सर्वनि० नि० के परिशिष्ट में जे० आ० ट्र० बंबई द्वारा प्रकाशित है सं० १९९९.

६—भागवत-कथासार-सन्दोहः... ...गो० श्रीहरिरायजी कृत० अप्रकाशित....सर० मं० कां० शु० वं० ७४, १४.

७—भागवत सुधासारः...."दास" कृत० अप्रकाशित सर० मं० कांक० शु० वं ६४, १०.

७—भागवत सुधासारः...."दास" कृत. अप्रकाशित. सर० मं० कांक० शु० वं० ६४, १०.

८—भगवत्स्वरूपत्वेन भागवत स्कन्धवर्णनम्.. अज्ञात कर्तृक ....अप्रकाशित सर० मं० कांक० शु० वं० ११०, ३६.

९—भागवतार्पत्वसिद्धिः...अज्ञातकर्तृक....अप्रका० सर० मं० कांक० शु० वं० ७३, १८.

१०—सुबोधिनीस्थ सारस्वती श्लोम कथा समर्थनम् (अज्ञातकर्तृक) अप्रकाशित सर० मं० कांकरौली शु० वं० ८८, ६१.

११—भागवत तत्व प्रदीपिका...अज्ञात कर्तृक. अप्रकाशित सर० म० कॉक० शु० वं० ११०, ३६

१२—विद्याभागवतावधिः इति श्लोकव्याख्यानम् अज्ञात कर्तृक अप्रकाशित सर मं० शु० वं० ७२, २८

(१३) भागवत विजयवादः नेत श्रीरामकृष्ण भट्ट कृत प्रकाशित। सर्वनिर्णयपरिशिष्ट जे० आर० ट्रस्ट बम्बई। इसकी रचना सं० १९७४ को हुई है।

(१४) भागवत सिद्धान्त विजयवादसार प० श्री गगाधर शास्त्रिकृत अप्रकाशित सर० म० शु० वं० १०५, ५।

(१५) भागवत प्रमाण भास्करः अज्ञात कर्तृकप्रकाशित सर्वनि० परिशिष्ट से जे० आ० ट्र० बंबई।

(१६) दुर्जन मुख चपेटिका...सागरस्थ श्री गगाधर भट्ट कृत।

(१७) .टीका प्रशस्तिका ..श्री गगाधर भट्टात्मज श्री कन्हैयालाल शास्त्रि कृत.. यह दोनों ग्रन्थ सर्वनि० नि० के परिशिष्ट में जे० आ० ट्र० द्वारा स० १९९९ मे प्रकाशित।

(१८) दुर्जन-मुख चपेटिका .श्रीराम चन्द्राश्रम विरचित उक्त ग्रंथ के साथ प्रकाशित समान नामधारी दोनों ग्रन्थ पृथक् २ हैं।

(१९) भागवत निर्णय सिद्धान्त श्रीदामोदर कृत उक्त ग्रंथ के साथ प्रकाशित।

(२०) भागवतीयाध्यात्म स्वरूप वर्णनम् गो० श्रीगोपालकृष्ण शास्त्रि विरचित। अप्रकाशित स्व० मोहनलाल जी पंड्या द्वारा कटस्थ और श्री व्रजभूषणलाल जी महाराज द्वारा सकलित। हिन्दी। इसका कुछ संस्कृत भाषा का रूप गो० कंठमणि शा० सग्रह मे विद्यमान है।

(२१) भागवतार्थ विचार गो० श्रीबालकृष्ण शास्त्रि कृत। अप्रकाशित। गो० कं० शा० के सग्रह मे विद्यमान।

(२२) भागवतीय कतिपय श्लोकार्थ विचार ह० गो० श्रीबाल० शा० कृत। अप्रकाशित। गो० कंठ० शा० के सग्रह में प० ५, ६, १५, २७, ३९ म।

(२३) भागवत के अवशिष्ट कतिपय उवाच-निरय गो० कण्ठमणि शास्त्री द्वारा अप्रकाशित।

(५) अन्य अविरुद्ध ग्रंथ साहित्य अन्य शास्त्रों की प्रामाणिकता—

भारतीय तत्वचिन्तन प्रणाली म दो परस्पर विरोधी भावनाएँ प्रचलित हैं, (१) आस्तिक प्रणाली जो अस्ति . सत्ता को लेकर चलती है, (२) नास्तिक प्रणाली जो नास्ति अभाव को लेकर चलती है।

यद्यपि पारमार्थिक रूप मे जहाँ ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय का अभाव हो जाता है, एकरूपता हो जाती है, अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता भले ही रहती हो उसका पार्थक्येन ज्ञाता कोई नहीं रहता, और जिसे निर्वाण, कैवल्य, तद्रूपता कहा जा सकता है, वहाँ 'नास्ति' को अवकाश दिया जा सकता है पर केवल अभाव पर ही सारे ज्ञान की नींव नहीं रक्खी जा सकती। भाव अभाव एक वस्तु के दो रूप है, एक विभिन्नता जो भेदसहिष्णु अभेद प्रकार से व्यक्त की जाती है तो दूसरी अनिर्वचनीय एकाकारता है, 'निषेध शेषो जयतादशेष', और पूर्णमद पूर्णमिद' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि वाक्यों और 'नासदासीन्नो सदासीत्', "नेह नानास्ति किंचन" आदि वाक्यों के सामान्य समन्वय में स्वीकार करना पड़ता है, कि 'सत्ता' 'भाव' एवं पारमार्थिक सत्य अवश्य है जिसे वाणी व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, तथापि उसे यावच्छक्य व्यक्त किया जाता है, वह परम सत्ता स्वयमेव व्यक्त होती रहती है। 'क्सन्निति चेन्न प्रतिषेध मात्रत्वात्', (ब्र० सूत्र २, १, ५) में इस पर अनुशीलन पूर्वक निर्णय किया गया है, अतः प्रस्तुत स्थान में उस पर विचार अप्रासंगिक सा है, तथापि इतना कहना पड़ता है कि इसी भाव को लेकर विद्वानों द्वारा अनेक वाद प्रचलित किये गये हैं, और इसी कारण अनेक शास्त्रों की रचना हुई है।

वेद, वेदानुवर्ती अन्य शास्त्र और विचारस्वातन्त्र्य को लेकर विविध आगमों का प्रचलन हुआ है, कथा प्रसंग, उपाख्यान, दृष्टिविन्दु आदि के आधार पर विशाल वाङ्मय का निर्माण किया गया है, विविध शास्त्रों में जिनका विषयानुबन्धी वर्गीकरण किया गया है सभी प्रकार के ग्रंथों का समावेश होता है, जिनमे कितने ही वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं, कितने ही सहायक, समर्थक अथवा साधक होने से उपादेयता को प्राप्त करते हैं, तो कतिपय पारलौकिकता में अनुपयोगी होने के कारण त्याज्य नहीं तो उपेक्षणीय गिने जाते हैं।" इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे हैं जो विरोधी होने से बहिष्कार्य माने जाते हैं। श्रीवल्लभाचार्य ने नास्ति पक्ष पर वेदानुकूल दृष्टि से विचार और उसका खण्डनीय अंश क्या है? और उसे समर्थन किस रूप में मिल सकता है, इसका निर्धार तथा प्रमाण परिगणना में किसका कितना समावेश होता है? इस पर ध्यान दिया है।

अविरुद्ध शास्त्र—

प्रमाण परिगणना मे आचार्य श्री ने जहाँ प्रस्थान चतुष्टय को महत्व दिया है वहाँ उन्होंने गौण रूप मे उन सब शास्त्रों को भी प्रामाणिकता दी है जो इन चारों से सम्वादित हैं, इनके विरोधी नहीं हैं। उन्होंने इनका नाम 'अविरुद्ध शास्त्र' रक्खा है। तत्स्थल पर कहा गया है, 'अविरुद्ध' तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च, नान्यथा (शा० नि० कारिका ८) ...... इसी का स्पष्टीकरण आचार्यवर्य ने शब्दान्तर में इस प्रकार किया है.... एतद्विरुद्ध' यत्सर्व न तन्मानं कथंचन... (शा० नि० कारिका ९)

संगति—

तत्वनिर्धार की प्रणाली में जहाँ सिद्धान्तनिष्पत्ति होती है और जिज्ञासु, ज्ञानी भक्त की कोटि मे पहुँच जाता है, वहाँ ऊपर उठकर उसे व्यापक दृष्टि से तत्वों का निर्धार करने के लिए ही नहीं अपितु स्वीकार करने के लिए आचार्य उपदेश देते हैं—'अथवा सर्वरूपत्वान्नाम लीलाविभेदतः (शा० नि० ६) ठीक तो है। सर्व ब्रह्मस्वरूपता के अङ्गीकार मे जब रूप सृष्टि का अभेदभाव है तब नामसृष्टि ही कैसे छूट सकती है, वह भी तो ईश्वरी कृति है, ब्रह्म रूप वेद ना ही तो सब वाङ्मय व्यवहार हैं, जहाँ रूप सृष्टि में कार्यकारण का अभेद है वहाँ नामसृष्टि में भी भेद-भाव के विगलित हो जाने पर ब्रह्ममयता का भान होना ही चाहिये, और इसीलिये आचार्य यावन्मात्र शब्दराशि को ब्रह्म का नाम समझ कर प्रमाण रूप वररीकृत कर लेते हैं।

तात्पर्य यह कि वेद की सर्वोपरि प्रमाण मूर्धन्यता के अनन्तर उसके अर्थानुसन्धान के लिय शेष तीन प्रस्थानों का क्रमिक विकास शु० पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त मे स्वीकार किया गया है, और इन्हीं सब के अभिप्राय को विशद करने वाले, उसके भेद प्रकार, उपाय, पद्धति और समन्वय प्रणाली के निर्देशक सभी शास्त्रों को अविरोध भाव की प्रतिपादन की शैली मे मान लिया गया है। यद्यपि साधनावस्था मे विरोध भाव के उपोद्बलक सिद्धान्तों से बचते रहने का निर्देश मिलता है। पर जहां दृढ भाव का परिपाक हो जाता है, वहाँ किसी प्रकार की प्रच्युति का भय न होने से सभी वाङ्मय को ब्रह्मभाव के कारण प्रमाण मान लिया गया है। रूपसृष्टि मे जैसे आपाततः भिन्न भाव भासित

होता है, वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार नामसृष्टि में भी 'सर्व ब्रह्म' की भावना और उसकी विविध लीलाओं की चरितार्थता से किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती।

वैदिक रहस्य के परिज्ञानार्थ दो मीमांसाओं का प्रणयन हुआ है :—

(१) धर्म-मीमांसा जिसका नाम 'पूर्वमीमांसा' अथवा 'जैमिनो मीमांसा' भी है।

(२) ब्रह्म-मीमांसा—जो 'उत्तर मीमांसा' और 'ब्रह्मसूत्र-मीमांसा भी कही जाती है। जिसका विवरण प्र० प्रकरण में किया गया है।

पूर्व मीमांसा—

प्रथम मीमांसा में वेदप्रतिपाद्य यज्ञयागादिकर्मकांड का सविस्तार विवेचन है, तो उत्तर मीमांसा में ब्रह्मविद्या सम्बन्धी विचारों का अवगाहन। यह निश्चित है कि—बादरायण व्यास रचित मीमांसा के पूर्व जैमिनी मीमांसा की रचना हो चुकी थी, और इसीलिये इनके विशेषण 'पूर्व' और 'उत्तर' शब्द के साथ दिये गये हैं। वेद ज्ञानराशि होने के साथ ब्रह्मरूप होने से ज्ञानस्वरूप भी हैं, ज्ञान की सीमा नहीं, यह जहाँ अनन्त है, उसके प्रकार भी अनन्त हैं, उसकी इदमित्थता भी निर्धारित नहीं है।

'सर्वं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'—इस श्रुति वाक्य में बड़े गंभीर भाव का प्रति फलन है—और उसी प्रकार 'सत्यं ज्ञान मानन्दं ब्रह्म' में भी ब्रह्म का यह स्वरूप लक्षण है। जहां 'सर्व' और 'सत्य' शब्द इस परिदृश्यमान जगत् को ब्रह्मरूप बताता है, वहाँ नाम 'शब्द' ज्ञान को भी तद्रूप, और इसी विध भावात्मक जगत् को भी यह तीनों विशेषण इसी वस्तु का निर्देश करते हैं। वेद के अर्थ का अवबोध जिज्ञासु और ज्ञानी की अधिकारस्थिति पर निर्भर है, एतावता उसके अर्थपरिज्ञान में विभिन्नता हो जाना सहज है, विचार स्वातन्त्र्य से भी इसमें वैषम्य संभव है। अतः जैमिनि वेद के प्रतिपाद्यांश में यदि पृथक दृष्टि से विचार प्रस्तुत करते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं, वे अपने सम्प्रदाय के एक महान् आचार्य हैं। वेद के वाक्य 'यज्ञोवै विष्णुः' में जहाँ व्यास कर्म

को गौणता देकर उसे साधन रूप में मान कर ज्ञान और आनन्द को क्रमशः उच्चकोटि और फल मानते हैं, वहाँ जैमिनि कर्म को प्राधान्य देकर अपूर्व अन्य रूप में ज्ञान और आनन्द का उसी में समावेश कर लेते हैं। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण या तटस्थ लक्षणों में व्यास के साथ जहाँ उनका मतभेद है, वे अपना पृथक् सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। यही कारण है कि वेदव्यास उसे उपयुक्त नहीं समझते, कई स्थानों पर उनके अभिमत का प्रतिवाद करते दृष्टिगोचर होते हैं।

उत्तर मीमांसाकार ने जहाँ स्वकीय सूत्रों में अन्य आचार्यगण का उल्लेख किया है वहाँ वे मतभेद के कारण जैमिनि के अभिमत को विकल्प रूप में या प्रतिवाद रूप में कह जाते हैं। व्यास सूत्रों में जहाँ जैमिनि का नाम उल्लेख है वह इस प्रकार है—

१. प्रथमाध्याय—द्वि० पाद—२८, ३१ सूत्र। तृ० पाद—३१ सूत्र। च० पाद १८ सूत्र।

२ तृतीयाध्याय—द्वि० पाद—४० सूत्र। च० पाद—२ १८ ३६ सूत्र।

३. चतुर्थाध्याय—तृतीय पाद—१२ सूत्र। चतुर्थ पाद—५, ११ सूत्र। आदि।

कहने का अर्थ यह है कि वेदव्यास ने अन्य आचार्यों की अपेक्षा जैमिनि का अधिक उल्लेख किया है, जैसे जैमिनि व्यास के शिष्य भी हैं, उन्होंने सामसंहिता का अध्ययन वेदव्यास से ही किया है, यद्यपि कई स्थानों पर जैमिनि के साथ व्यास का मतैक्य नहीं है तथापि वे उनका समादर करते हैं।

पूर्व मीमांसा पर शु० पु० साहित्य—

श्रीवल्लभाचार्य ने महर्षि जैमिनि के मतोल्लेख समय लिखा है—वेदार्थ चिन्तना में चार प्रकार के भेद हैं, उनके चार आचार्य हैं, जो प्रकारभेद से विचार प्रस्तुत करते हैं—

(१) केवल शब्द-बल-विचार के समर्थक—आचार्य बादरायण।

(२) शब्द और अर्थ दोनों के विचार समर्थक—आचार्य जैमिनि।

(३) शब्द के उपसर्जन द्वारा अर्थ के विचारसमर्थक— आचार्य आश्मरथ्य ।

(४) केवल अर्थ विचार के समर्थक —आचार्य बादरि ।

इस कोटि से विचार करने पर जैमिनि का अधिकांश मत आचार्य बादरायण के साथ मिलता है। अणुभाष्य में आचार्य श्री ने लिखा है—'अत.साकार ब्रह्मवाद एव जैमिनेः सिद्धान्तः' अर्थात् जैमिनि आचार्य साकार ब्रह्मवाद के समर्थक हैं... (अणुभाष्य १, २, २८) यही कारण है कि व्यास के साथ अधिकाश मेल खाने के कारण ही श्रीवल्लभाचार्य ने उनकी मीमासा पर भाष्य-रचना की है। यह एक शोचनीय प्रसग सा है कि यह भाष्य समग्र नहीं रचा जा सका और उसका थोड़ा सा ही अंश मिलता है।

इसका परिचय इस प्रकार है—

पूर्व मीमांसा-कारिका—

श्रीवल्लभाचार्य कृत—प्रकाशित—पु० स्तो० स० सागर में ।

पूर्व मीमासा के सार रूप में 'पूर्वमीमासा-कारिका' नाम से ग्रन्थ की रचना है जो ४२ कारिकाओं मे है, इसमें उक्त मीमासा का उद्देश्य समझाया गया है।

सामान्यतः आचार्य का कथन यह है कि—लौकिक और वैदिक इस प्रकार के दो मार्ग है। दोनों नित्य हैं। लौकिक तो प्रवाह रूप से और वैदिक स्वरूप से। लोक के अर्थ की और वेद मे शब्द की प्रधानता है। पहिला जलवत् और द्वितीय अग्निवत् है। परस्पर विरोधी होने के कारण दोनों को अलग अलग रखना चाहिये। जल से अग्नि का साक्षात् स्पर्श होते ही जैसे अग्नि नष्ट हो जाती है, लौकिक दृष्टि से स्पृष्ट होते ही वेद मार्ग भी नष्ट हो जाता है, पर यह वेदमार्ग लौकिक मार्ग को सहसा बाधित नहीं कर सकता। इस प्रकार होने पर भी जैसे पात्रस्थित जल को अग्नि नष्ट कर सकती है उसी प्रकार अधिकारि के चित्तस्थ लौकिक आसक्ति को वेदमार्ग नष्ट कर सकता है, अतः उसका पात्रान्तरित रूप में व्यवहार होना चाहिये।

त्रिवर्णो और शूद्र वर्ण को यथाधिकार पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिये, इनमें मुख्य होने के कारण ब्राह्मण को मोक्षान्त चतुर्विध पुरुषार्थ करने की योग्यता है।

'वेदोऽखिलो धर्म मूलं', वेदप्रणिहितो धर्मः आदि आप्त वाक्यों के अनुसार धर्म का रहस्य जानने के लिये वैदिक अध्ययन की आवश्यकता है। धर्म ही वेदार्थ स्वरूप है, और वेद ही द्विजातियों के लिये परम निःश्रेयस है, अतः वेदार्थ-ज्ञान के लिये धर्म और वेद दोनों का रहस्य जानना अनिवार्य है। वाक्यार्थ का निर्धार मीमांसा के अतिरिक्त अन्य साधन से असंभव है, एतावता मीमांसा का परिज्ञान भी आवश्यक समझ कर महर्षि जैमिनि ने 'अथातो धर्म जिज्ञासा' नाम से धर्मजिज्ञासा का प्रारम्भ किया है। मीमांसा रचना का यही हेतु है, जिसमें कर्म रूप आचरण के लिये उसके सभी अंग उपांगों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।"

इसीलिये आचार्य श्रीवल्लभ ने पूर्व मीमांसा पर भाष्य रचना को आवश्यक समझा और उसके लिये पूर्व मीमांसा कारिकाओं की कृति की।

पूर्व मीमांसा-(जैमिनि सूत्र)-भाष्य—

श्री वल्लभाचार्य रचित इसका निम्न अंश उपलब्ध हैं—

(क) प्रथमाध्याय चतुर्थ पाद- वृत्ति. १३ सूत्र पर्यंत अपूर्ण। अप्रकाशित सर० भं० शु० व० ४३।६*

(ख) द्वितीयाध्याय प्रथम पाद—भावार्थ पाद भाष्य।

यह अंश सर० भं० शु० बं० ४३, १७ पर विद्यमान है, और भावार्थ पाद भाष्य नाम से तेलीवाला बंबई द्वारा प्रकाशित।

पूर्व मीमांसा भाष्य विवरणम्—

गो० श्रीपुरुषोत्तमजी कृत अप्रकाशित और अप्राप्त।

इस विवरण की रचना ग्रंथकार ने स्वरचित 'अणुभाष्यप्रकाश के पूर्व करली थी। लिखा है :—"इदंयथातथा भावार्थाधिकरणभाष्ये

---

* ग्रन्थ पर कर्ता का नाम निर्देश नहीं है। प्रारम्भ में लिखा है :—

"श्रीकृष्ण वागधिपति तनय श्री विट्ठलनाथ चरण सरसिजेभ्यो नमोनम. उक्त समाम्ना यंदमर्थं तस्मात्सर्वं तदर्थं स्यात्" एतावता किसी शु० सा० विद्वान कृत प्रतीत होती है।

व्युत्पादितमाचार्यचरणैः । ममापि तद्विवरणे निपुणतरं प्रपञ्चित मिति नात्र लिख्यते।" (प्रणु० प्र० १।१।२)

सर० भं० सं० ५३, २ पर गो० श्रीयदुपति कृत भावार्थ पाद-भाष्य विवरण नाम से कुछ अंश मिलता है, जो इन्हीं श्रीपुरुषोत्तमजी कृत ग्रन्थ का अंश है।

पूर्व मीमांसा कारिका विवरणम्—

गो० श्रीपुरुषोत्तम जी रचित। प्रका० 'पुष्टिभक्ति सुधा' में

इसी की एक प्रति "जैमिनि-भाष्य-भावार्थपाद-विवरणम्।" नाम से भुवनेश्वरी पीठ गोंडल के संग्रह में स० १०४ पर विद्यमान है, जिसका ले० सं० १८५४ है और पत्र २४. ग्रन्थ पूर्ण है।

आचार्य श्री ने पूर्व मीमांसा-भाष्य की रचना द्वि० स्क० सुबोधिनी के पूर्व कर ली थी। उन्होंने लिखा है :—वाक्यार्थस्या पूर्वत्वात् भावनापक्षश्च पूर्व मीमांसा भाष्य एवनिरा कृतः" (द्वि०स्कं०सु० २।१।५)

उपवेद—

वेद—चतुष्टयी के चार उपवेद इस प्रकार हैं :—

(१) आयुर्वेद—ऋग्वेद का उपवेद। ब्रह्म प्रजापति धन्वन्तरि द्वारा प्रणीत।

(२) धनुर्वेद—यजुर्वेद का उपवेद। महादेव द्वारा रचित विश्वामित्र द्वारा व्यवहृत।

(३) गान्धर्व वेद—सामवेद का उपवेद। महर्षि भरत द्वारा प्रणीत।

(४) स्थापत्य वेद—अथर्व वेद का उपवेद। विश्वकर्मा द्वारा प्रणीत।

इन चारों उपवेदों का धर्मानुष्ठान में उपयोग है, अतः वे प्रमाण भूत हैं। यथा—आयुर्वेद के द्वारा आरोग्य सिद्ध से धर्मानुसरण में सहायता मिलती है। धनुर्वेद के द्वारा आत्म संरक्षण और पररक्षण का कार्य होता है, अतः वह धर्मोपयोगी है। गान्धर्व वेद के द्वारा उद्वेग की शान्ति होती है अतः चित्तस्वास्थ्य के लिये यह भी धर्मानुष्ठान का

उपयोगी है। स्थापत्य के द्वारा यज्ञ के साधन स्रुक् स्रुवा वेदी गृह प्रसादादि वस्तु निर्माण की सुकरता मिलती है, अतः वह भी धर्म का उपयोगी है।

इस प्रकार चारों उपवेद धर्म के उपयोगी होने के कारण अविरोधी रूप में प्रमाण हैं। इसी प्रकार जो अन्य शास्त्र ऐहिक उपयोग के साथ पारमार्थिक उपयोग में फलपर्यवसायी होते हैं वे सभी अविरोधी भावना से प्रमाणान्तः पाती हैं, पर जो केवल ऐहिक उपयोग की सिद्धि करते हैं, वे विरोधी, एतावता अप्रमाण हैं। आयुर्वेद का उपयोग केवल क्षणभगुर शरीर के संरक्षण और अभिवर्द्धन के लिये किया जाता है तो वह परमार्थ साधना में किसी प्रकार प्रमाणभूत नहीं है। इसी प्रकार यदि धनुर्वेद का उपयोग हिंसा विनाश भयोत्पादन के लिये किया जाता है तो वह भी निरर्थक और हेय है। ऐहिक सन्तुष्टि अथच विलास के लिये यदि गान्धर्व और स्थापत्य का प्रयोग है तो वह भी परमार्थदृष्ट्या अनुपादेय होने के कारण अप्रामाणिक है, यह व्यवस्था है।

उपवेदों के स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में सर्व नि० निबन्ध में (कारिका ७८, ७९) और उसके आवरण भंग टीका में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार ४ वेद, ४ उपवेद, ६ अंग, १ पुराण समुदाय, १ स्मृतियां (१८), १ पूर्व मीमांसा, १ उत्तर मीमांसा। इस प्रकार एकत्र अष्टादश विद्याओं का उपयोग वेद प्रतिपादनीय धर्म के संबंध में होता है, अतः इन सब को प्रमाण कोटि में परिगणित किया गया है।

वेदांग—

वेद साक्षात् नारायण स्वरूप है, अतः षट् गुणों के रूप में उसके ६ अंग माने गये हैं।

(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द, (६) ज्योतिष।

श्री वल्लभाचार्य के मत में इन छहों का उपयोग और प्रयोजन वेद की सर्वाङ्ग रक्षा है। (सर्व नि० निबन्ध का० ७८) आपने कहा है कि वेद का संरक्षण स्वरूप, अर्थ और अनुष्ठान इन तीन प्रकारों से संभव है, एक एक प्रयोजन के लिए दो-दो का निर्माण इस प्रकार है—

(१) शिक्षा और (२) छंद शास्त्र वेद का स्वरूपत: संरक्षण करते हैं अन्यथा उसमें व्यतिक्रम की संभावना है।

(३) व्याकरण और (४) निरुक्त शास्त्र वेद के अर्थ का संरक्षण करते हैं, अन्यथा विपरीत ज्ञान हो जाने का भय है।

(५) ज्यौतिष और (६) कल्प शास्त्र अनुष्ठान के द्वारा वेद का संरक्षण करते हैं। अन्यथा फलवैपरीत्य का भय है।

इस प्रकार का अनुमान है कि यह वेदपुरुष के छै गुण हैं, इनमें ज्यौतिष ऐश्वर्य का, कल्प वीर्य का, शिक्षा यश का और छन्द श्री गुण का बोधक है। इसी प्रकार व्याकरण ज्ञान का और निरुक्त वैराग्य का ज्ञापक है। इन छह गुणों की उत्कृष्टता से वेद के भगवद्रूप होने की पुष्टि होती है।

आचार्य के कथनानुसार जहाँ उक्त विविध संरक्षण के लिये इनकी नितान्त आवश्यकता है वहां उन्हें उसी रूप में प्रमाण मान लिया गया है और उनपर किसी प्रकार अर्थान्तर के सिद्धार्थ ग्रन्थ रचना को महत्व नहीं दिया गया है। वे छहों यथावस्थित वेदविग्रह की शोभा बढाते और उसे साकारता प्रदान करते हैं। अपने स्पष्टार्थ द्वारा वैदिक अभिधान को व्यक्त करते हैं। तावता अविरुद्ध प्रमाण हैं।

अर्थ शास्त्र और काम शास्त्र की उपादेयता:—

भारतीय मानवजीवन की उदात्तता, पुरुषार्थ-चतुष्टय की परिपूर्ण साधना में सन्निहित है. 'मोक्ष' जिसे चाहे जिस परिभाषा में कहा जाय दु.ख निवृत्ति पूर्वक परमानन्दानुभूति का नाम है। एकांगीन सुख- जो केवल इस लोक में देह के साथ साथ ही सम्बद्ध है की अपेक्षा, सर्वांगीण सुख जो यत्रतत्र सर्वत्र कालबाधा से विरहित है नित्य सत्य है प्राप्तव्य, पुरुषार्थ है, उपादेय है, अनिवार्य और आवश्यक है।

चारों पुरुषार्थ परस्पर अविरोधी भाव से अन्योन्य सहायक होकर अनुष्ठेय हैं विधेय हैं, धर्म और मोक्ष के विरोधी रूप में शेष दोनों त्याज्य या उपेक्षणीय, अनावश्यक हैं। धर्म (कर्म) के आचरण के लिये, अर्थ काम सहायक और साधक है धर्म की सर्वत्र आवश्यकता है, वह जीवन को परिपूर्ण करने, प्रकाशमान बनाने और फलोन्मुखी

करने में अपरिहार्य साधन है। अर्थ काम की उपेक्षा करके सीधा मोक्ष मार्ग का पथिक भी धर्म को छोड नहीं सकता। क्रमश आगे बढने वाला तो उसे अवलम्ब रूप में स्वीकार करता ही है, लोक व्यवहार में अर्थ एव काम के सामञ्जस्य अथवा उनकी स्थितिस्थापकता के लिये, स्थायित्व के लिए, भी धर्म की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तात्पर्यत धर्म और मोक्ष यही दो पुरुषार्थ मानव जीवन के लिये अपरित्याज्य हैं और इनको लेकर ही, प्रधान शास्त्रों की निर्मिति हुई है। अर्थ और काम, जो लौकिक स्थिति मे सर्वथा उपेक्षणीय नहीं हैं भक्तिमार्गीय अनुष्ठान में उनके प्रकार का सशोधन अवश्य किया जा सकता है। भक्ति मार्गीय चार पुरुषार्थ की तो बात ही अलग है, वे तो ज्ञानी भक्त के कठभूषण हैं, उनका जीवन है, प्राण है, आत्मा है। *

लौकिक व्यवहारोपयोगी अर्थ काम के प्रतिपादक शास्त्रों को श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धान्त मे कितनी प्रामाणिकता किरूप में प्राप्त है इस पर सर्व निर्णय निबन्ध में विचार किया गया है। (कारिका . ७६, ८०)

अर्थ शास्त्र:—

अर्थोपार्जन, उसका सरक्षण तथा वृद्धि आदि का प्रतिपादक होने से अर्थशास्त्र अर्थ द्वारा धर्मसाधक होने से प्रधान रूप से प्रमाण नहीं है। अर्थ, जहा तक धर्म का उपयोगी है, उसकी सीमा मे चलता है, धर्म का बाध नहीं करता वहीं तक सार्थक है, अन्यथा पचदश अनर्थों का उत्पादक होने से विपरीत फल दाता हो जाता है, तावता अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता वहीं तक है। इसका विशेष समावेश न्याय (नीतिशास्त्र) में किया जाता है।

स्वतंत्र पुरुषार्थ न होने से इस पर शुद्धाद्वैत वाङ्मय में कोई ग्रंथ रचना नहीं की गई। धर्मोपयोगी रूप में इसका परिज्ञान प्रचलित शास्त्रों द्वारा किया जा सकता है।

काम शास्त्र—

वात्स्यायन प्रणीत काम शास्त्र लौकिक सुखाद्बोधक है। यावारा रूपेण, नियता होने के कारण मोक्ष के स्वरूपातिरूप उदाहरण रूप म

---

* इसका स्पष्टीकरण भागवत प्र० प्रकरण में वृत्रासुर धनु श्राव मे परिचय में किया गया है।

कहा जा सकता है। धर्म-सम्बन्ध में उसका साक्षात् उपयोग नहीं है, और प्रत्यक्षतः मोक्ष का तो वह प्रबल शत्रु है। अतः काम प्रतिपादक शास्त्र को प्रामाणिकता नहीं दीजाती। 'पुत्रे कृष्ण प्रिये रति.' (निरोध-लक्षण) इस आचार्य वाक्य के अनुसार भगवदीय सन्तान परम्परार्थ इसका वैध उपयोग अभिप्रेत है। स्वतन्त्र पुरुषार्थ न होने से इस पर शुद्धाद्वैत वाङ्मय में कोई रचना नहीं हुई है।

न्याय शास्त्र—

"पुराण न्याय मीमांसा०" आदि वाक्य में जिस न्यायशास्त्र का ग्रहण है वह नीतिशास्त्रवाची है, अतः यहां भी न्यायशास्त्र से नीति शास्त्र का ही अर्थ लेना चाहिये। इस नीति शास्त्र के द्वारा लौकिक-व्यवहार चातुर्य से धर्मादिअनुष्ठान में सौकर्य आता है अतः यह प्रमाण चतुष्टय के अनुरूप ग्राह्य है। इसके द्वारा आचार में सहायता मिलती है, अतः धर्माविरोधी यह प्रमाण है।

यहां न्याय शब्द से अक्षपादादि विरचित शास्त्रों का अभिप्राय नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वे प्रमाणचतुष्टय के अनुकूल नहीं है, और ईश्वर का याथार्थ्येन निरूपण नहीं करते। अतः वे प्रमाण नहीं है। (सर्व० नि० ८२)

लौकिक व्यवहार चातुर्य के लिये जिस नीति की आवश्यकता है, वह भारतादि शास्त्रों में प्रतिपादित यथावस्थित रूप में ग्राह्य है। अतः उस पर कोई ग्रन्थ रचना नहीं हुई है।

तर्क शास्त्र—

तर्क शास्त्र से प्रामाणिकता में उस शास्त्र का ग्रहण करना चाहिये जो मीमांसा के अनुकूल हो, और जिसके लिये कहा गया है........ "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः"। मीमांसा के अनुकूल वेदार्थ-प्रतिपादन में जो तर्कशास्त्र सहायक है वह प्रमाण है। (सर्व० नि० ८२) तर्काप्रतिष्ठानात् "इस व्यास सूत्र (२।१।११) में ऐसे तर्क की अप्रतिष्ठा है जो वैदिक युक्ति से विरोधी है। वल्लभाचार्य ने मीमांसानुकूल तर्क को "वैदिक युक्ति" नाम से सम्बोधित किया है। 'तपसा वेद-युक्त्या च प्रमाणात्परमात्मनः" (शा० नि० कारिका० ६७) इस प्रकार वह तर्क प्रमाण कोटि में गिना गया है।

परपक्ष निग्रहात्मक शब्दांतर तर्क काम शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में अनपेक्षित है अतः उस पर कोई ग्रन्थ रचना नहीं हुई है।

योग तथा सांख्य शास्त्र—

भगवद् गीता तथा भागवत में कथित सांख्य और योग यद्यपि अनर्थ निवृत्ति और तात्विक निर्धार करते हुए सत्व विशुद्धि द्वारा लक्ष्य के साधक प्रमाण हैं तथापि वे भागवत शास्त्र को प्रतिकूल स्थिति में कालादि साधनों की अपेक्षा रखने के कारण असहाय शूर नहीं है। परमुखापेक्षी होने से उन्हें साक्षात् प्रमाण गणना में लेने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

ईश्वर प्रतिपादक सांख्य भागवत के एकादश स्कंध और कपिलोक्त तृ० स्कंध में वर्णित सांख्य के रूप में साधारणतया ग्राह्य है। अष्टांग योग भी जो कायक्लेश के सिवाय साधना में सहायक है प्रमाण भूत है, क्योंकि गीता में "कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राम मचेतसः (१७।६) आदि में ऐसे विधान को आसुरी गिना है। वाममार्गियों द्वारा प्रवृत्त सांख्य और योग काल्पनिक अथवा मोहोत्पादक होने से ग्राह्य नहीं, अप्रामाणिक हैं। (सर्व० नि० ७०)

तत्वनिर्धारार्थ, ईश्वर प्रतिपादक सांख्य की उपयोगिता और उपादेय तत्वों का परिज्ञान भागवत के तृ० स्कंध कपिलदेव के और उद्धव के प्रति एकादश स्कंध में कथित श्रीकृष्णोपदेश से सहज हो सकता है, एतदर्थ स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना की आवश्यकता नहीं समझी गई फिर भी प्रमेय-प्रकरण में सूचित सिद्धान्त और वाद ग्रन्थों में इनका उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार योग द्वारा प्राप्त फलरूप अष्ट सिद्धियाँ भी अनुग्रह-मार्ग में तुच्छ हैं अतः इस दृष्टि से इस पर भी कोई ग्रन्थ रचना नहीं की गई है। जहाँ तक चित्तवृत्तिनिरोध का प्रश्न है, इसकी निष्पत्ति के अर्थ तनुजावित्तजा सेवा द्वारा मानसी सिद्ध करने से इसका पूर्ति हो जाती है, और अत्यधिक फलरूप में।

व्याकरण और कोश—

व्याकरण और कोश का निकट सम्बन्ध है, व्याकरण के द्वारा प्रकृति प्रत्यय के निर्देश से शब्दसिद्धि होती है, और कोश समानार्थक

शब्दों का सामूहिक परिज्ञान करता है। आचार्यश्री ने सर्वनिर्णय नि० में जैसा कहा है "पदद्वयं सुप्ति गन्तं ताभ्यां चलति वाक्पतिः" (१७४) अर्थात् शब्द ब्रह्मात्मक रूप श्रीहरि के सुबन्त तिङन्त दो चरणारविन्द हैं जिनके द्वारा वे गतिविलास प्रदर्शित करते हैं। व्याकरण और निरुक्त दोनों का संभूय अर्थसिद्धि करना प्रयोजन है। लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के अर्थज्ञान से मानव का उभयविध कर्तव्यनिर्धारित होता है। व्याकरण के द्वारा शब्दसिद्धि हो जाने पर भी समानार्थक शब्दों का संकलन आवश्यक है एतदर्थ वैदिक शब्दों का संग्रह निघंटु और लौकिक शब्दों का संग्रह कोश नाम से होता है।

वैदिक शब्दों के संग्रह की प्रामाणिकता का जहाँ तक प्रश्न है शु० पु० वाङ्मय में वेदांग रूप में निरुक्त और निघण्टु को यथावस्थित स्वीकार किया गया है। प्रकरणादि के अनुसन्धानपूर्वक लौकिक व्यवहार निष्पत्ति के लिये कोश की प्रामाणिकता में भी कोई विसंवाद नहीं है। शब्द और अर्थ की पारस्परिक योजना और अर्थावबोधकता के लिये आचार्यश्री ने सर्वनिर्णय निबन्ध में बहुत स्पष्ट निरूपण किया है, अतः उस पर यहां कहना संगत नहीं है (स० नि० ७६-७८)

कोश साहित्य—

शब्दार्थ,संग्रहः—प्रो० श्रीबालकृष्ण शास्त्रि संकलित...अप्रकाशित इसमें वैदिक, कर्मकांडीय, उपनिषदीय और व्यावहारिक शब्दार्थों का संकलन किया गया है। प्रो० कंठमणि शा० के, संग्रह में विद्यमान।

गोविन्द बालकोशः—प्रो० श्रीबालकृष्ण शास्त्रि विरचित। अप्रकाशित। पद्यात्मक। अपूर्ण। प्रो० कं० शास्त्री के संग्रह में विद्यमान।

संगीत शास्त्रः—

इस शास्त्र का उपयोग भगवल्लीला गुणगान में और भगवल्लीलानुकरण रासादि में होता है। नृत्य और संगीत दोनों मानसिक शुद्ध भावना द्वारा जिनमें किसी प्रकार का विकार न हो भगवद्भक्ति के साधक माने जाते हैं। "गुणगाने सुखावाप्तिः गोविन्दस्य प्रजायते"

(निरोध लक्षण ६) इस प्रकार का आचार्य का वाक्य इसकी पुष्टि करता है । अधिरभेद से संगीत विविध भावापन्न हो जाता है, और उसके गान में भी तदनुरूप फल की छाया आती है, इसका मार्मिक विवेचन आचार्यश्री ने "जलभेद" नामक ग्रंथ मे किया है । तावता मानसिक तल्लीनता और भगवत्संकीर्तन भक्ति के लिये इसका समुचित शास्त्रीय उपयोग होता है ।

शु० पुष्टिमार्ग में इस सकीर्तन भक्ति के लिये अष्टछाप आदि के भक्त कवियों द्वारा भाषा मे रचना तो हुई ही है, पर संस्कृत मे भी विविध अष्टक स्तोत्र चतुष्पदी, षट्पदी, अष्टपदी और अनेक गीतिकाओं का निर्माण किया गया है जिनके रचयिताओं मे श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण और श्री हरिरायजी का विशेष स्थान है । संगीत में प्रयुक्त होने वाले ऐसे छोटे-छोटे ग्रन्थ का वर्गीकरण साधन भक्ति प्रकरण में किया गया है, अतः उनका यहां उल्लेख अनावश्यक है ।

जहाँ तक शास्त्रीय संगीत के परिज्ञान का प्रश्न है, पुष्टिमार्ग की सेवाप्रणाली में इसका प्रत्यहं उपयोग होने से आवश्यक है । पर तदर्थ प्रचलित शास्त्रों से किसी प्रकार का वैमत्य न होने से उनको यथावस्थित उपयोगार्थ स्वीकार किया गया है । इस पर पृथक् ग्रन्थ रचना नहीं हुई ।

कुछ ग्रंथ इस प्रकार है—

अष्टपदी गीतिकाएं । गो० श्रीविट्ठलेश प्रभु० तथा श्रीहरिरायजी कृत प्रसिद्ध हैं, जिनका उल्लेख साधन भक्ति में किया गया है यह विविध रागों में गेयगीतिकाए हैं ।

संगीत सूत्र-टीका—मठपति श्रीजयगोपाल भट्ट रचित । यह व्याख्या वाग्देवी श्री सरस्वती के प्रणीत सूत्रों पर है । अप्रकाशित । इस टीका का परिचय बम्बई से प्रकाशित होने वाले "गुजराती" पत्र के सवत् १९७० के दीपावली विशेषाक मे दी गई थी । यह मेरे देखने में नहीं आया ।

संगीत दर्पण—पो० श्रीहरिवल्लभ शास्त्रि विरचित । अप्रकाशित । संगीत रत्नाकर का गद्यरूपानुवाद । पो० कंठमणि शास्त्रि के संग्रह मे सम्पादित विद्यमान । सर० मं०

स्मृति (धर्म) शास्त्र—

प्रस्थान-चतुष्ट्य तथा पुराण महाभारत आदिके अनुकूल सम्वाद-तया ऋषियों द्वारा समय-समय पर रचित उनकी स्मृतियां, जिनकी संख्या १८ वर्णाश्रम आचार व्यवहार-ज्ञान के लिये प्रमाण मानी जाती है।

शु० सम्प्रदाय में निम्न लिखित प्रस्तुत आवश्यक विषय का प्रतिपादन करने वाले, संक्षिप्त सारस्वरूप ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है, जिनमें सप्रमाण आचार-व्यवहार का परिपालन हो सके। यद्यपि "धर्मः प्रोज्झितकैतवः" (भा० प्र० १, २,) श्लोक की सुबोधिनी में आचार में भी प्रवृत्ति सकोचादि से गुण दोष विधान के कारण और सत्यादि में व्यवहार के सन्निपात होने के कारण तदुक्त धर्म में कापट्य की संभावना" का उल्लेख आचार्यों ने किया है, पर वह पारमार्थिक-तया है। लोक में उसकी आवश्यकता होने से स्वीकार करते हैं। यह आचार व्यवहार शरीर और आन्तर भाव की शुद्धि के लिये भगवत्सेवापयोगी होने के कारण अपेक्षित है, जिससे सतत मनोयोग-पूर्वक अनुष्ठान से सत्वशुद्धि और ध्रुवा स्मृति का उदय होता है। बुद्धि के नैर्मल्य से पावनता आकर आत्मा प्रसादोन्मुख होती है। जिससे प्रमेय के प्रति स्नेह रुचि का आविर्भाव और क्रमशः फलतया परमानन्द की अधिगति होती है। इस विषय के ग्रन्थ इस प्रकार हैः—

आचार ग्रन्थः—

द्रव्य शुद्धि—गो॰ श्री पुरुषोत्तमजी कृत। प्रकाशित। यू॰ स॰ सागर-बंबई। प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत गद्य में स्मृतियों के प्रमाण-वाक्योपन्यास पूर्वक उन सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है जो शुद्धि के सापेक्ष हैं। ग्रन्थाकार ने इन सब हरिसेवोपयोगी वचनों को कारिका के रूप में सन्नद्ध किया है। उपक्रम में लिखा है कि यद्यपि निबन्धादि ग्रन्थों में इसका स्पष्ट निर्णय है तथापि बुद्धिदोष से द्रुतावबोध में संभाव्य बाधा के निरासार्थ इसका स्पष्टीकरण किया है। सभी प्रकार की अपेक्षित शुद्धियों का संकलन कर उनके तारतम्य का निर्णय वस्तुतः शुद्धि की उलझन को दूर कर देता है।

ग्रन्थाकार ने 'द्रव्य शुद्धि' के अनन्तर आत्मशुद्धि पर जोर देकर भक्ति को उसका परम साधक माना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर निम्नलिखित विवरण है—

व्रजभाषा टीका—अज्ञात कर्तृक। अप्रकाशित। सर० मं० शु० बं० ७१, २

व्रजभाषानुवाद—श्रीनन्द किशोरजी शास्त्री। नाथद्वारा विद्याविभाग से प्रकाशित।

गुजराती भाषाटीका—विश्वनाथ गोवर्द्धन मि० कृत प्रकाशित विद्याविभाग

गुजराती भाषानुवाद—श्रीमाधवजी शास्त्रि कृत प्रकाशित स०

शुद्धि-निबन्ध—अज्ञात कर्तृक। अप्रकाशित। सर० म० ७६, १।

सूर्य चन्द्र-ग्रहण विधि-भाषा-अज्ञात कर्तृक। अप्रकाशित सर मं० ६२, ४। १४।

जलपान-विचार—पं० श्री कन्हैयालाल शास्त्रि कृत। अप्रकाशित सर० मं० ७२, १०।

पादशुद्धि'—गो० श्री द्वारकेश जी कृत। अप्रका०। सर० म० १०६, ४०

धर्म शास्त्रीय निर्णय के आधार पर समाज गत अपावन के निरासार्थ अशौच की व्याख्या की गई है।

यह आशौच देहसम्बन्धी कर्मानधिकारिता का द्योतक है, अतः शरीरशुद्धि के लिये नियत समय तक पुष्टिमार्ग में इसके परिपालन की आवश्यकता है। यह आशौच दो प्रकार का है (१ जन्म सम्बन्धी (२ मरण सम्बन्धी। इस पर नीचे लिखे ग्रन्थों का निर्माण हुआ है।

आशौच निर्णय—प० श्री निर्भयराम भट्ट कृत (रचनाकाल स० १८८३ काकरोली) प्रकाशित। स १९८१ नाथद्वारा विद्या विभाग।

इसका मूल आधार धर्म सिन्धु, स्मृत्यर्थसार, भट्टोजिदादित कृत आशौच प्रकरण, त्रिशच्छलोकी, मिताक्षरी टीका आदि है।

व्रजभाषानुवाद—प० श्री नन्दकिशोर जी शास्त्रि कृत।

गुजराती अनुवाद—प श्री नन्दकिशोर जी शास्त्री कृत मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित।

सुतक-निर्णय. भाषा—वत्सा भट्ट कृत. अप्रका० सर० मं० ७१, ११। ०

सुदक-द्वयमुंडना देश. भाषा—वंशी भट्ट कृत अप्रका० सर० मं० ६२, ४, १४।

ज्योतिष व्रतोत्सव पर्वादि निर्णय ग्रन्थ—

शु० सम्प्रदाय उत्सव प्रधान है क्यों कि इसमें आनन्दमय श्री हरि की लीलाओं की प्रधानता है। श्री प्रभु की दैनिक सेवा-पद्धति इसी क्रम से प्रचलित होती है। इन व्रत उत्सव पर्वादि के मूल कारणों में, जहाँ वैष्णवी भावना है, भक्ति का अधिक समावेश है, वहाँ पौराणिकता के आधार पर ऐतिहासिक विचार को भी प्रश्रय दिया गया है। इनकी स्थिति स्थापकता में स्मृत्यादि धर्म शास्त्र और निर्णय सापेक्ष ज्योतिष शास्त्र का भी पूर्ण अवलम्ब है। सदाचार को महत्त्व देते हुए इन दोनों के निर्णय में 'वैष्णव पक्ष' को ही सर्वांश में महत्त्व दिया गया है, 'स्मृति पक्ष' को गौणता। इस हेतु यह सभी निर्णय एक विशेष पद्धति पर सम्मानित होते हैं। तिथि नक्षत्रादि से संयुक्त होने के कारण यद्यपि इन्हें ज्योतिष शास्त्र का सहारा लेना पड़ता है तथापि वे उसी कक्षा तक वाच्य है जहाँ तक उनकी वैष्णवी भावना का बाध नहीं होता। संक्षेपतः पूर्वापरता, गौण मुख्यता और सदाचार को मान्यता देकर सभी निर्णयों का विधान किया गया है।

यह व्रत, पर्वोत्सव आदि निम्न रीत्या विभाजित किये जा सकते हैं—

(१) धार्मिक—जिनमें पुण्य सम्पादनार्थ विशेष आचार क्रियाओं का समावेश होना हो। जैसे मेष संक्रान्ति, मकर संक्रान्ति आदि।

(२) पौराणिक—जिन में भगवान और उनके अवतार आदि की लीलाओं का समावेश हो। जैसे श्री कृष्ण जन्माष्टमी, श्री रामनवमी आदि।

(३) ऐतिहासिक—जिनमें महापुरुषों के जन्मोत्सवादि का संकलन किया गया हो। जैसे श्री वल्लभाचार्य प्राकट्योत्सव आदि।

इनके निर्णय में आप्त शास्त्रों के वचनों की संगति, विरुद्ध मत का खंडन, और स्वकीय साम्प्रदायिक सिद्धान्तानुसार निर्णय अपेक्षित होता है। तिथि,नक्षत्र के ऊपर आधारित होने वाले कई उत्सव इनके सामञ्जस्य पर सम्पादित होते हैं, ऐसी स्थिति—(जिसे स्मार्त भावना कहा जाता है) से इसमें यद्यपि वैष्णवता के आग्रह होने पर भी कोई निर्णय धर्मशास्त्र के विरुद्ध प्रचलित नहीं है। परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले वचनों की मीमांसा प्रणाली से संगति द्वारा निर्णय दिया जाता है।

कथ्यमान व्रतोत्सवादि का मूल श्री वल्लभाचार्य के ये संक्षिप्त किन्तु सार रूप संकेत हैं जो प्रसङ्ग वश यत्र तत्र कहे गए हैं। भागवत द० स्कन्ध में श्री कृष्ण प्रादुर्भावाध्याय तथा सर्व निर्णय नि० के "एकादश्युपवासादि कर्तव्यं वेधवर्जितम् (२४५)" आदि वचन और उनके विवरण द्रष्टव्य हैं। सुबोधिनी (द्वि० ११६) में व्रतोपवासादि को आचार्य श्री ने भगवदीय देह-साधक रूप में स्वीकार किया है।

महाप्रभु के अनन्तर श्री विट्ठलेश्वर प्रभु चरण ने विस्तृत पद्धति पर, जन्माष्टमी, रामनवमी और दोलोत्सव जैसे महत्व पूर्ण उत्सवों का प्रासङ्गिक विवादापहारक निर्णय किया। आगे चल कर यह निर्णय ग्रन्थ का रूप धारण करते गए। प्रभुचरण के सात पुत्रों में से कतिपय ने और आगे चलकर विशेषतया सूरतस्थ गो० श्री पुरुषोत्तमजी ने इस पर व्यापक और प्रांजल निर्णय एवं विभिन्न विद्वानों ने प्रासङ्गिक अथवा सामूहिक विवरण लिखे, जो अपने अपने दृष्टिकोण से निर्णय करते हैं।

इन्हें नीचे लिखे विभागों में बाँटा जा सकता है—

(क) वर्षोत्सव-निर्णय ग्रंथ—जिनमें वर्ष के मासिक क्रम से, सभी अधिकांश या कतिपय उत्सवों के निर्णय हैं। सभी ग्रन्थों में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के वैशिष्ट्य के कारण प्राथमिकता दी गई है। यहाँ से वर्षोत्सवों का परिगणन होता है।

(ख) प्रकीर्ण-निर्णय ग्रन्थ—जिनमें किसी एक विशेष मत, उत्सव को लेकर निर्णय किया गया है, यह निर्णय स्वतन्त्र और किसी पूर्व ग्रन्थलेख की व्याख्या रूप में भी हैं।

(ग) प्रासङ्गिक-निर्णय ग्रन्थ–जिसमें किसी विशेष प्रसङ्ग को लेकर निर्णय है।

वर्षोत्सव निर्णय ग्रन्थ—

इन ग्रन्थों में जन्माष्टमी—(भा० कृ० ८) से लेकर रक्षाबन्धन (श्रा० शु० १५) तक का निर्णय दिया गया है। निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं‡।

उत्सव-प्रतान—गो० श्री पुरुषोत्तम जी कृत। प्रकाशित शास्त्रीय वचनों की संगति खंडन-मंडन पद्धति पर निश्चित सिद्धान्त प्रतिपादन में यह ग्रन्थ सबसे अधिक प्रमाण माना जाता है।

इस पर निम्नलिखित व्याख्याएं हैं—

उत्सव प्रतान-टिप्पणी—अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित।

उत्सव-प्रतानोदाहरणानि—पं० श्री गंगाधर भट्ट कृत। प्रकाशित।

उत्सव निर्णय-प्रतान टीका—पं० गंगाधर भट्ट कृत। प्रकाशित। सर० मं० १०४, १०।

उत्सव प्रतान हिन्दी भाषानुवाद—कृष्णशास्त्री सुत पं० जगन्नाथ शास्त्री कृत। प्रकाशित।

उत्सव प्रतान सन्दोह(व्रजभाषा सार) अज्ञात कर्तृक। प्रकाशित (श्री पुरुषोत्तम जी कृत प्रतान का सार)

कतिपयोत्सव-निर्णय—गो० श्री कल्याण राय विरचित। प्रका०

सम्वत्सरोत्सव-कल्पलता—गो० श्री व्रजराय जी कृत। प्रकाशित।

उत्सव-निर्णय—गो० श्री वल्लभ जी कृत। प्रकाशित।

उत्सव-माला—गो० श्री हरिराय जी कृत। प्रकाशित।

उत्सव-मालिका—आत्रेय (बालकृष्ण भट्टात्मज) श्री गोकुलचन्द्र भट्ट कृत। प्रकाशित।

वर्षोत्सव-निर्णय—भट्ट श्री रामकृष्ण शास्त्री कृत। प्रकाशित।

उत्सव निर्णय भाषा—गो० श्री जीवन जी महाराज कृत०। प्र०

---

‡ उत्सव निर्णय सम्बन्धी सभी ग्रंथ जिनकी रचना २००० तक हो चुकी है, "उत्सव निर्णय ग्रंथ समुच्चय" नाम से श्री वा० कृ० शु० महासभा सूरत द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। ग्रंथ प्रकाशक का नाम नहीं लिखा गया है।

उत्सव-निर्णय-टिप्पणी—पंच. श्री गट्टूलाला जी कृत। प्रका०।
व्रतोत्सव-पर्वादि निर्णय—पं० श्री निर्भय राम भट्ट कृत। प्रका०
व्रतोत्सव-पर्वादि निर्णय—गुर्जरानुवाद. श्री दयाराम कवि कृत। प्रकीर्ण।
व्रतोत्सव-घटिका-दृष्टान्त—भट्ट गंगाधर शास्त्री कृत। प्रका०।
हायनोत्सव-रत्नावलिः—क्षत्रिय लालदास कृत। प्रका०।
कर्तव्य-वृत्त विवेक भास्करोदय-क्षत्रिय श्रीकृष्णचन्द्र कृत। प्रका०
व्रतोत्सव निर्णय व्रजभाषा—भट्ट तुलजाराम कृत। प्रका०।
सम्वत्सरोत्सव-विवेक—त्रिमह श्री गोवर्द्धन शर्मा कृत। प्रका०।
वर्षोत्सव विधि-प्रकाश—मठेरा श्री इन्दिरेश कृत। प्रका०।*
व्रतोत्सव-पर्वादि निर्णय—पं० श्री रमानाथ शास्त्री देवर्षि कृत। प्रकाशित।
सम्वत्सरोत्सव-विधि प्रकाशः—अज्ञात कर्तृक। अप्रका० सर० मं० ११२, ३८,३६। (संभवतः वर्षोत्सव विधि प्रकाश और यह एक ही हैं)
चन्द्रप्रतोदय निर्णय—संग्रह श्री गोवर्द्धन शर्मा कृत। प्रका०‡

(ख) प्रकीर्ण उत्सव निर्णय ग्रन्थ—

इस विभाग में विशेष महत्त्व पूर्ण उत्सव के निर्णयमें उन्हीं ग्रन्थों अथवा लेखों की सूची दी जा रही है जो तद्विषयक संग्रह में न होकर स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं।

जन्माष्टमी-निर्णय—(भा० कृ० ८) गो० श्री विट्ठलेश्वर प्रभुचरण कृत*। प्रका० इस पर निम्नलिखित विवरण, अनुवादादि प्रकाशित हुए हैं—
(क) जन्माष्टमी निर्णय—गो० रघुनाथजी कृत। प्रकाशित।
(ख) जन्माष्टमी निर्णय—गो० हरिराय जी कृत। प्रकाशित।

---

* इसके नाम 'सम्वत्सरोत्सव विधि प्रकाश' और 'सर्वोत्सव प्रकाश' भी मिलते हैं।

‡ यह समाज ग्रन्थ (उत्सव निर्णय ग्रंथ सम क्रम) में वा०पु० महासभा सूरत से प्रकाशित हुये।

(ग) जन्माष्टमी निर्णय—गो० श्री चाचा गोपेशजी कृत । प्र० ।

(घ) जन्माष्टमी-प्रकाश—प्रतान ग्रन्थे घनश्यामात्मज गो० श्री पुरुषोत्तम जी कृत । प्रका० ।

(ङ) प्रभु प्राकट्ये शुद्ध जन्माष्टमी विचार—श्रीवल्लभजी कृत प्रकाशित ।

दान एकादशी—(भा० शु० ११) महोत्सवे (शृंगार समुत्थानादि विषयक) ।

श्लोकाः—अज्ञात कर्तृक । अप्रकाशित । सर० सं० ८८, ३३ ।

वामन जयन्ती व्रत निर्णय—(भा० शु० १२) गो० श्री देवकी नन्दन जी कृत प्रकाशित ।

नृसिंह वामनजयन्त्युत्सव वैशिष्ट्य निरूपणम्—गो० श्रीहरिराय जी कृत । प्रकाशित । पु० पु० नडियाद । गुजराती अनुवाद सहित ।

वामन जयन्ती निर्णय—गो० श्री वल्लभ जी-सुत गोपाल जी कृत प्रकाशित ।

वामन जयन्ती—श्रिमद् श्री गोवर्द्धन भट्ट कृत प्रकाशित ।

वामन द्वादशी महोत्सवे—(शृङ्गारसमुत्थान प्रातः सेवा प्रार्थना पंचामृत) श्लोक अज्ञात कर्तृक । अप्रकाशित । सर० सं० ८८, ३३ ।

सरस्वती स्थापन-पूजन प्रकार—(आश्विन शु०) प्रकाशित गो० श्री द्वारकेश जी कृत ।

विजया दशमी-निर्णय—(आश्विन शु० १०) गो० श्री पुरुषोत्तम जी कृत प्रकाशित ।

विजयावाद—श्री गोपालकृष्ण सत्कवि कृत प्रकाशित ।

यह गंगाधर भट्ट कृत विजयादशमी वाद का खंडन है ।

विजयादशमी निर्णय—वासिष्ठ (गंगाधर सुत) गोवर्द्धन भट्ट कृत प्रकाशित । गो० श्री पुरुषोत्तम जी कृत विजया निर्णय का विवेचन है ।

---

* उक्त सभी प्रकाशित ग्रन्थ सेठ मादि 'उत्सव निर्णय समुच्चय' में सूरत से प्रकाशित हैं ।

विजया दशमीवाद—अन्य नाम-विजया वैजयन्ती—पं० श्रीगंगाधर भट्ट कृत प्रकाशित।

विजया दशमी-निर्णय विवेक—त्रिग्रह श्री गोवर्द्धन शम कृत।

शरद् पूर्णिमा निर्णय—गो० श्री रघुनाथ जी कृत प्रकाशित।

इसमें पूर्णिमा का निर्णय करते हुए किरीट धारण में चतुर्दशी का त्याग कर पूर्णिमा को प्रशस्त बताया गया है।

दीपोत्सव निर्णय—(का० कृ० ३०) अज्ञात कर्तृक प्रकाशित।

दीपोत्सव-गोवर्द्धन पूजन निर्णय—अज्ञात कर्तृक अप्रकाशित। सर० सं० ११२, ४१।

दोलोत्सव निर्णय सूचना पत्रम्—गो० श्री प्रभुचरण विट्ठलेश्वर कृत प्रकाशित।

यह पत्र पंड्या जी नृसिंह लाल जी नाथद्वारा के समीप है।

दोलोत्सव प्रतीक प्रकाशः—त्रिग्रह भट्ट श्रीगोवर्द्धन शम कृत प्र०

सम्वत्सर प्रतिपन्निर्णय—गो० श्री द्वारकेशजी कृत। अप्रकाशित सर० सं० ११२, २४।

अधिक चैत्रे संवत्सरारंभ-निर्णय-व्रजभाषा पं० श्री गट्टू लालजी कृत प्रकाशित।

चैत्राधिके माले शुद्धे चैत्रे सम्वत्सरोत्सव विधेय-निर्णय—संस्कृत तथा व्रजभाषा। त्रिग्रह श्री गोवर्द्धन शम कृत प्रकाश।'

राम नवमी निर्णय-गो० श्री प्रभुचरण विट्ठलेश कृत प्रकाशित।

इस ग्रन्थ के ऊपर निम्नलिखित विवेचन है—

(क) रामनवमी-निर्णय बालप्रबोधिनी टीका—त्रि० क० श्री बलभद्र शम कृत।

(ख) रामनवमी-निर्णयानुवाद—व्रजभाषा शास्त्रि छगन लाल जी, अमर जी कृत प्रकाशित।

(ग) रामनवमी-निर्णय विवेक—व्रजभाषा शास्त्रि छगनलाल जी, अमर जी कृत प्रकाशित।

रामनवमी विषयक संक्षिप्त विचार—पं० गोवर्द्धन भट्ट पं० श्री गट्टूलाला जी कृत प्रकाशित।

रामनवमी निर्णय—व्रजभाषा शास्त्रि नन्द किशोर जी कृत प्र०

रामनवमी व्रत विचार—अज्ञात कर्तृक—प्रका० ।

रामनवमी-निर्णय विवेक—त्रि० श्री गोवर्द्धन शर्मा कृत प्र०

रामनवमी-व्रत-मर्म प्रकाश— ,, ,, ,,

रामनवमी निर्णय—आनन्दीलाल जी शास्त्रि कृत प्रका० ।

रामनवमी विवेक विचार— ,, ,, ,,

रामनवमी-विचार— ,, ,, ,,

रामनवमी-निर्णय—गुर्जरभाषा, पं० मूलचन्द शास्त्रि अमदलो कृत प्रका० ।

रामनवमी-निर्णय—गुर्जर भाषा पं० श्री मगनलाल जी शास्त्रि कृत प्रका० ।

श्री रामायण...

मर्यादापुरुषोत्तम साक्षात् भगवान् श्री रामचन्द्र के कलिकल्मषघ्न चरित्र निरूपक आदि काव्य, महर्षि वाल्मीकि प्रणीत रामायण भागवत पुराण के समान ही प्रमाणभूत है।

यद्यपि अनेक महर्षियों ने श्री रघुनन्दन के चरित गान द्वारा अपनी रचना को पावन करते ही लोकोपकार किया है तथापि वह महर्षि पुंगव श्रीवाल्मीकि के समकक्ष नहीं पहुँचता है। वाल्मीकि रामायण भागवत के अनुसार ही समाधि में अनुभूत होने से प्रमाण कोटि में है।

प्रति कल्प में पतितपावन पुण्यश्लोक श्री राम का प्राकट्य होता है। प्रत्येक कल्प में पूर्वापेक्षया कुछ तारतम्य होता है, अतः वह चरित्र शतकोटि प्रविस्तर माना जाता है। रामायण आदिकाव्य होते हुए भी काव्यवत् अप्रामाणिक नहीं है। उसकी काव्यता तो केवल सर्गनिबन्धन मात्र से है। वह आप्तजनों द्वारा उसी प्रकार श्रद्धेय और प्रमाणमूर्धन्य है। जैसे श्री भागवत—इसी लिए शु० पु० सिद्धान्त में उसे पूर्ण प्रमाण माना गया है। (सर्व नि० त्रि० ८१)

श्री वल्लभाचार्य ने शा० नि० की "अर्थोयमेव निखिलै रपि वेद-वाक्यै रामायणै सहित भारत पंचरात्रै" (१०४) इस कारिका में इसके आधार भी स्वकीय सिद्धान्त निष्पादन को स्वीकारा है। यह मोक्ष का साधन और परमफल है भागवत में श्री शुकाचार्य ने भगवान् श्री राम को 'अस्मत्प्रसाद सुमुख', (स्क० ६ श्लो०) में साक्षात् आनन्द रूप से वर्णित किया है। श्रीराम सूर्यवंशी होने से द्वादश कलाओं से परिपूर्ण हैं तो श्री कृष्ण चन्द्रवंशी होने से षोडश कला परिपूर्ण। एक मर्यादापुरुषोत्तम हैं तो दूसरे पूर्णपुरुषोत्तम। दोनों एक ही स्वरूप होने से परम आराध्य, उपास्य अथच भजनीय हैं।

रामायण के निर्माता महर्षि वाल्मीकि साम्प्रतिक वैवस्वत मन्वन्तर के २८ वें त्रेतायुग में प्रादुर्भूत हुए थे और इन्होंने श्री रामचरित गाकर लोक को उद्धार का मार्ग बताया। (सर्व० नि० ८१)

वाल्मीकि विरचित रामायण के अतिरिक्त अन्य महर्षियों की रचित रामायणें भी हैं जो कल्पभेद से अनुभूत रामचरित्रों को लेकर कुछ विभिन्नता के साथ उपाख्यान प्रस्तुत करती हैं। पर ये वाल्मीकि रामायण के आधार पर ही प्रमाणभूत हैं। स्वतन्त्र नहीं। आपस्तम्बक्ष और वशिष्ठ द्वारा रचित रामायण इसी के सम्वाद से मान्यता प्राप्त करती है। श्री वल्लभाचार्य की 'रामायणमनन्त हि पुराणमिव सम्मतम' (सर्व० नि० ८१) के विवरण आवरण भंग के कथनानुसार विज्ञात होता है कि आपस्तम्बोक्त का प्रचार दक्षिण देश में है। इन रामायणों में जहाँ पारम्परिक श्रवण के अनुसार चरित का कथन है वहाँ वाल्मीकि रामायण में समाधिजन्य अनुभूति से। इसलिये वही प्रमाण है।

रामायण पर शु० सा० साहित्य—

१ श्री रामायण लोकेश्वरी टीका—श्री वल्लभाचार्य कृत। अप्रकाशित, अनुपलब्ध।

सावली-गुजरात में प्राप्त सामग्री और लेख से विदित हुआ था कि श्री वल्लभाचार्य ने सं० १५६५ विजयदशमी के दिन इस 'लोकेश्वरी' टीका की रचना पूर्ण की थी। उल्लेख था कि—"वाल्मीकि लोकेश्वरी टीका आचार्य चक्रवर्ति श्रीवल्लभ कृत। विजय दशमी सपूर्णा।

श्रीराम–लीलाकृपाकटाक्ष प्रेरणया श्रीमहाभागवत लोकगुरु, आचार्य-चक्रवर्ति...नित्य पाठक्रम पंच सप्त (ति) आवृत्तिः संपूर्णा। कार्तिक शु॰ ११ अब्द १६६९...(कांक॰ इति॰ पत्र ४१)

यह टीका प्राप्त नहीं है। इसका केवल उल्लेख ताडपत्रों में मिला था, जो असावधानी से नष्ट होगए। इसका पूर्ण विवरण 'गुजराती' नामक साप्ताहिक पत्र (बंबई से प्रकाशित) दीपावली सं १९८५, ८६ के विशेषांक में छपा था।

२. रामगीतम्–कविकलानिधि देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट रचित। जयदेव कविरचित गीतगोविन्द अनुसार श्रीरामलीला विहार। अप्र॰ (पो॰ कंठमणि शा. के संग्रह में)

३. 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं'–इत्यत्र रामायणीय पात्र चरित्र-निरूपणम्। पो० श्री बालकृष्ण शास्त्रिकृत। अप्रका॰ (पो॰ कंठमणि शास्त्री के संग्रह में)

४. ' मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं'– इत्यत्र मन्त्रार्थ–प्रतिपादनम्। बालकृष्ण शा॰ कृत॰ अप्रका॰ (पो॰ कंठमणिशास्त्री के संग्रह में)

५. रघुनाथनामनाटकम्। रचयिता अमर कवि। अप्रका॰ अहमदाबादस्थ गो. श्री व्रजरायजी द्वारा प्रदत्त साहित्य में प्राप्त (वि. विभाग कांक॰ सं. २०१९) भगवान श्रीरामचन्द्र और अहमदाबादस्थ नटवरलाल श्यामलाल प्रभु–गृह के अधिपति गो. श्रीरघुनाथजी महाराज की समतुलना में रचित। रचना सं. १९४५। अंक ७। पत्र २९। पूर्ण।

महाभारत—

संस्कृत साहित्य में जो स्थान महाभारत को प्राप्त है वह अन्य किसी ग्रन्थ को नहीं। "जो महाभारत में है वही अन्यत्र है। जो महाभारत में नहीं वह अन्यत्र नहीं," ऐसा एक प्रवचन है। महर्षि वेदव्यास ने जहां १८ पुराणों की रचना की है वहां महाभारत का प्रणयन कर उन्होंने अपने विशाल ज्ञान को लिपिबद्ध कर दिया है। भागवत में कहा गया है ' कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थ परिबृंहितम् ' (प्र० ५।३)

प्रस्तुत लक्षश्लोकात्मक ग्रन्थ में जहां पांडवों का इतिहास है वहां ज्ञान, विज्ञान, नीति, व्यवहार, धर्म, उपदेश आदि सभी विषयों का प्राजल वर्णन है। यद्यपि प्रसगोपात्त भगवान श्रीकृष्ण के दिव्य चरित्रों का भी उसमें संकलन है, पर उसे प्राधान्य नहीं दिया गया है, और यही कारण है कि-इस महान ग्रन्थकी रचना के बाद भी वेदव्यास की अन्तरात्मा प्रसन्न नहीं हुई,'उन्हे स्वीय कृति से संतोष नहीं हुआ। फलत. देवर्षि नारद के उपदेश से उन्होने श्रीभागवत की रचना की (भाग० प्र ५ । १३)

कहने का तात्पर्य यह कि- महाभारत में विशद रीत्या महत्वपूर्ण ज्ञान का सागर लहरा रहा है। इसमें अन्य ऋषियों के मतों का भी उल्लेख है और व्यासाभिमत भी विद्यमान है। तावता पारमार्थिक तत्वनिर्धार में प्रस्थान-चतुष्टयी क अविरोधी सभी सिद्धान्त प्रमाणभूत है. इससे पारमार्थिक भावना का परिपाक होता है।(श्रीवल्लभाचार्य ने शास्त्रार्थ नि० की अन्तिम कारिका " अर्थोयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै. रामायणै:] सहित भारत पचरात्रै " (शा० नि० कारिका १०४) में महाभारत को प्रामाणिकता प्रदान की है।)

जैसा कि- अन्यत्र कहा गया है " वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा, आदावन्ते तथा मध्ये हरि सर्वत्र गीयते " रामायण महाभारत तथा पुराण..... भागवतादि...सभी वेद के समकक्ष ही गिने जाते हैं।

महाभारत पर किसी शु० पु० साहित्य का निर्माण नहीं हुआ है, ऐसा करने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। उसका अर्थ, प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट है।

काव्य नाटक चम्पू आदि-

संस्कृत साहित्य में महाभारत, पुराण आदि क कथानकों को लेकर अनेक काव्य नाटक आदि की रचना की गई है। उनमें देखाजाय तो वास्तविकता कम और काल्पनिकता अधिक है। अलकार, छन्द, रस आदि क द्वारा उनमें विचित्रता का समावेश

किया गया है, पर वे पारमार्थिक रूप में किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करते। धर्म के सम्बन्ध में उनका कोई तात्त्विक उपयोग नहीं होता, एतावता उनकी प्रमाणिकता का कोई प्रश्न नहीं उठता। सफल काव्यनाटक के निर्माता की कीर्ति या उससे होनेवाला आर्थिक लाभ ही उसकी रचना का फल माना जा सकता है। अध्ययन करनेवाले को साहित्यिक निपुणता और साहित्य का ज्ञान प्राप्त होता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई धार्मिक उपयोग नहीं है। (सर्वे० नि० ८०)

शुद्धाद्वैत-वाङमय में जिन काव्य-नाटक-चम्पू आदि का निर्माण हुआ है वे संस्कृत-साहित्य के रत्न तो हैं ही, उनमें लोकसम्बन्धी वर्णन न होकर भक्ति-उपाख्यानों का समावेश है, अतः उनका विशेष महत्व है। वे एक प्रकार से वाणी को पावन करने और अन्तरात्मा को दिव्य आनन्द से विभोर करने के साधन-से हैं, वे स्तोत्र भी हैं और चरित्र भी। तावता भक्ति के उदय में उनका समावेश किया जा सकता है।

यद्यपि कतिपय स्तोत्र, स्तव, अष्टक आदि की परिगणना काव्यों में की जा सकती है, पर उनका उपयोग भक्ति के साधनाग रूप में किया जाता है। यह काव्य-आदि जिनका यहां परिचय दिया गया है, उस उपयोग में अन्तर्भूत नहीं हैं। यह प्रधानरूप से साहित्यिक आनन्द के प्रदाता हैं।

यह साहित्य निम्न लिखित विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है –

(क) भगवन्माहात्म्यादि-निरूपक। जिनमें श्रीहरि के कथा-चरित्र, स्वरूप और कार्य का वर्णन है।

(ख) साम्प्रदायिक ऐतिह्य-निरूपक। जिनमें सामूहिक रूप में इतिहास और आचार्य तथा विद्वानों के चरित्र, स्तुति है।

इन ग्रन्थों के नाम से ही उनका परिचय प्राप्त होजाता है अतः यह नामावली के साथ नहीं दिया जारहा है।

(क) भगवन्माहात्म्यादि-निरूपक साहित्य :-

गीतगोविन्द-विवृतिः- गो० श्रीविठ्ठलेश प्रभु० विरचित । अप्रकाशित (सर० भं० सं० ६१।२) इसकी प्रथमाष्टपदी-विवृति अपूर्ण । ले० सं० १८६९ पत्र ६ । भुवनेश्वरी पीठ गोंडल में सं० ७० पर विद्यमान है।

गीतगोविन्द-विवृतिः- गो० श्री व्रजपालजी रचित अप्रका० (सर० भं ६१ । २६ तथा ७४ । ४३ पर विद्यमान)

गीतगोविन्द व्याख्या-गूढार्थ दीपिका :—

रचयिता गोपाल भट्ट (उद्‌दामकवि दामोदर भट्टात्मज पंचनदि-वशज)।

इन्होंने गीतगोविन्द पर शु० सम्प्रदाय के भावानुसार टीका की रचना की है जो अहमदावादस्थ गो० श्रीव्रजरायजी महाराज द्वारा प्रदत्त ग्रन्थ-राशि में उपलब्ध हुई है। असावधानी से पुस्तक का प्रथम पत्र कुछ खंडित है, शेष ग्रन्थ १२६ पृष्ठों में लिखा है। *

गीतगोविन्द-व्याख्या- अज्ञात कर्तृक । अप्रका० । सर० भं० ८३, २ पर विद्यमान ।

" " विवृति- गुजराती टीका । अज्ञात कर्तृक । पत्र ५४, भुवने० पी० गोंडल सं० ७१ पर विद्यमान ।

---

* अहमदावादस्थ गो० श्रीव्रजरायजी महाराज द्वारा समर्पित गीतगोविन्द की एक और टीका उपलब्ध हुई है।

इसकी अन्तिम पुष्पिका और लेखन काल इस प्रकार है :-

" महामहोपाध्याय दिनेश्वर मिश्रात्मज श्रीशंकर मिश्र रचितायां शालिनाथ कारितायां गीतगोविन्द-टीकायां रसमंजरी नामधेयायां द्वादशः सर्गः । संवत् १८४८ श्रावण वदी एकादश्यां श्रीकांकरोली मध्ये कृष्णभट्टेन स्वावलोकनार्थं मलेखि ।

प्रलयपयोधि-जले- (गीतगोविन्द पद) इत्यस्य व्याख्या. गो० श्री वल्लभजी कृत अप्रका०। सर० सं० ६०, ११।०२

सरसिजनयने- इतिपदव्याख्या- गो० श्रीविठ्ठलेश्वर कृत. ले० सं० १८३५। पत्र ७ मु० पीठ गोंडल सं० २८५ पर विद्यमान।

भागवत-माहात्म्य-चन्द्रिका- क्षत्रिय कृष्णचन्द्र रचित। इसका प्रारंभ इस प्रकार है —

" पठनीय प्रयत्नेन श्रीभागवतमादरात्
इत्यालापयतो वन्दे स्वाचार्यप्रवरानहम्।"

इसके अन्त में इस प्रकार पुष्पिका है —

" श्रीमदाचार्यमाश्रित्य कृष्णचन्द्रो हि बाहुज
श्रीभागवत-माहात्म्य-चन्द्रिकां निर्ममे स्वयम्। "

अहमदाबादस्थ गो० श्रीव्रजरायजी महाराज द्वारा प्रदत्त ग्रन्थों में उपलब्ध।

रसाब्धि-महाकाव्यम्- गो० श्रीदेवकीनन्दनजी रचित. प्रका० तेलीवाला बबई।

अनिरुद्ध-विजय काव्यम्- गो० श्रीवल्लभजी (विठ्ठलेशात्मज) रचि अप्रका०।

अनिरुद्धोदय - गो० श्रीगोकुलनाथजी रचित अप्रका०। नटवरलाल मन्दिर अहमदाबाद सग्रह से प्राप्त।

मनोदूत काव्यम्- महेश इन्दिरेश रचित। प्रकाशित। तेलीवाल बबई। गुर्जरभाषानुवाद सहित।

हृदयदूत काव्यम्- देवर्षि हरिहरभट्ट रचित। अप्रकाशित। श्री मथुरानाथशास्त्री जयपुर के द्वारा विदित।

हृदयदूतकाव्य टीका- पद० श्रीगट्टूलालजी मा० मा० रचित कठोपनिषद् भूमिका में उल्लिखित। अप्रकाशित।

यमुना लहरी-काव्यम्- पद० श्रीगट्टूलालजी मा० मा० रचित भुवने० पीठ गोंडल सं० १९४ पर। ले० सं० १९३२।

कृष्णाभिसार काव्यम्- पद० श्रीगट्टू० रचित। स्मारक-संग्रहालय बम्बई में विद्यमान।

रुक्मिणी चम्पू – पण्ड० श्रीमदट्ट० रचित। स्मारक संग्रहालय बम्बई। रचना सं० १९४२ के पूर्व।

बालकृष्ण चम्पू – गो० श्रीजीवनेशजी महाराज रचित। ग्रन्थकार द्वारा प्रकाशित। बम्बई।

बालकृष्ण चम्पू-व्याख्या– पं० श्रीवैद्यनाथशास्त्रि रचित। मूल ग्रन्थ के साथ प्रका०।

श्लेषार्थ-विंशति – श्रीकन्हैयालालशास्त्रि रचित। अप्रकाशित।

सप्तस्वरूपान्नकूट प्रशस्ति – श्रीकन्हैयालालशास्त्रि रचित। अप्रकाशित। सर० भं० ११९, ५६।

रास-रसवर्णनम्– हरिभक्त रचित। ५ अध्याय। पूर्ण। अप्रकाशित। भुवनेश्वरी पीठ गोंडल सं० ५०९ पर विद्यमान।

कांकरोली- मन्दिरवर्णनम्–वैष्णव गणपति रचित। अप्रका० सर० भं० ८९, ६।

गंगास्तुति – प० श्रीगोविन्द भट्ट (नेत हरिकृष्णात्मज) रचित। अप्रकाशित। ७१ श्लोक। रचना सं० १९३३। पो० कंठमणिशास्त्री के संग्रह में विद्यमान।

भगवत्स्वलाप पीयूष भाषाटीका– कृष्णदास कृत। अप्रका०। भुव० पीठ गोंडल सं० १७४।

स्तुति-पारिजातम्– देवर्षि प० श्रीरमानाथ शास्त्रि रचित। प्रका० बा० शु० पुस्तकालय बम्बई।

प्रेमपयोधि – भक्त कवि नन्ददासकृत भ्रमरगीत का संस्कृत रूपान्तर। प० श्रीगिरिधर शर्मा नवरत्न रचित। प्रकाशित सरस्वती सदन झालरापाटन।

विजयेश नामार्धशतम्– रचयिता अमर कवि। अहमदाबादस्थ गो० श्रीव्रजरायजी द्वारा प्रदत्त साहित्य में प्राप्त (वि० विभाग काव० सं० २०१९)। राजराजेश्वर मत्स्यन्याधीश श्रीमहाराज विजयेशनाम्ना अर्धा शतम्। रचना सं १९४२। पूर्ण। पत्र ४८।

पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तानुसार कुछ प्रकीर्ण स्वतन्त्र श्लोकों की व्याख्याएं इस प्रकार है :-

'वेदानुद्धरते'- इति जयदेवकृत श्लोक-व्याख्यानम्-पो० श्री बालकृष्ण शास्त्रि कृत। अप्रकाशित। कंठमणि शा० के संग्रह में। पं० सं० २३ ग।

'श्रित कमलाकुच'- इति जयदेवकृत अष्टपदी-व्याख्यानम्। श्री बालकृष्ण शास्त्रि कृत पं० सं० २३ ग। अप्रका०

'नत्वा सरस्वतीं देवीं- इति लघुकौमुदीस्थ मंगलश्लोक-व्याख्या अप्रका० श्री बा० शा० कृत पं० सं० ४ क।

'वंशीविभूषित करात्'- इति श्लोक-विवरणम् श्री बा. शा. कृत अप्रका० पं० सं० २३ च और ३२ क।

'आश्लेषादनुचुम्बनात्'- इत्यत्र लेखः। अज्ञातकर्तृक। अप्रका० सर० मं० ६१-३५ तथा ७३-२०।

'जानीत परमं तत्त्वं'- इति श्लोक-हिन्दी व्याख्या। अज्ञात कर्तृक सर० मं० ६१-२५।

'एको देवः केशवो वा शिवो वा'-इति श्लोक-व्याख्या। अज्ञात कर्तृक। स० मं० ८२-७-१२।

(ख) ऐतिह्य निरूपक साहित्य :-

माधव-पत्रिका- श्रीमाधव भट्ट कृत...अप्रकाशित। अप्राप्त। श्री वल्लभाचार्य के चरित्र पर प्रकाश डालने वाले इस ग्रन्थ का परिचय श्रीकन्हैयालाल शास्त्रिरचित 'वल्लभ-दिग्विजय' की उपक्रमणिका में मिलता है, जिसमें इसे आधाररूप गिना गया है।

सम्प्रदाय- प्रदीप- श्रीगदाधरदास द्विवेदि रचित। प्रकाशित। रचना सं० १६१० इसमें पांच प्रकरण है। संस्कृत गद्यभाषा में-प्रमाण पुरस्सर प्रथम प्रकरण में प्रसंगोपात्त भक्ति, द्वि० प्र० में विष्णुस्वामिचरित, तृ० प्र० में सर्वसम्प्रदायोत्पत्ति, चतुर्थ में श्रीवल्लभाचार्य-चरित

और पचम में श्रीकृष्ण-स्वरूप सम्ह का निरूपण है। जिससे सम्प्रदाय की स्थिति पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

इसका संपादन प्राचीन प्रतियों के पाठभेद के आधार पर किया गया है।

सम्प्रदायप्रदीपालोक- उक्तग्रन्थ का हिन्दी भाषानुवाद पो० कंठमणि शास्त्रि रचित।

सम्प्रदाय-प्रदीप- गुजराती भाषानुवाद......पं० श्री जटाशंकर शास्त्रि रचित। उक्त तीनों ग्रन्थ 'विद्याविभाग' काकरोली द्वारा प्रकाशित है।

वल्लभ-दिग्विजय - (यदुनाथदिग्विजय) गो० श्रीयदुनाथजी विरचित।

वल्लभ-दिग्विजय - हिन्दी भाषानुवाद। साहित्याचार्य पं० श्री पुरुषोत्तमजी चतुर्वेद कृत। यह दोनों ग्रन्थ नाथद्वारा विद्याविभाग से प्रकाशित हैं।

वल्लभ-दिग्विजयः- गुजराती भाषानुवाद " " "

वल्लभ-दिग्विजय - श्रीकृष्णशास्त्रि (कन्हैयालालजी) विरचित।

वल्लभ दिग्विजय- हिन्दी भाषानुवाद। पं० शंकर दयालु मिश्र कृत।

यह दोनों ग्रन्थ अनुवादक द्वारा माधव बाग चन्द्रबाग बंबई से प्रकाशित हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ पं० श्रीगगाधरशास्त्रि-पुत्र श्री कन्हैयालालजी शास्त्री ने श्रीवल्लभाचार्य के चरित्र सम्बन्ध में लिखा है। मैने इस ग्रन्थ की मूल प्रति 'भक्ति-भण्डार' बीकानेर में बहुत समय पूर्व देखी थी, जो अब संभवतः गो० श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज सूरत के पास विद्यमान है। इस ग्रन्थका जो अंश प्रकाशित हुआ है वह केवल तीन प्रस्थान तक ही है, जिसमें श्रीवल्लभाचार्य का मथुरा-प्रवेश तक का ही वृत्तान्त है।

इसकी रचना 'सम्प्रदाय-प्रदीप', श्रीयदुनाथजी कृत 'दिग्विजय' और 'माधव-पत्रिका' आदि ग्रन्थों के आधार पर हुई है।

इस दिग्विजय में प्रारंभ में कवि का आत्म-परिचय और आगे दक्षिण देश और वहां का जाति-परिचय देते हुए श्रीवल्लभाचार्य के पूर्व पुरुषों तथा उनका संक्षिप्त इतिवृत्त दिया गया है- जो प्रादुर्भाव से लेकर भारत-परिक्रमण में मथुरा पधारने तक है।

इस की रचना 'शंकर-दिग्विजय' की प्रति-स्पर्द्धा में की गई है। तथापि भाषा भाव और काव्यात्मक वर्णनशैली की ओजपूर्णता से यह उससे न्यून नहीं है, यह स्पष्ट है। प्रकाशित अंश पद्यात्मक है।

इसका द्वितीय व्रजयात्रा-खंड अनुवाद सहित उक्त अनुवादक द्वारा पृथक् देवकीनन्दन प्रेस, बम्बई से प्रकाशित है।

वल्लभाख्यान-संस्कृत व्याख्या- गो० श्रीव्रजरायजी रचित। प्रकाशित। 'वल्लभाख्यान' गुजराती भाषा में श्री विठ्ठलेश्वर प्रभुचरण के सेवक श्रीगोपालदासजी का रचित है जो - अनेक स्थानों से प्रकाशित है और गुर्जरवैष्णवों द्वारा प्रतिदिन स्तोत्ररूप में गाया जाता है।

यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है जिस की गुजराती भाषा पर संस्कृत व्याख्या की गई है।

वल्लभाख्यान-विवृतिः- गो०श्रीद्वारकेशजी रचित। अप्रकाशित। सर० मं० ७३। ४९ और एक प्रति अज्ञात कर्तृक सं० ७२। २ पर विद्यमान।

वल्लभाख्यान टीका- गो० श्रीव्रजाभरण दीक्षित रचित। इसकी एक प्रति ले० सं० १८५० पत्र ४० भुव० पीठ गोंडल में सं० २२८ पर विद्यमान है।